वैदिक दर्शन

पद्मश्री डॉ. कपिलदेव द्विवेदी

विश्वभारती अनुसंधान परिषद्
ज्ञानपुर (भदोही)

वैदिक दर्शन
(VEDIC PHILOSOPHY)

(वेदामृतम् भाग ३१ से ३५)

लेखक
पद्मश्री डॉ० कपिलदेव द्विवेदी
निदेशक
विश्वभारती अनुसंधान परिषद्
ज्ञानपुर (भदोही)

विश्वभारती अनुसंधान परिषद्
ज्ञानपुर (भदोही)

वैदिक दर्शन

(VEDIC PHILOSOPHY)

(वेदामृतम् भाग ३१ से ३५)

लेखक

पद्मश्री डॉ० कपिलदेव द्विवेदी

निदेशक

विश्वभारती अनुसंधान परिषद्

ज्ञानपुर (भदोही)

विश्वभारती अनुसंधान परिषद्

ज्ञानपुर (भदोही)

VEDIC DARSHANA

(VEDIC PHILOSOPHY)

By:

Dr. K.D. DVIVEDI

प्रथम संस्करण : २००४ ई०

मूल्य : १५०.०० रुपये (पेपर बैक)
२५०.०० रुपये (सजिल्द)

ISBN : 81-85246-43-2

कंपोजिंग :
ओम् कम्प्यूटर्स,
शान्ति निकेतन, ज्ञानपुर (भदोही)

प्रकाशक :
विश्वभारती अनुसंधान परिषद्
ज्ञानपुर (भदोही) उ०प्र० (पिन २२१३०४)

मुद्रक :
सुरभि प्रिन्टर्स
इंडियन प्रेस कालोनी, मलदहिया, वाराणसी

प्राक्कथन

वेद आर्यजाति के प्राण हैं । ये मानवमात्र के लिए प्रकाश-स्तम्भ हैं । विश्व को संस्कृति और सभ्यता का ज्ञान देने का श्रेय वेदों को है । वेद ही विश्व-बन्धुत्व, विश्व-कल्याण और विश्व-शान्ति के प्रथम उद्घोषक हैं । वेदों से ही आर्य -संस्कृति का विकास हुआ है, जो विश्व को धर्म, ज्ञान, विज्ञान, आचार-विचार और सुख-शान्ति की शिक्षा देकर उसकी समुन्नति का मार्ग प्रशस्त करती है ।

वेदों के विषय में मनु महाराज का यह कथन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि 'सर्वज्ञानमयो हि सः' (मनु० २.७) अर्थात् वेदों में सभी विद्याओं के सूत्र विद्यमान हैं । वेदों में जहाँ धर्म, विज्ञान, दर्शन, आचारशास्त्र, नीतिशास्त्र, आयुर्वेद, राजनीतिशास्त्र, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि से संबद्ध सामग्री प्रचुर मात्रा में मिलती है, वहीं दर्शनशास्त्र और अध्यात्म से संबद्ध सामग्री भी सैकड़ों मंत्रों में प्राप्य है । प्रस्तुत ग्रन्थ में इसका ही विवेचन और विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है ।

धर्म, दर्शन और अध्यात्म-विज्ञान का आदि-प्रवर्तक भारतवर्ष ही है । भारतवर्ष से ही इन विषयों का विस्तार विश्व भर में हुआ है । दर्शन और अध्यात्म ज्ञान के लिए सारा विश्व भारत का ऋणी है । इन विषयों का जितना गम्भीर मनन और चिन्तन भारत में हुआ है, उतना अन्यत्र नहीं । दर्शनशास्त्र विश्व की अमूल्य निधि है ।

वेदो में दर्शन और अध्यात्म से संबद्ध सामग्री बहुत बिखरी हुई है । उसका विषयानुसार क्रमबद्ध संकलन अतिक्लिष्ट कार्य है । मैंने प्रयत्न किया है कि दर्शनशास्त्र से संबद्ध समस्त सामग्री क्रमबद्ध रूप में एकत्र करके प्रस्तुत की जाए । विषय से संबद्ध कोई सामग्री छूटने न पावे ।

विषय की दृष्टि से समस्त सामग्री को १३ अध्यायों में बांटा गया है । इनमें इन विषयों का विवेचन है :-

अध्याय १ - भूमिका में दर्शनशास्त्र के उद्भव और विकास का विवरण दिया गया है । साथ ही भारतीय दर्शनों की विशेषताएं और प्रमुख आचार्यों का विवरण है ।

अध्याय २ - इसमें विराट् और पुरुष का स्वरूप, विविध रूप, सर्वदेवमयत्व एवं उसकी प्राप्ति के उपायों का वर्णन है ।

अध्याय ३ - इसमें ब्रह्म का स्वरूप, ब्रह्म के विविध रूप और उसकी प्राप्ति के साधनों का विवेचन है ।

अध्याय ४ - इसमें ब्रह्म के स्कम्भ, उच्छिष्ट, रोहित, अनड्वान् और व्रात्य आदि रूपों का विस्तृत विवेचन है ।

अध्याय ५ - इसमें ईश्वर का स्वरूप, सृष्टि-कर्तृत्व, हंस, माया और अविद्या आदि का वर्णन है ।

अध्याय ६ – इसमें ईश्वर और जीवात्मा का संबन्ध, जीवात्मा का स्वरूप, जीवात्मा के गुण-कर्म, पुनर्जन्म सिद्धान्त और कर्म-मीमांसा का विवेचन है ।

अध्याय ७ – इसमें प्रकृति का स्वरूप, प्रकृति के गुण-धर्म, सूक्ष्म शरीर आदि का वर्णन है ।

अध्याय ८ – इसमें एकेश्वरवाद और त्रैतवाद तथा एकदेवतावाद और बहुदेवतावाद का वर्णन है । साथ ही देवों का स्वरूप, देवों के भेद, देवों के निवास-स्थान एवं देवों की संख्या आदि का विस्तृत विवेचन है ।

अध्याय ९ – इसमें मन का स्वरूप, मन के गुण-कर्म, मन और बुद्धि का समन्वय, शिवसंकल्प, पाप के कारण आदि का विवेचन है ।

अध्याय १० – इसमें कर्ममीमांसा, वाक्तत्त्व, काल का महत्त्व, श्रेय और प्रेय आदि दार्शनिक विचारों का विवेचन है ।

अध्याय ११ – इसमें मधुविद्या, प्राणविद्या, ब्रह्मविद्या, ब्रह्मौदन, पंचौदन आदि आध्यात्मिक विद्याओं का वर्णन है ।

अध्याय १२ – इसमें सृष्टि-उत्पत्ति का वर्णन है ।

अध्याय १३ – इसमें ईश्वर-प्राप्ति के विभिन्न साधनों का वर्णन है ।

मैंने प्रयत्न किया है कि दर्शनशास्त्र जैसे गूढ़ विषय को अत्यन्त सरल भाषा में प्रस्तुत किया जाए । आवश्यक सभी संदर्भ पूर्ण विवरण के साथ पाद-टिप्पणी में दिये गये हैं । उपयोगिता की दृष्टि से ग्रन्थ के अन्त में विस्तृत निर्देशिका (इन्डेक्स) भी दी गई है ।

मैंने मन्त्रार्थ के विषय में महर्षि पतंजलि के इस वैज्ञानिक मन्तव्य को अपनाया है कि **'यच्छब्द आह तदस्माकं प्रमाणम्'** (महाभाष्य, आह्निक १) अर्थात् जो शब्द कहता है, वह हमारे लिए प्रमाण है । मंत्र के पाठ से जो अर्थ स्वयं प्रस्फुटित होता है, उस अर्थ को ही अपनाया गया है ।

आशा है यह ग्रन्थ वेदप्रेमी पाठकों एवं प्रबुद्ध जनों को रुचिकर होगा । ग्रन्थ के विषय में आवश्यक संशोधन आदि के परामर्श सधन्यवाद स्वीकार किये जायेंगे ।

ज्ञानपुर (भदोही)
८.११.२००३ ई०
(कार्तिक पूर्णिमा, २०६० वि०)

—डॉ० कपिलदेव द्विवेदी

विषय-सूची

(सूचना - अंक पृष्ठबोधक हैं)

वैदिक दर्शन

अध्याय १

भूमिका १-१५

अध्याय २

विराट् और पुरुष १६-२७

अध्याय ३

अध्याय ४

अध्याय ६

जीवात्मा

अध्याय ७

प्रकृति

अध्याय ९

मनोविज्ञान

अध्याय ११

आध्यात्मिक विद्याएं १६५-१८३

अध्याय १२

सृष्टि-उत्पत्ति १८४-१९४

अध्याय १३

ईश्वर-प्राप्ति के साधन १९५-२१२

***

वैदिक दर्शन

(VEDIC PHILOSOPHY)

ओम्

वैदिक दर्शन

अध्याय १

भूमिका

१. दर्शन का अर्थ

दर्शन शब्द संस्कृत की दृश् (देखना) धातु से ल्युट् (अन) प्रत्यय करके बनता है। 'दृश्यते अनेन इति दर्शनम्' जिसके द्वारा देखा जाय, अर्थात् वह शास्त्र, विद्या या विधि जिससे गूढ़, रहस्यात्मक अव्यक्त एवं व्यक्त तत्त्वों को देखा जाय, जाना जाय एवं प्रत्यक्ष किया जाय, उसे दर्शन कहते हैं । अतः दर्शनशास्त्र का अभिप्राय होता है -गूढ़ तत्त्वों का वैज्ञानिक या योगज दृष्टि से देखना, प्रत्यक्ष करना और उसका प्रतिपादन करना । दर्शन शब्द का धीरे-धीरे बहुत व्यापक अर्थ में प्रयोग होने लगा और इसमें मानव-जीवन से सम्बद्ध प्रायः सभी विषयों का समावेश होने लगा ।

फिलॉसफी (Philosophy) - इंग्लिश् में दर्शन के लिए फिलॉसफी (Philosophy) शब्द का प्रयोग होता है । फिलॉसफी शब्द ग्रीक Philos (Loving, प्रिय, सुन्दर) और Sophy, ग्रीक शब्द Sophia (Skill, Wisdom, Science, विज्ञान, विद्या) शब्दों के योग से बनता है । इसका अर्थ है- मानव-जीवन से सम्बद्ध ज्ञान और विज्ञान के गूढ़ रहस्यात्मक तत्त्वों का वैज्ञानिक एवं तार्किक विश्लेषण, विवेचन एवं परीक्षण के द्वारा तात्त्विक ज्ञान प्राप्त करना ।

आधुनिक विचारकों ने दर्शनशास्त्र में इन विषयों का समावेश किया है -

१. **Metaphysics (मेटाफिजिक्स, तत्त्वमीमांसा)**- इसमें प्राकृतिक और मानसिक तत्त्वों की सत्ता या असत्ता का विवेचन किया जाता है । इस दृष्टि से दार्शनिकों के ये विभिन्न मत प्रचलित हैं-भौतिकवादी (Materialist), प्रत्ययवादी (Idealist), द्वैतवादी (Dualist) और वास्तववादी (Realist).

२. **Epistemology (एपिस्टमोलॉजी, ज्ञानमीमांसा)**- इसका विषय है- ज्ञान की विवेचना । ज्ञान की उत्पत्ति, ज्ञान की प्रकृति, ज्ञान का स्वरूप, ज्ञान की प्रामाणिकता एवं सत्यासत्य का निर्णय आदि ।

३. **Logic (लॉजिक, तर्कशास्त्र)**- इसमें ज्ञान की व्यावहारिक प्रक्रिया का विवेचन होता है । तर्क की प्रामाणिकता के लिए कुछ विशिष्ट नियमों का पालन करना

आवश्यक होता है । इसके दो विभाग हैं - (क) **आगमन विधि** - सामान्य से विशेष का अनुसंधान करना, (ख) **निगमन विधि** - विशेष दृष्टान्तों से सामान्य नियमों का खोजना। आगमन में बौद्धिक सत्यता अपेक्षित होती है और निगमन में भौतिक सत्यता ।

४. **Ethics** (**एथिक्स, आचारमीमांसा, कर्तव्यमीमांसा**) - मानवमात्र के जीवन को उपयोगी बनाने के लिए उपयोगी कर्तव्यों का विधान किया जाता है और जीवन को नष्ट या भ्रष्ट करने वाले दुर्गुणों आदि को छोड़ने की शिक्षा दी जाती है ।

५. **Aesthetics** (**एस्थेटिक्स, सौंदर्यमीमांसा**) - इसमें सौन्दर्य का शास्त्रीय विवेचन होता है । इसके दो विभाग हैं - (क) **सौंदर्य-निर्णय**- इसमें सौंदर्य की तात्त्विक व्याख्या प्रस्तुत की जाती है । (ख) **व्यावहारिक सौंदर्य** - इसमें सौंदर्य के कलापक्ष का विवेचन होता है ।

६. **Psychology** (**साइकोलॉजी, मनोविज्ञान**) - इसमें मन और बुद्धि के क्रियाकलाप का विवेचन होता है । मन क्या है ? बुद्धि क्या है ? ये कैसे अपना कार्य करते हैं ? आदि का विवेचन किया जाता है । इसमें स्मरण, विस्मरण, कल्पना, संवेदना, चेतना, बुद्धि, प्रेरणा, शिक्षण, प्रत्यक्षीकरण, चिन्तन और अनुभूति आदि का विशिष्ट अध्ययन किया जाता है ।

२. दर्शनशास्त्र का महत्त्व एवं उसकी उपयोगिता

दर्शनशास्त्र का शास्त्रीय, सामाजिक, धार्मिक एवं आचारशास्त्रीय दृष्टि से बहुत अधिक महत्त्व है । यह जीवन का मार्गदर्शक है, अन्धकार में प्रकाश है । यह जीवन में आशा और उत्साह का संचार करता है । यह जीवन की नश्वरता की शिक्षा देकर परमार्थ की ओर अग्रसर करता है । आत्मा की अमरता का संदेश देकर अजेयता, अधृष्यता, निर्भयता और साहसिकता का संचार करता है । मानवमात्र में एक ही आत्मतत्त्व की सत्ता का प्रतिपादन कर विश्व-बन्धुत्व और विश्वप्रेम की शिक्षा देता है । जीवन की उपयोगिता के लिए सामाजिक चेतना को उद्‌बुद्ध कर समाज-सेवा, सह-अस्तित्व, संगठन, सांमनस्य, परहित-चिन्तन और परोपकार की उदात्त शिक्षा देता है । सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय और अपरिग्रह की शिक्षा देकर मानव के नैतिक मूल्यों को प्रतिष्ठित कर मानव को एक आदर्श नागरिक बनाता है । स्वाध्याय की उपयोगिता पर बल देकर मानव को मननशील, चिन्तक और विचारक बनाता है । तप, धारणा और ध्यान की उपयोगिता बताकर जीवन के लक्ष्य आत्मज्ञान, तत्त्वज्ञान और मोक्ष की प्राप्ति के लिए मार्ग प्रशस्त करता है ।

दर्शनशास्त्र की उपयोगिता है - मानव जीवन का मार्गदर्शन । मानवमात्र की भौतिक, मानसिक और बौद्धिक समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करना दर्शनशास्त्र का लक्ष्य है । अतएव इस शास्त्र का सम्बन्ध आचारशास्त्र, धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र, आयुर्वेद एवं ज्ञान-विज्ञान की विभिन्न शाखाओं से है । जीवन की ऐसी कोई समस्या नहीं है, जिसका समाधान दर्शनशास्त्र में प्रस्तुत न किया गया हो । विश्व के सभी दार्शनिकों का अभिमत रहा

है कि विश्व को किस प्रकार सुखी, समुन्नत, विकासशील, दुःख-दारिद्र्य एवं अभाव से मुक्त रखें। इसके लिए ही उन्होंने अनेक शास्त्रीय एवं धार्मिक मान्यताएं प्रस्तुत की हैं। इस दृष्टि से दर्शनशास्त्र की उपयोगिता अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

३. दर्शनशास्त्र के प्रतिपाद्य विषय

दर्शनशास्त्र एक सर्वग्राही विधा है, जिसमें जीवन के सर्वांगीण विकास के लिए व्यापक दृष्टिकोण से विचार किया जाता है। इसलिए दर्शनशास्त्र बहु-उद्देश्यीय शास्त्र, विधि या विधा है। दर्शनशास्त्र में ब्रह्म, ईश्वर, जीवात्मा, देवताओं का स्वरूप, देवों के गुण-कर्म, मन और बुद्धि के कार्यकलाप, कर्ममीमांसा, सृष्टि की उत्पत्ति, लोक-परलोक, स्वर्ग-नरक, पुनर्जन्म, प्रकृति, ५महाभूतों की उत्पत्ति और क्रियाकलाप, जीवन-मृत्यु, दिग्-देश-काल-मीमांसा, संसार का सुखात्मक या दुःखात्मक स्वरूप, मोक्ष या मुक्ति, मोक्ष-प्राप्ति के साधन, अभ्युदय के साधन, मनोविज्ञान, स्वप्न-विज्ञान आदि का विवेचन होता है।

यदि भारतीय ६ दर्शनों को प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से देखें तो कह सकते हैं कि इन ६ दर्शनों में मुख्य रूप से ये विषय वर्णित हैं :-

१. **न्यायदर्शन**- इसके रचयिता गोतम मुनि हैं। इसमें मुख्य रूप से तर्कशास्त्र का विवेचन है। इसमें प्रत्यक्ष अनुमान, उपमान, शब्द के विवेचन के अतिरिक्त हेत्वाभास का विस्तृत वर्णन है। यह कार्य-कारण सिद्धान्त को मानता है। अपवर्ग को मानता है।

२. **वैशेषिकदर्शन**- इसके रचयिता महर्षि कणाद हैं। इसमें तत्त्वमीमांसा है। इसमें सृष्टि की उत्पत्ति का विवेचन है। यह परमाणुवाद का समर्थक है। अभ्युदय और निःश्रेयस (मोक्ष) के साधन को धर्म मानता है। तत्त्वज्ञान को मुक्ति का साक्षात् कारण मानता है।

३. **सांख्यदर्शन** -इसके रचयिता कपिल मुनि हैं। इसमें ज्ञानमीमांसा और तत्त्वमीमांसा है। प्रकृति और पुरुष को नित्य मानता है। प्रकृति के ही विकार ५ महाभूत, मन, बुद्धि, अहंकार, ज्ञानेन्द्रियां और कर्मेन्द्रियाँ हैं। सृष्टि त्रिगुणात्मक है। सत्त्व, रजस्, तमस् इन तीन गुणों की सत्ता है। सत्कार्यवाद या कार्य-कारण-सिद्धान्त का समर्थक है। वास्तववादी है। सृष्टि का अस्तित्व मानता है। विवर्तवाद के स्थान पर परिणामवाद का समर्थक है। अहिंसा, अपवर्ग, जीवन्मुक्ति मानता है।

४. **योगदर्शन** - इसके रचयिता महर्षि पतंजलि हैं। इसमें तत्त्वमीमांसा के साथ ही मनोविज्ञान भी है। इसमें ईश्वर की सत्ता का प्रतिपादन है। यम और नियमों में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच, सन्तोष और तप आदि का विवेचन होने से इसमें आचारमीमांसा है। धारणा, ध्यान और समाधि के विवेचन से इसमें मनोविज्ञान है।

५. **मीमांसादर्शन** - इसके रचयिता महर्षि जैमिनि हैं। इसमें ज्ञानमीमांसा, तत्त्वमीमांसा, आचारमीमांसा और मनोविज्ञान का समन्वय है। यह ज्ञानमीमांसा में अनुमान,

उपमान और शब्द के अतिरिक्त अर्थापत्ति और अभाव (अनुपलब्धि) को भी प्रमाण मानकर ६ प्रमाण मानता है । वेदों को स्वत:प्रमाण मानता है । तत्त्वमीमांसा में द्रव्य,गुण, कर्म, सामान्य, शक्ति आदि ८ पदार्थों की सत्ता मानता है । अणुवाद को मानते हुए सृष्टि को नित्य मानता है । आत्मा कर्ता और भोक्ता दोनों है । आचारमीमांसा में धर्म का विस्तृत विवेचन है । सदाचार और आत्मतुष्टि धर्म के निर्णायक तत्त्व हैं । इसमें यज्ञ की विस्तृत व्याख्या की गई है । यह ईश्वर की सत्ता मानता है । इसमें मोक्ष की विस्तृत व्याख्या की गई है ।

६. **वेदान्तदर्शन** - इसके रचयिता महर्षि व्यास हैं । इसमें तत्त्वमीमांसा और आचारमीमांसा मुख्य रूप से हैं । वेदान्तदर्शन के सूत्रों को 'ब्रह्मसूत्र' कहते हैं, अत: ग्रन्थ का नाम 'ब्रह्मसूत्र' भी है । ब्रह्मसूत्र के १० भाष्यकार हैं । इसमें विशेष प्रसिद्ध आचार्य हैं- १. शंकराचार्य - ये अद्वैत (निर्विशेषाद्वैत) मत के प्रतिपादक हैं । २. रामानुजाचार्य-ये विशिष्टाद्वैत मत के प्रतिपादक हैं । ३. मध्वाचार्य (आनन्दतीर्थ)- ये द्वैत मत के प्रतिपादक हैं ।

वेदान्तदर्शन में तत्त्वमीमांसा में परमार्थ सत्ता केवल ब्रह्म है । यह संसार मायारूप है, अनित्य है, भंगुर है । आत्मा, परमात्मा और ब्रह्म एक ही तत्त्व हैं । ब्रह्म निर्विकार, निरुपाधि और निर्विकल्प है । वह निर्गुण है । परमेश्वर की बीज शक्ति का नाम 'माया' है। माया त्रिगुणात्मक अविद्यारूप भाव-पदार्थ है । यह अभावरूप नहीं है । अविद्या के आवरण के कारण ईश्वर से त्रिगुणात्मक जगत् की सृष्टि होती है ।

आत्मा स्वयंसिद्ध, ज्ञानरूप और अद्वैत है । वेदान्त ईश्वर को जगत् का उपादान कारण मानता है । शरीर में विद्यमान आत्मा को ही जीवात्मा कहते हैं । यह शरीर और इन्द्रियसमूह का अध्यक्ष है तथा कर्मफल का भोक्ता है । वेदान्त में शरीर के तीन रूप माने गये हैं - स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर । तीन अवस्थाएं मानी गई हैं - जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति । पांच कोश हैं -१. अन्नमय, २. प्राणमय, ३. मनोमय, ४. विज्ञानमय, ५. आनन्दमय । सत्ता भी तीन प्रकार की मानी गई है - १. प्रातिभासिक (प्रतीत होने वाली), २. व्यावहारिक (व्यवहार में होने वाली), ३. पारमार्थिक (वास्तविक)। वेदान्तदर्शन परिणामवाद (वास्तविक परिवर्तन) के स्थान पर विवर्तवाद (अतात्त्विक परिवर्तन) को मानता है । दूध का दही के रूप में परिवर्तन परिणामवाद है और रस्सी में सर्प की सत्ता मानना विवर्तवाद है ।

आचारमीमांसा में ज्ञानमार्ग और कर्ममार्ग, ज्ञाननिष्ठा या कर्मनिष्ठा, ज्ञानयोग और कर्मयोग का विवेचन है । कर्ममार्ग प्रवृत्ति मार्ग है । यह अभ्युदय की ओर ले जाता है । ज्ञानमार्ग या ज्ञानयोग निवृत्तिमार्ग है । यह संसार के प्रति विरक्ति उत्पन्न करके मोक्ष की ओर ले जाता है ।

४. भारतीय दर्शनों का विकास

भारतीय दर्शनों के विकास के चार सोपान हैं । प्रथम सोपान में वैदिक संहिताएं हैं। इनमें दार्शनिक चिन्तन का प्रारम्भ है । ये दर्शनशास्त्र के मूल स्रोत (उत्स) हैं । द्वितीय सोपान में ब्राह्मण और आरण्यक ग्रन्थ हैं । इनमें ब्रह्म, परमात्मा, जीवात्मा, सृष्टि आदि के दार्शनिक रूपों का कुछ विस्तृत मनन चिन्तन है । तृतीय सोपान में उपनिषद् ग्रन्थ हैं । इनमें दार्शनिक तत्त्वों का विशद वर्णन है । चतुर्थ सोपान में सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा और वेदान्त दर्शन हैं । इनमें दर्शनशास्त्र के किसी एक विशेष अंग का सांगोपांग वर्णन और विवेचन है । इसकी ही संक्षिप्त रूपरेखा यहां दी जा रही है । इनका विस्तृत विवेचन आगे के अध्यायों में यथास्थान किया गया है ।

(१) वैदिक संहिताएं

(क) ऋग्वेद - ऋग्वेद के अनेक सूक्तों में दार्शनिक विषयों का विवेचन है । इनमें विशेष उल्लेखनीय सूक्त ये हैं -

१. विष्णु सूक्त (१.१५४.१ से ६), २. अस्य वामीय सूक्त (१.१६४. १ से ५२),
३. पुरुष सूक्त (१०.९०. १ से १६), ४. हिरण्यगर्भ सूक्त (१०.१२१.१से १०),
५. वाक् सूक्त (१०.१२५. १ से ८), ६. नासदीय सूक्त (१०.१२९.१ से ७),
७. श्रद्धा सूक्त (१०.१५१. १ से ५), ८. भाववृत्त सूक्त (१०.१९०. १से ३),
९. संज्ञान सूक्त (१०.१९१. १ से ४) ।

इन सूक्तों में वर्णित विषयों आदि का विवेचन आगामी अध्यायों में यथास्थान किया गया है ।

(ख) यजुर्वेद- यजुर्वेद के अनेक अध्यायों में दार्शनिक विषयों का विवेचन हुआ है । इनमें विशेष उल्लेखनीय ये हैं -

१. रुद्राध्याय (१६.१ से ६६), २. पुरुष सूक्त (अ० ३१.१ से २२),
३. पुरुष सूक्त (३२.१ से १६), ४. शिवसंकल्प सूक्त (३४.१ से ६),
५. शान्ति सूक्त (३६.१ से २४), ६. ईशोपनिषद् (४०.१ से १७),

(ग) अथर्ववेद - अथर्ववेद में दर्शनशास्त्रीय सामग्री सबसे अधिक है । इसके आधार पर ही उपनिषदों और दर्शन ग्रन्थों में विभिन्न सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचन हुआ है। अथर्ववेद का एक नाम 'ब्रह्मवेद' भी है । इसका अभिप्राय यह है कि इस वेद में ब्रह्म और आध्यात्मिक विषयों का बहुत अधिक वर्णन है । इसमें विशेष उल्लेखनीय सूक्त ये हैं -

१. ब्रह्मविद्या या अध्यात्म - इन सूक्तों में ब्रह्म, ईश्वर, जीव, प्रकृति आदि का विस्तृत वर्णन है । ब्रह्म का अनेक नामों से अनेक रूपों में वर्णन है ।

उच्छिष्ट ब्रह्म (११.७. १ से २७), स्कम्भ ब्रह्म (१०.७.१ से ४४), ज्येष्ठ ब्रह्म (१०.८.१ से ४४), अनड्वान् ब्रह्म (४.११.१ से १२), विराट् (८.९. १ से २६। ८.१०.१ से ३०),

महद् ब्रह्म (१.३२.१ से ४), ब्रह्म, आत्मा (२.१.१ से ५), भुवनपति सूक्त (२.२.१ से ५), रोहित ब्रह्म (१३.१.१ से ६०), व्रात्य ब्रह्म (१५. सूक्त १ से १८, मंत्र २३०) ।

२. अध्यात्म - ब्रह्मविद्या (४.१.१ से ७), आत्मविद्या (४.२.१ से ८), विश्वस्त्रष्टा (६.६१.१ से ३), ब्रह्मविद्या (५.६.१ से १४), आत्मा (५.९.१ से ८), अध्यात्म (१३ सूक्त २ से ९, १२८ मंत्र), अध्यात्म (११.८.१-३४) ।

३. मधुविद्या (१.३४. १-५ । ९.१.१ से २४)

४. काम (९.२. १ से २५ । १९.५२.१ से ५)

५. काल सूक्त (१९.५३ और ५४ सूक्त, मंत्र १५)

(२) ब्राह्मण और आरण्यक ग्रन्थ

वेदों के आध्यात्मिक और रहस्यात्मक अर्थों को जानने के लिए ब्राह्मण और आरण्यक ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं । ब्राह्मणग्रन्थों में वेदों की विस्तृत व्याख्या है । ये टीका-ग्रन्थ समझने चाहिएं । आरण्यक ग्रन्थों में वेदों के अध्यात्म पक्ष की विस्तृत व्याख्या है । ऋषियों ने ब्रह्म, ईश्वर, जीव, प्रकृति आदि के विषय में अरण्य (वन) में रहते हुए जो गहन मनन-चिन्तन किया, उसका संकलन ही आरण्यक ग्रन्थ हैं ।

ब्राह्मण ग्रन्थ वेदों से संबद्ध हैं । चारों वेदों के मुख्य ब्राह्मण ग्रन्थ ये हैं -

(क) ऋग्वेदीय ब्राह्मण - १. ऐतरेय ब्राह्मण, २. शांखायन (कौषीतकि) ब्राह्मण।

(ख) शुक्ल यजुर्वेदीय - शतपथ ब्राह्मण ।

(ग) कृष्ण यजुर्वेदीय- तैत्तिरीय ब्राह्मण ।

(घ) सामवेदीय - तांड्य (पंचविंश) ब्राह्मण, सामविधान, जैमिनीय ब्राह्मण ।

(ङ) अथर्ववेदीय -गोपथ ब्राह्मण ।

आरण्यक ग्रन्थ प्राय: ब्राह्मण ग्रन्थों के अन्तिम भाग हैं । ये भी चारों वेदों से संबद्ध हैं । मुख्य आरण्यक ग्रन्थ ये हैं :

(क) ऋग्वेदीय - १. ऐतरेय आरण्यक, २. शांखायन आरण्यक ।

(ख) शुक्ल यजुर्वेदीय - बृहदारण्यक ।

(ग) कृष्ण यजुर्वेदीय - तैत्तिरीय आरण्यक ।

(घ) सामवेदीय - तलवकार आरण्यक ।

(ङ) अथर्ववेदीय - गोपथ ब्राह्मण के कुछ ब्रह्मविद्या सम्बन्धी अंश ।

ब्राह्मण ग्रन्थों में वैदिक पारिभाषिक शब्दों का स्पष्टीकरण है । जैसे -ऋत, सत्य, ब्रह्म, वरुण, अश्विनौ, सोम, संभूति, सुपर्ण, शक्वरी, जातवेदस् आदि । जैसे - ऋत शब्द ब्रह्म और ओम् (ईश्वर) का बोधक है । द्यावापृथिवी अश्विनी हैं । विष्णु शब्द का अर्थ यज्ञ भी है ।

(क) ब्रह्म वा ऋतम् । शत० ब्रा० ४.१.४.१०
(ख) 'ओम्' इत्येतदेवाक्षरम् ऋतम् । जैमि० उप० ब्रा० ३.३६.५
(ग) द्यावापृथिवी प्रत्यक्षम् अश्विनौ । शत० ब्रा० ४.१.५.१६
(घ) विष्णुर्वै यज्ञः । ऐत० १.१५

(३) उपनिषद् ग्रन्थ

श्री शंकराचार्य ने उपनिषद् का अर्थ ब्रह्मविद्या माना है । उपनिषदों की संख्या के विषय में पर्याप्त मतभेद है । इनकी संख्या १०८ से लेकर २०० तक मानी जाती है । मुक्तिक उपनिषद् में उपनिषदों की संख्या १०८ मानी गयी है और वेदों के अनुसार इनकी संख्या, नाम, शान्तिपाठ आदि दिये गये हैं ।

वेद	संबद्ध उपनिषदें	संख्या
(क) ऋग्वेद	ऐतरेय, कौषीतकि आदि	१०
(ख) शुक्ल यजुर्वेद	ईश, बृहदारण्यक आदि	१९
(ग) कृष्ण यजुर्वेद	कठ, तैत्तिरीय आदि	३२
(घ) सामवेद	केन, छान्दोग्य आदि	१६
(ङ) अथर्ववेद	प्रश्न, मुण्डक आदि	३१

श्री वी० वरदाचार्य ने अपने 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' में दार्शनिक विषयों के अनुसार इन १०८ उपनिषदों का इस प्रकार वर्गीकरण किया है ।

विषय	संख्या	प्रमुख उपनिषदें
१. वेदान्त	२४	कौषीतकि, मैत्रायणी, आत्म, सूर्य
२. योग	२०	अमृतनाद, तेजोबिन्दु, ब्रह्मविद्या
३. सांख्य	१७	शारीरक, याज्ञवल्क्य, ब्रह्म, जाबाल
४. वैष्णव मत	१४	नारायण, कृष्ण, रामतापिनी, वासुदेव
५. शैव मत	१५	अथर्वशिखा, कैवल्य, जाबालि
६. शाक्त आदिमत	१८	गायत्री, आथर्वण, श्रीचक्र

प्रामाणिक उपनिषदें - श्री शंकराचार्य ने १० उपनिषदों को प्रामाणिक मानकर उनका पांडित्यपूर्ण भाष्य लिखा है । मुक्तिक उपनिषद् में भी 'दशोपनिषदं पठ' (१.२७) के द्वारा १० उपनिषदों को प्रामाणिक माना गया है और इनके नाम गिनाए गए हैं :

ईश-केन- कठ-प्रश्न-मुण्ड-माण्डूक्य-तित्तिरिः ।
ऐतरेयं च छान्दोग्यं बृहदारण्यकं दश ।। मुक्तिक० १.३०

इन १० प्रामाणिक उपनिषदों में ये १० उपनिषदें आती हैं - ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य और बृहदारण्यक । इनके अतिरिक्त श्वेताश्वतर, कौषीतकि और मैत्रायणीय उपनिषदें भी प्रामाणिक मानी जाती हैं । श्री शंकराचार्य ने अपने

भाष्य में श्वेताश्वतर और कौषीतकि उपनिषदों के भी उद्धरण दिए हैं । अतः इन तीनों को लेकर मुख्य उपनिषदों की संख्या १३ मानी जाती है ।

श्री ह्यूम (Hume) ने १३ उपनिषदों को मुख्य मानते हुए, इनका अंग्रेजी में अनुवाद किया है । इनमें पूर्वोक्त १० के अतिरिक्त श्वेताश्वतर, कौषीतकि और मैत्रायणीय उपनिषदें भी हैं ।

(४) उपनिषदों में दार्शनिक विवेचन

उपनिषदों में वेदोक्त दार्शनिक तत्त्वों का व्यवस्थित रूप प्राप्त होता है । इनमें मुख्य रूप से ये दार्शनिक तत्त्व प्राप्त होते हैं :-

१. ब्रह्म का स्वरूप- ब्रह्म नित्य है, उसमें आकाश ओत-प्रोत है । वह न स्थूल है, न सूक्ष्म, न लघु है, न गुरु । वह रस-गन्ध आदि से रहित है, उसके आँख-कान आदि नहीं है ।

अस्थूलम् , अनणु, अह्रस्वम् , अदीर्घम् , अरसम् , अगन्धम् ०, एतस्मिन् नु खल्वरे गार्गि ! आकाश ओतश्च प्रोतश्च । बृहदा. ३.८.८-११

२. ब्रह्म सर्वव्यापी है - ब्रह्म चराचर में व्याप्त है, वह सारे जीवों के अन्दर विद्यमान है, वह कर्मों का नियन्ता, साक्षी, चेतन, अद्वितीय और निराकार है ।

(क) ईशावास्यमिदं सर्वम् ०। ईश० १

(ख) एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः ....साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च । श्वेताश्व० ६.११

३. ब्रह्म से सृष्टि - ब्रह्म अकेला था । उसके ईक्षण से सृष्टि प्रारम्भ हुई ।

सदेव सोम्य ! इदमग्र आसीत् , एकमेवाद्वितीयम् । तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति। तत् तेजोऽसृजत । छान्दोग्य० ६.२. १-३

४. ब्रह्म से मन आदि में गति - ब्रह्म मन, इन्द्रियों आदि की पहुँच से परे है । उसकी सत्ता से ही मन और इन्द्रियाँ कार्य करती हैं । केन० १. ३ से ८

यन्मनसा न मनुते, येनाहुर्मनो मतम् । केन० १.५

५. ब्रह्म-साक्षात्कार लक्ष्य - मानव जीवन का लक्ष्य ब्रह्म- साक्षात्कार है ।

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति, न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः । केन० २.५

६. आत्मदर्शन से सर्वज्ञता- आत्मा का दर्शन, श्रवण, मनन और ध्यान करना चाहिए । उसके ज्ञान से मनुष्य सर्वज्ञ हो जाता है ।

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः ।
आत्मनि....... दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते इदं सर्वं विदितम् । बृहदा० ४.५.६

७. अद्वैत तत्त्व - वेदान्तदर्शन में प्रतिपादित अद्वैत ब्रह्म का बीज माण्डूक्य उपनिषद् में प्राप्त होता है । उसमें जाग्रत् आदि ४ अवस्थाएं , स्थूल आदि तीन शरीर, समष्टि और व्यष्टि रूप, आनन्दमय आदि कोश तथा तुरीय (चतुर्थ) शिव अवस्था का

प्रतिपादन है ।

शान्तं शिवम् अद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः । माण्डूक्य० ७

८. त्रैतवाद - ऋग्वेद (१.१६४.२०) और अथर्ववेद (९.९.२०) में प्रतिपादित त्रैतवाद विषयक मंत्र 'द्वा सुपर्णा०' श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी प्राप्त होता है । इसमें ईश्वर जीव और प्रकृति का वर्णन है । ईश्वर साक्षीरूप है, कर्मफल का भोग नहीं करता है । जीव कर्मफल का भोक्ता है और प्रकृति अचेतन है ।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया० । श्वेताश्वतर० ४.६

९. एकेश्वरवाद- ईश्वर एक है । वह अपनी शक्तियों से अनेक रूप धारण करता है । वही अग्नि, सूर्य, वायु, चन्द्रमा, ब्रह्म, प्रजापति आदि अनेक रूपों में है ।

(क) य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद्
वर्णान् अनेकान् निहितार्थो दधाति ।। श्वेताश्व० ४.१

(ख) तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमाः । श्वेताश्व०४.२

१०. प्रकृति त्रिगुणात्मक है - प्रकृति अज (नित्य) है । वह शुक्ल (सफेद सत्त्व), लोहित (लाल, रजस्) और कृष्ण (काला, तमस्) गुणों वाली है । सत्त्व, रजस् , तमस् के लिए क्रमशः शुक्ल, लोहित और कृष्ण शब्द हैं ।

अजामेकां लोहित-शुक्ल-कृष्णाम् ० । श्वेता० ४.५

११. माया और मायी - वेदान्त में प्रतिपादित माया (ईश्वरीय शक्ति) और मायिन् (मायी, महेश्वर) का सर्वप्रथम उल्लेख श्वेताश्वतर उपनिषद् में है । प्रकृति माया है और पुरुष (ईश्वर) मायी (माया का स्वामी या माया का कर्ता) है ।

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् । श्वेता० ४.१०

१२. 'तत् त्वमसि' - वेदान्त में प्रतिपादित 'तत् त्वमसि' महावाक्य का मूल छान्दोग्य उपनिषद् में है ।

तत् सत्यं स आत्मा तत् त्वमसि श्वेतकेतो । छान्दोग्य० ६.८.७

१३. कर्म-सिद्धान्त- बृहदारण्यक में कर्मफल-सिद्धान्त का उल्लेख है । शुभ कर्मों का फल शुभ होता है और अशुभ कर्मों का फल दुःख है ।

पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति, पापः पापेन । बृहदा० ३.२.१३

१४. समन्वयवाद- समन्वयवाद को जीवन के लिए शुभ बताया गया है । ज्ञानमार्ग (विद्या) और कर्ममार्ग (अविद्या) तथा भौतिकवाद (असंभूति) एवं अध्यात्मवाद (संभूति) का समन्वय करने से ही जीवन सुखमय होगा ।

(क) अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ईश० ११

(ख) विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा संभूत्याऽमृतमश्नुते । ईश० १४

१५. एकात्मवाद- सब जीवों में एक ही आत्मा है । अतः सबको आत्मवत् देखने वाला कभी दुःख या शोक में नहीं पड़ता ।

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि- आत्मैवाभूद् विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ।।　　ईश० ७

(५) भारतीय दर्शन

उपनिषदों के पश्चात् चतुर्थ सोपान में भारतीय दर्शन आते हैं । भारतीय दर्शन मुख्य रूप से ६ हैं - न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त । इनके प्रतिपाद्य विषयों आदि का संक्षिप्त विवरण शीर्षक ३ के अन्दर दिया गया है ।

५. भारतीय दर्शनों की प्रमुख विशेषताएं

भारतीय दर्शन अपने गूढ़ चिन्तन-मनन एवं विवेचन के आधार पर ही विश्व साहित्य में इतने उच्च शिखर पर प्रतिष्ठित हुए हैं । इनमें ब्रह्म, ईश्वर, जीव, प्रकृति, सृष्टि-उत्पत्ति, लोक-परलोक, पुनर्जन्म, मोक्ष आदि आध्यात्मिक विषयों के साथ ही, मनोविज्ञान, आचारसंहिता, नीतिशिक्षा आदि व्यावहारिक विषयों को भी लिया गया है । पर्यावरण-प्रदूषण जैसी समस्याओं के निराकरण के लिए यज्ञ-प्रक्रिया जैसी विधियां प्रस्तुत की गई हैं । भारतीय दर्शनों की प्रमुख विशेषताएं संक्षेप में ये हैं :-

(१) आशावादी दृष्टिकोण- भारतीय दर्शन जीवन में उन्नति और प्रगति के लिए आशावादी दृष्टिकोण अपनाता है और संघर्ष की शिक्षा देता है । तीन प्रकार के दुःख हैं - आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक । इनको दूर करने के उपाय प्रस्तुत करना दर्शनशास्त्र का उद्देश्य है ।

दुःखत्रयाभिघातात् जिज्ञासा तदपघातके हेतौ ।　सांख्यकारिका १

(२) वेदों की प्रामाणिकता - वेदों के निष्कर्ष अनुभवमूलक हैं, अतः उनकी प्रामाणिकता पर भारतीय दर्शन आस्था रखता है । अतएव मनु ने कहा है - वेद, स्मृति, सदाचार और आत्मा की संतुष्टि ये धर्म के आधार हैं ।

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः, साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम् ।।　मनु० २.१२

(३) कर्मठता की शिक्षा - सौ वर्ष तक संघर्ष करते हुए कर्मठ जीवन व्यतीत करें ।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समाः ।　यजु० ४०.२

(४) अविच्छिन्नता - दार्शनिक चिन्तन की जो धारा वेदों के समय से प्रादुर्भूत हुई थी, वह भारतीय दर्शनों के साथ ही आज भी अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित हो रही है ।

(५) अध्यात्म-प्रधानता - अध्यात्म पर बहुत बल दिया गया है । आत्मा का दर्शन, मनन, ध्यान जीवन का लक्ष्य है । आत्म-साक्षात्कार की विधि बताना उद्देश्य है ।

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।　बृहदा० ४.५.६

(६) अभ्युदय और निःश्रेयस - भारतीय दर्शनों में धर्म और दर्शन का समन्वय है।

लौकिक उन्नति (अभ्युदय) और मोक्ष-प्राप्ति (निःश्रेयस) दोनों का समन्वय ही धर्म है ।

(क) **यतोऽभ्युदय-निःश्रेयस-सिद्धिः स धर्मः ।** वैशेषिक० १.१, २

(ख) **भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ।** योग० २.१८

(७) **कर्मफल अनिवार्य है** - मनुष्य के कर्मों का फल अच्छा या बुरा अवश्य मिलता है। कर्मफल को कोई टाल नहीं सकता ।

(क) **नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति० ।** गीता २.४०

(ख) **अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ।**

(८) **पुनर्जन्म** - भारतीय दर्शन पुनर्जन्म को स्वीकार करता है । मनुष्य का कर्मों के अनुसार विभिन्न योनियों में जन्म होता है ।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च । गीता २.२७

(९) **जीवन का लक्ष्य मोक्ष** - मानव जीवन का लक्ष्य है - संसार के बन्धनों से छूटकर मोक्ष प्राप्त करना । ज्ञानाग्नि से सारे कर्म नष्ट होते हैं और आत्मसाक्षात्कार के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

(क) **ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा ।** गीता ४.३७

(ख) **क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ।** वेदान्तसार

(१०) **तर्कमूलकता** - 'युक्तिप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः' किसी भी सिद्धान्त की स्वीकृति के लिए आवश्यक है कि वह तर्क से और प्रमाण से सिद्ध हो ।

(११) **आचारशिक्षा** - भारतीय दर्शनों में अध्यात्म-विवेचन के अतिरिक्त आचार-मीमांसा, कर्तव्य शिक्षा, नैतिक शिक्षा और व्यवहार शिक्षा का भी समन्वय है । योगदर्शन में यम-नियम से आचार की शिक्षा, आसन और प्राणायाम से स्वास्थ्य की शिक्षा, धारणा और ध्यान से मनोरोगों की चिकित्सा दी गई है ।

(१२) **स्वतंत्र अस्तित्व** - पाश्चात्य दर्शन राजनीतिशास्त्र, आचारशास्त्र, समाजशास्त्र आदि के अंग के रूप में विकसित हुए हैं, परन्तु भारतीय दर्शन वेदों के समय से ही स्वतंत्र चिन्तन के रूप में विकसित हुए हैं ।

(१३) **तुलनात्मक विवेचन** - भारतीय दर्शनों की विशेषता है कि उनमें पूर्वपक्ष के रूप में अन्य मतों और सिद्धान्तों की स्थापना की जाती है और उत्तरपक्ष के रूप में अपने मत या सिद्धान्त का प्रतिपादन होता है । इससे विभिन्न शास्त्रों का तुलनात्मक अध्ययन होता है और ज्ञान का परिष्कार होता है । अतएव वाक्यपदीय में भर्तृहरि ने अन्य शास्त्रों के अध्ययन को उपयोगी बताया है ।

प्रज्ञां विवेकं लभते भिन्नैरागमदर्शनैः ।
कियद् वा शक्यमुन्नेतुं स्वतर्कमनुधावता ।। वाक्यपदीय २.४९२

(१४) **समन्वय-भावना** - दार्शनिक और व्यावहारिक दोनों दृष्टि से दर्शनों में विवेचन प्रस्तुत किया गया है । आचारपक्ष व्यावहारिक पक्ष है, तात्त्विक चिन्तन दार्शनिक

पक्ष है। सांख्यदर्शन दार्शनिक पक्ष प्रस्तुत करता है और योगदर्शन व्यावहारिक या क्रिया पक्ष । सारे दर्शन एक वृक्ष की विभिन्न शाखा के रूप में हैं । दर्शनों का लक्ष्य है - समन्वित विकास। भोग और मोक्ष या अभ्युदय और निःश्रेयस या श्रेय और प्रेय दोनों का समन्वित विकास हो ।

(१५) अनुभूति-मूलकता- भारतीय दर्शनों में योगज प्रत्यक्ष या प्रातिभ ज्ञान को प्रामाणिक माना गया है । ब्रह्म, आत्मा, मनस्तत्त्व आदि सूक्ष्म तत्त्वों के विवेचन में अनुभूति और योगज प्रत्यक्ष को महत्त्व दिया गया है । 'आत्मानं विद्धि' आत्मा को जानो। इसके लिए तत्त्वज्ञान और आत्मानुभूति ही मार्गदर्शक हैं ।

इस प्रकार भारतीय दर्शनों में विचार-स्वातंत्र्य, तुलनात्मक अध्ययन, पूर्वाग्रह का परित्याग, व्यापक दृष्टिकोण, तर्कसंगत को अपनाना, देश, समाज और व्यक्ति के हितकारक तत्त्वों को अपनाना, सर्व-भूत-हित की भावना व्याप्त है ।

६. भारतीय दर्शनों के प्रमुख आचार्य

भारतीय दर्शनों को विश्व में गौरवपूर्ण स्थान दिलाने वाले प्रमुख आचार्य ये हैं । यहां पर केवल ग्रन्थकार और ग्रन्थों के नाम ही दिए हैं :-

(१) न्याय दर्शन - १. गोतम मुनि (पंचम शती ई०पू०) - ये न्यायसूत्रों के प्रणेता हैं। **२. वात्स्यायन** (प्रथम शती ई०पू०) - न्यायसूत्रों का विस्तृत भाष्य । **३. उद्योतकर** (षष्ठ शती ई०) -न्यायवार्तिक । **४. वाचस्पति मिश्र** (नवम शती ई०) - न्यायवार्तिक की तात्पर्य टीका । **५. जयन्त भट्ट** (नवम शती ई०) - न्यायमंजरी । **६. भासर्वज्ञ** (नवम शती ई०) - न्यायसार । **७. उदयनाचार्य** (दशम शती ई०) - न्याय-कुसुमांजलि और आत्मतत्त्वविवेक । **८. गंगेश** (१३ वीं शती ई०) - तत्त्वचिन्तामणि ।

(२) वैशेषिक दर्शन - १. महर्षि कणाद (तृतीय शती ई०पू०) - ये वैशेषिक सूत्रों के प्रणेता हैं । **२. प्रशस्तपाद** (द्वितीय शती ई०पू०) - पदार्थ-धर्म-संग्रह । इसका प्रसिद्ध नाम 'प्रशस्तपाद- भाष्य' है । **३. व्योमशिवाचार्य** (१०म शती ई०) - प्रशस्तपादभाष्य की टीका व्योमवती । **४. उदयनाचार्य** (१०म शती ई०) - प्रशस्तपाद भाष्य की व्याख्या 'किरणावली' । **५. श्रीधराचार्य** (१०म शती ई०) - प्रशस्तपाद भाष्य की टीका 'न्यायकन्दली'। **६. वल्लभाचार्य** (१२वीं शती ई०) - न्याय-लीलावती । **७. शिवादित्य मिश्र** (१०म शती ई०) - सप्त-पदार्थी । **८. शंकर मिश्र** (१५वीं शती ई०) - वैशेषिक सूत्रों की टीका 'उपस्कार' और प्रशस्तपाद-भाष्य की व्याख्या 'कणाद-रहस्य'। **९. विश्वनाथ न्यायपंचानन** (१७वीं शती ई०) - 'भाषा-परिच्छेद' एवं इसकी टीका 'न्याय-सिद्धान्त-मुक्तावली' और न्यायसूत्रों की व्याख्या 'न्यायसूत्रवृत्ति' । **१०. अन्नंभट्ट** (१७वीं शती ई०)- तर्कसंग्रह ।

(३) सांख्य दर्शन - १. कपिल मुनि - ये सांख्यसूत्रों के प्रणेता हैं । इनकी दूसरी रचना 'तत्त्वसमास' है । **२. पञ्चशिख**-'षष्टितन्त्र' । चीनी ग्रन्थों के अनुसार इसमें

६० हजार श्लोक थे । **३. ईश्वरकृष्ण** (प्रथम शती ई०) – सांख्यकारिका । इसमें सांख्य-सिद्धान्तों का संक्षेप में सुन्दर वर्णन है । **४. विज्ञानभिक्षु** (१६वीं शती ई०) – (क)सांख्य-सूत्रों पर 'सांख्यप्रवचनभाष्य', (ख) योगदर्शन पर 'योगवार्तिक', (ग) वेदान्तसूत्रों पर 'विज्ञानामृत भाष्य' । इनके अतिरिक्त 'सांख्यसार' और 'योगसार-संग्रह' ग्रन्थ ।

(४) योगदर्शन – १. महर्षि पतंजलि – ये योगसूत्रों के प्रणेता हैं । **२. महर्षि व्यास**- योगसूत्रों पर 'व्यास-भाष्य' । **३. वाचस्पति मिश्र**- व्यास-भाष्य की व्याख्या 'तत्त्व-वैशारदी' । **४. विज्ञानभिक्षु** – योगवार्तिक और योगसारसंग्रह । **५. राघवानन्द सरस्वती** – वाचस्पति मिश्र की तत्त्व-वैशारदी की टीका 'पातञ्जलरहस्य' । **६. हरिहरानन्द आरण्य** – व्यासभाष्य की टीका 'भास्वती' । **७. भोज**- योगसूत्रों की टीका 'राजमार्तण्ड' या 'भोजवृत्ति' । **८. रामानन्द यति** – 'मणिप्रभा' । **९. अनन्त पण्डित** – 'योगचन्द्रिका'। **१०. सदाशिवेन्द्र सरस्वती** – 'योगसुधाकर' । **११. नागेश भट्ट** – योगसूत्रों की लघ्वी और बृहती वृत्ति ।

५. मीमांसा दर्शन – १. जैमिनि (तृतीय शती ई० पू०) – ये मीमांसासूत्रों के रचयिता हैं। **२. आचार्य उपवर्ष**- मीमांसासूत्रों के वृत्तिकार । **३. शबर स्वामी** (२०० ई०) – इन्होंने संपूर्ण मीमांसादर्शन पर प्रामाणिक भाष्य लिखा है ।

मीमांसादर्शन के दो प्रसिद्ध आचार्यों कुमारिल भट्ट और प्रभाकर मिश्र (गुरु) के नाम पर दो मत प्रचलित हुए- १. भाट्ट मत, २. गुरुमत । इनके आचार्य हैं – **(क) भाट्ट मत- १. कुमारिल भट्ट** (६०० ई०) – (क) श्लोकवार्तिक, (ख) तन्त्रवार्तिक, (ग) टुप्टीका । **२. मण्डनमिश्र**- (क) विधिविवेक, (ख) भावना-विवेक, (ग) विभ्रम विवेक, (घ) मीमांसा-सूत्रानुक्रमणी । **३. वाचस्पति मिश्र**- (क) न्यायकणिका, (ख) तत्त्वबिन्दु । **४. पार्थसारथि मिश्र** – (क) तर्करत्न, (ख) न्यायरत्नाकर, (ग) न्याय-रत्नमाला, (घ) शास्त्रदीपिका । **५. माधवाचार्य** – (क) न्यायमालाविस्तर, (ख) सेश्वर-मीमांसा । **६. खंडदेव मिश्र** – (क) भाट्ट-कौस्तुभ, (ख) भाट्ट-दीपिका, (ग) भाट्ट-रहस्य।

(ख) गुरुमत – १. प्रभाकर मिश्र- शाबर-भाष्य की दो टीकाएं – (क) बृहती, (ख) लघ्वी । **२. भवनाथ** -नयविवेक । **३. नन्दीश्वर** – प्रभाकरविजय । **४. रामानुजाचार्य** – तन्त्ररहस्य ।

६. वेदान्त दर्शन – १. महर्षि व्यास – ये वेदान्तसूत्रों के प्रणेता हैं । वेदान्त - सूत्रों को ब्रह्मसूत्र भी कहते हैं । ब्रह्मसूत्र के प्रमुख भाष्यकार हैं – **२. शंकराचार्य** - (७८८ ई०) – शारीरक भाष्य, मत- निर्विशेष अद्वैत । **३. रामानुजाचार्य** – (११४० ई०) श्रीभाष्य, मत- विशिष्टाद्वैत । **४. मध्व आचार्य** (आनन्दतीर्थ) (१२३८ ई०) – पूर्णप्रज्ञभाष्य, मत- द्वैत । **५. निम्बार्क** (१२५०ई०) – वेदान्तपारिजात, मत-द्वैताद्वैत । **६. वल्लभाचार्य** (१४७९) – अणुभाष्य, मत- शुद्धाद्वैत ।

अन्य आचार्य - १. मण्डन मिश्र (८वीं शती ई०)- स्फोटसिद्धि, यह स्फोटसिद्धान्त-विषयक ग्रन्थ है । **२. वाचस्पति मिश्र** - ब्रह्मसूत्रों का भाष्य 'भामती' टीका । **३. महाकवि श्रीहर्ष** - खण्डनखण्डखाद्य । **४. चित्सुखाचार्य** (१२वीं शती ई०) - तत्त्व-दीपिका (प्रसिद्ध नाम चित्सुखी) **५. विद्यारण्य (माधवाचार्य)** - पञ्चदशी । **६. मधुसूदन सरस्वती** (१६वीं शती ई०) - अद्वैतसिद्धि । **७. अप्पय दीक्षित** - (क) कल्पतरु- परिमल, (ख) सिद्धान्त-लेश-संग्रह । **८. धर्मराजाध्वरीन्द्र** - वेदान्तपरिभाषा। **९. सदानन्द**- वेदान्तसार । **१०. गौडपाद (गौडपादाचार्य)** - माण्डूक्य कारिका ।

(७) व्याकरण दर्शन - व्याकरणदर्शन शब्दब्रह्म, शब्दाद्वैत या प्रतिभा -सिद्धान्त का समर्थक है । **१. आचार्य स्फोटायन** - ये पाणिनि से पूर्ववर्ती आचार्य हैं । पाणिनि ने एक सूत्र (६.१.१२३) में इनका उल्लेख किया है । ये शब्दब्रह्म, शब्दाद्वैत या स्फोटसिद्धान्त के प्रवर्तक हैं । **२. महर्षि पतंजलि** (१५० ई० पूर्व) व्याकरण - महाभाष्य, इसमें स्फोट-सिद्धान्त का प्रतिपादन है । **३. भर्तृहरि** (चतुर्थ शती ई०) - ये राजा, योगी और महावैयाकरण थे । इनकी प्रसिद्ध कृति 'वाक्यपदीय' है । इसमें ३ काण्ड हैं - (क) ब्रह्मकाण्ड, (ख) वाक्यकांड, **३. पदकांड** । इसमें स्फोट-सिद्धान्त का विस्तृत विवेचन है । इसमें स्फोट को ही ब्रह्म या शब्दब्रह्म कहा गया है । **४. मंडन मिश्र** (८वीं शती ई०) - इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'स्फोटसिद्धि' है । **५. कैयट** (११वीं शती ई०) - महाभाष्य पर 'प्रदीप' टीका । ये स्फोटवाद के समर्थक हैं । **६. नागेश भट्ट** (१८वीं शती ई०) - महाभाष्य पर 'उद्योत' टीका । ये स्फोटवाद के प्रबल समर्थक थे । इनकी अन्य कृति 'स्फोटवाद' है । **७. वृषभदेव** - वाक्यपदीय के ब्रह्मकांड (कांड १) के व्याख्याकार हैं । **८. पुण्यराज** (११वीं शती ई०) - वाक्यपदीय के द्वितीय कांड के व्याख्याकार हैं । **९. हेलाराज** (११वीं शती ई०) - वाक्यपदीय के तीनों कांडों के व्याख्याकार हैं ।

७. दर्शनशास्त्र की उपादेयता

दर्शनशास्त्र की उपादेयता के मुख्य सूत्र ये हैं -

१. दर्शनशास्त्र मानवमात्र के सर्वांगीण विकास का मार्ग प्रस्तुत करता है ।

२. यह अनेक शास्त्रों का समन्वित रूप है । इसमें अध्यात्म विद्या, समाजशास्त्र, धर्मशास्त्र और आचारसंहिता का समन्वय है ।

३. यह जीवन का सर्वोत्कृष्ट मार्गदर्शक है ।

४. यह मनोविज्ञानमूलक शास्त्र है । यह मनोनिरोध के द्वारा आध्यात्मिक बौद्धिक और मानसिक उन्नति का साधन प्रस्तुत करता है ।

५. यह परमात्मा, जीवात्मा, प्रकृति, मोक्ष, लोक-परलोक जैसे गूढ़ रहस्यों का स्वरूप प्रस्तुत करता है ।

६. जीवन को सुखमय बनाने का मार्ग प्रस्तुत करता है ।

७. आधि-व्याधि, त्रिविध ताप एवं जीवन की समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करता है ।

८. मानवमात्र में एक आत्मतत्त्व की सत्ता बताकर विश्वप्रेम, विश्वबन्धुत्व एवं विश्व-भ्रातृत्व की शिक्षा देता है ।

९. यह जीवन को नश्वर और आत्मा को अमर बताकर निर्भयता का उपदेश देता है ।

१०. यह जीवन का लक्ष्य आत्म-साक्षात्कार, ब्रह्म-प्राप्ति एवं मोक्ष बताकर जीवन को परिष्कृत करता है ।

अध्याय २

विराट् और पुरुष

१. विराट् और पुरुष का अर्थ

विराट्, पुरुष आदि क्या हैं ? यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि विराट् , पुरुष, ब्रह्म और ईश्वर शब्द प्राय: एकार्थक हैं । ये ऊर्जा (Energy) की समष्टि के बोधक हैं । ये किसी साकार तत्त्व या शरीरधारी व्यष्टि के लिए प्रयुक्त नहीं हैं । विश्वव्यापी ऊर्जा को ही विभिन्न नामों से संबोधित किया गया है । विराट् शब्द ऊर्जा के तेजोमय रूप का बोधक है। यह ऊर्जा सृष्टि के मूल में है । इससे ही सृष्टि होती है । यह समष्टि और व्यष्टि दोनों प्रकार की सृष्टि का आधार है । प्रत्येक तत्त्व के अनुसार इसका स्वरूप भिन्न-भिन्न होता जाता है। जीव-जगत् , वनस्पति-जगत् आदि के मूल में यही महासत्ता या महान् ऊर्जा काम कर रही है । इस महासत्ता की उपस्थिति जीवन है और इसका अभाव मृत्यु या विनाश है ।

विराट् और पुरुष का अर्थ - 'विशेषेण राजते इति विराट्' जो विशेष रूप से विश्व में प्रकाशित हो रहा है, उसे विराट् कहते हैं । विश्वव्यापी ऊर्जा की समष्टि का नाम विराट् है । इसी प्रकार 'पुरुष' शब्द का अर्थ है - 'पुरि शेते इति पुरुष:' जो पुर में विद्यमान रहता है, उसे पुरुष कहते हैं । इसके दो अर्थ हैं - १. संसाररूपी पुर में रहने वाला यह पुरुष परम पुरुष है । इसको ही विराट् , पुरुष, ब्रह्म और ईश्वर कहते हैं । २. शरीररूपी पुर में रहने वाला यह जीवात्मा है । यह कर्मों के बन्धन में फँसता है, कर्मफल भोगता है और जीवन एवं मृत्यु या आवागमन के चक्कर में पड़ता है । परम पुरुष या ईश्वर ऊर्जा की समष्टि है। यह सर्वज्ञ है, अविनाशी है, अमर है, अक्षय है और नित्य है । पुरुष, जीव या मानव व्यष्टि है । यह अल्पज्ञ है, यह जन्म और मरण धर्म वाला है । यह अपने कर्मों से जीवन के बन्धन से मुक्त हो सकता है । यह अपने पुरुषार्थ से महाविद्वान् , सिद्ध, योगी, महर्षि हो सकता है ।

२. विराट् का स्वरूप

विराट् पुरुष की व्यापकता को आधार बनाकर पुरुष सूक्त आदि में इसके व्यापक रूप का वर्णन किया गया है । चारों वेदों में यह पुरुषसूक्त आया है ।[1] इसमें विराट् पुरुष के गुण-कर्मों का विस्तृत वर्णन है ।

२-१. पुरुषसूक्त ऋग्० १०.९०.१ से १६ । यजु० ३१.१ से २२ । साम० ६१७ से ६२१ । अथर्व० १९.६.१ से १६ ।

पुरुष के मुख-चक्षु आदि - यजुर्वेद आदि में उल्लेख है कि उस विराट् पुरुष के सहस्रों सिर, सहस्रों आंख और सहस्रों पैर हैं । वह सारे संसार में व्याप्त हो गया और सारे संसार में व्याप्त होने के बाद संसार से दस अंगुल ऊपर स्थित हुआ ।[२] इस मंत्र में सहस्र शब्द असंख्य के लिए है । विराट् पुरुष के आंख, सिर आदि सारे संसार में व्याप्त हैं । इसीलिए अथर्ववेद में उसको 'विश्वतोमुखः' अर्थात् सब ओर उसका मुख है, कहा गया है ।[३] 'दशांगुल' शब्द की दो प्रकार से व्याख्या की गई है - १. वह विराट् पुरुष दश अंगुल नाप वाले संसार से बाहर भी व्याप्त है । २. दशांगुल शब्द हृदय का वाचक है । हृदय का नाप दस अंगुलि के बराबर है । इसकी एक अन्य व्याख्या है कि हृदय का स्थान नाभि से दस अंगुलि ऊपर है । उस हृदय में पुरुष का निवास है ।

पुरुष त्रिपाद् , चतुष्पाद् और अपाद् - विराट् पुरुष का अनेक रूपों में वर्णन हुआ है । वह त्रिपाद् है । वह अनेक रूपों में विद्यमान है । उसके कारण ही सारा संसार जीवित है ।[४] इसमें त्रिपाद् शब्द से तीन पैर अर्थात् द्युलोक, भूमि और अन्तरिक्ष लिए गए हैं । वह तीन पैर वाले स्टूल आदि की तरह स्थित है । त्रिपाद् का अन्य अर्थ है -त्रिकोण या त्रिभुज। वह विराट् द्यु -भू-अन्तरिक्ष इन तीनों का एक त्रिभुज बनाकर उसमें सर्वत्र व्याप्त है । मानव शरीर में पुरुष के तीन पैर हैं, जिन पर वह स्थित है । वे हैं :- १. नाभि, २. हृदय, ३. सिर (मस्तिष्क) । ये तीन पुरुष के अधिष्ठान हैं ।

यजुर्वेद आदि में विराट् के चार पैरों का वर्णन करते हुए उसे चतुष्पाद् बताया गया है । विराट् पुरुष के तीन पैर संसार से बाहर हैं । यह सारा संसार उसका एक पैर अर्थात् चतुर्थांश है ।[५] यह चतुर्थांश अनित्य, नश्वर है । इस चतुर्थांश से सारे चर-अचर संसार की उत्पत्ति हुई है । विराट् के तीन पैर अर्थात् तीन-चौथाई अंश अक्षय है, नित्य है, अविनाशी है । वह परमात्मा के दिव्य स्वरूप के रूप में विद्यमान है ।[६] इसका अभिप्राय है कि यह संसार जो हमें दृष्टिगोचर हो रहा है, जिसमें सारे चर और अचर (सजीव और निर्जीव) विद्यमान हैं, यह परमात्मा की शक्ति का अंशमात्र है । उसकी शक्ति असीम है । उसकी शक्ति अवर्णनीय है ।

अथर्ववेद में उस विराट् को अपाद् अर्थात् बिना पैर का बताया गया है और कहा गया है कि वह पैर-रहित होने पर भी पैर वालों से अधिक तीव्र है और उनसे आगे चलता है ।[७] इसका अभिप्राय यह है कि परमात्मा सर्वव्यापी होने से सर्वत्र विद्यमान है । कोई भी

२-२. सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः० । यजु० ३१.१

२-३. विश्वतोमुखः । अथर्व० १०.८.२७

२-४. त्रिपाद् ब्रह्म पुरुरूपं वि तष्ठे । अथर्व० ९.१०.१९

२-५. त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः० । यजु० ३१.४

२-६. त्रिपादस्यामृतं दिवि । यजु० ३१.३

२-७. अपादेति प्रथमा पद्वतीनाम् । अ० ९.१०.२३

पैर वाला दौड़कर जहां पहुँचेगा, उस स्थान पर वह पहले से विद्यमान है, अतः वह प्रथम स्थान पर रहता है । अपाद् का अभिप्राय है कि वस्तुतः परमात्मा निराकार होने से शरीर या अंगों से रहित है, अतः वह पैर से भी रहित है ।

अथर्ववेद के एक मंत्र में वर्णन है कि विराट् 'अप्राण' अर्थात् प्राणहीन है, परन्तु वह प्राणवालों के साथ चलता है । वह 'स्वराज्' है, अर्थात् अपनी शक्ति से तेजोमय है ।[८] इसीलिए वह सबका प्रकाशक है । वह विराट् अनिर्वचनीय है, अतिसूक्ष्म है, अतः कोई उसे देख पाता है, कोई नहीं ।[९] इसका अभिप्राय है कि वह विराट् पुरुष सूक्ष्मरूप में शरीर के अन्दर विद्यमान है । शरीर चलता है तो वह भी चलता है । उसका स्वरूप सूक्ष्म है, अतः उसे योगी-मुनि आदि ही समाधि के द्वारा साक्षात्कार कर पाते हैं, अन्य सामान्य व्यक्ति उसे नहीं देख पाते हैं ।

विराट् सर्वप्रथम सत्ता - विराट् को विश्व की सर्वप्रथम सत्ता माना गया है ।[१०] ऊर्जा विश्व की मूलभूत सत्ता है, अतः उसे संसार की सर्वप्रथम सत्ता बताया गया । विराट् के विषय में कहा गया है कि वह ब्रह्मा का भी पिता है ।[११] इसका अभिप्राय यह है कि विश्व की सृष्टि विराट् से प्रारम्भ होती है । सारा संसार उसका ही विस्तृत रूप है । विराट् के विषय में कहा गया है कि वह यज्ञ का प्रवर्तक है । उसी के अनुसार यज्ञ की सारी गतिविधियां होती हैं । यज्ञ वस्तुतः सृष्टि-प्रक्रिया का एक प्रतीक है । उस विराट् का स्थान आकाश है, अर्थात् वह सारे आकाश में व्याप्त है ।[१२]

विराट् सर्वप्रथम ज्योति - विराट् को विश्व की सर्वप्रथम ज्योति बताया गया है।[१३] यही सबको ज्योति देता है । इसका अभिप्राय है कि ऊर्जा ही विश्व की सबसे मूलभूत ज्योति है । अन्य सब सत्ताएं इस मूलभूत ज्योति के अंग-प्रत्यंग हैं । इस मंत्र में विराट्रूपी ज्योति का बहुत अधिक महत्त्व बताया गया है और इसे सारे प्रकाशों का प्रकाशक कहा गया है ।

अग्नीषोमीयं जगत् - अथर्ववेद में स्पष्ट किया गया है कि विराट् मिथुनरूप (युगल, जोड़ा) है ।[१४] इसमें द्वैत है, दो तत्त्व मिले हुए हैं । एक तत्त्व अग्नि है । दूसरा तत्त्व सोम है ।[१५] अग्नि धनात्मक (Positive) है और सोम ऋणात्मक (Negative) है। धनात्मक और ऋणात्मक तत्त्वों के संयोग से ऊर्जा (Energy) या विद्युत् का संचार

२-८. अप्राणैति प्राणेन प्राणतीनाम् । अ० ८.९.९

२-९. विराजं पश्यन्ति त्वे न त्वे पश्यन्त्येनाम् । अ० ८.९.९

२-१०. विराड् वा इदमग्र आसीत् । अ० ८.१०.१ । ११.६.९

२-११. विराजमाहुर्ब्रह्मणः पितरम् । अ० ८.९.७

२-१२. विराड् ऋषयः परमे व्योमन् । अ० ८.९.८

२-१३. इयमेव सा या प्रथमा व्यौच्छत्० । अ० ८.९.११

२-१४. को विराजो मिथुनत्वं प्र वेद । अ० ८.९.१०

२-१५. अग्नीषोमौ -अदधुर्या तुरीयासीत् । अ० ८.९.१४

होता है । यही सृष्टि के क्रमिक विकास का कारण है ।

बृहत्जाबाल उपनिषद् में 'अग्नीषोमात्मकं जगत्' कहकर अग्नि और सोम के विस्तृत स्वरूप का विवेचन किया गया है और संसार को अग्निसोम का मिश्रित रूप बताया गया है ।[१६] अग्नि प्रेरक तत्त्व है, संचालक है और गतिदाता है । अग्नि या ऊर्जा के प्रभाव से सोम में सक्रियता आती है । यह सोम ही Electron है, ऋणात्मक है, गतिशील है । सोमतत्त्व के बिना सृष्टि-प्रक्रिया का प्रारम्भ होना असंभव है । इसी उपनिषद् में अग्नि के लिए 'तेज' और सोम के लिए 'रस' शब्द का प्रयोग है । साथ ही यह कहा गया है कि तेज और रस के संयोग से यह संसार बना है ।[१७]

विराट् के नाना रूप - अथर्ववेद का कथन है कि वह महासत्ता विराट् एक है, परन्तु वह नाना रूपों में विद्यमान है ।[१८] विश्वव्यापी ऊर्जा विराट् है । उसके ही विभिन्न क्रियाकलाप के कारण अनेक रूप हो जाते हैं । अनेक रूप के लिए मन्त्र में 'पुरुरूप' शब्द है । यास्क का भी कथन है कि आत्मा (परमात्मा) एक है । अनेक गुणों के समन्वय के कारण उस एक के अनेक नाम हो जाते हैं ।[१९]

३. विराट् के विविध रूप

विराट् के दो पुत्र - अथर्ववेद में विराट् के दो पुत्रों का उल्लेख है ।[१] ये दो पुत्र (वत्स) कौन से हैं ? इसका उत्तर हमें प्रश्न उपनिषद् में मिलता है । प्रश्न उपनिषद् का कथन है कि प्रजापति ने तप किया और रयि एवं प्राणरूपी युगल को जन्म दिया ।[२] ये रयि और प्राण वस्तुतः अग्नि और सोम हैं । प्राण अग्नि है और रयि सोम । सूर्य प्राण है और चन्द्रमा रयि । सूर्य आग्नेय तत्त्व है और चन्द्रमा सोमीय तत्त्व ।[३] सूर्य प्राणशक्ति का दाता है और चन्द्रमा शीतलता तथा आह्लादकता का । जितना मूर्त और अमूर्त या चर-अचर संसार है, वह सारा रयि तत्त्व या सोमीय तत्त्व है ।[४]

विराट् की तीन शक्तियाँ - अथर्ववेद का कथन है कि विराट् की तीन शक्तियाँ हैं। ये हैं- १. प्रजारक्षक या प्रजापालक, २. बलदात्री, ३. राष्ट्ररक्षक ।[५] इसका अभिप्राय

२-१६.अग्नीषोमात्मकं जगत् । बृहत् जा०उप०२.४

२-१७.तेजोरसविभेदैस्तु वृत्तमेतत् चराचरम् । बृ०जा०उप०२.३

२-१८.त्रिपाद् ब्रह्म पुरुरूपं वि तष्ठे । अ० ९.१०.१९

२-१९.माहाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते । निरुक्त ७.४

३-१. वत्सौ विराजः० । अ० ८.९.१

३-२. स मिथुनमुत्पादयते, रयिं च प्राणं च ! प्रश्न उप० १.४

३-३. आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमाः । प्रश्न उप० १.५

३-४. प्रश्न उप० १.५

३-५. प्रजामेका जिन्वति, ऊर्जमेका राष्ट्रमेका । अ० ८.९.१३

यह है कि विराट् की ये तीन शक्तियाँ राष्ट्र की रक्षा करती हैं । एक शक्ति राष्ट्रीय सुरक्षा करती है, प्रजा का पालन करती है और उसके कुशल-क्षेम की व्यवस्था करती है । द्वितीय शक्ति राष्ट्र को शक्तिशाली बनाती है । तृतीय शक्ति राष्ट्र को शक्तिशाली बनाकर उसे सुदृढ़ बनाती है ।

विराट् से तीन अग्नियाँ - विराट् के व्यापक रूप का वर्णन करते हुए अथर्ववेद में पूरे यज्ञ की उत्पत्ति विराट् से मानी गई है । यज्ञ में मुख्य रूप से तीन अग्नियों का उपयोग होता है । ये हैं - १. गार्हपत्य, २. आहवनीय, ३. दक्षिणाग्नि । इन तीन अग्नियों की उत्पत्ति विराट् से बनाई गई है ।[६]

१. गार्हपत्य अग्नि - यह पारिवारिक विविध यज्ञों के लिए है । इसमें १६ संस्कार तथा अन्य पारिवारिक यज्ञ किये जाते हैं ।

२. आहवनीय अग्नि - इसमें सामान्य विविध इष्टियां की जाती हैं । जैसे पुत्रार्थ पुत्रेष्टि यज्ञ, वर्षा के लिए कारीर इष्टि आदि ।

३. दक्षिणाग्नि - इसमें बड़े यज्ञ अश्वमेध, वाजपेय, राजसूय, सोमयाग आदि किए जाते थे ।

विराट् से तीन राष्ट्रीय संस्थाएं - अथर्ववेद का कथन है कि विराट् से तीन राष्ट्रीय संस्थाओं की उत्पत्ति हुई । ये हैं - १. सभा, २. समिति, ३. आमन्त्रण ।[७] इनके कार्य ये थे-

१. सभा- वैदिक काल में इसका कार्यक्षेत्र बहुत व्यापक था । यह न्यायपालिका का कार्य करती थी । यह ग्रामसभा या ग्राम-पंचायत से लेकर राष्ट्रीय स्तर की न्याय-सम्बन्धी सभा थी । इसके कार्यक्षेत्र में ग्राम-व्यवस्था, ग्रामोद्धार, कृषि-उत्थान, ग्राम-सुरक्षा, विकास कार्य आदि थे ।

२. समिति - यह वैदिक काल में कार्यपालिका थी । यह संसद् के तुल्य उच्च अधिकारयुक्त संस्था थी । यह सभा से ऊँची संस्था थी । इसके मुख्य कार्य थे- १. राजा का वरण, २. देश की सुरक्षा, ३. आय की व्यवस्था, ४. जनकल्याण के सभी कार्य, ५. विकास-कार्य, उद्योग-धन्धों की उन्नति, ६. अक्षम राजा को पदच्युत करना आदि ।

३. आमंत्रण- यह समिति से ऊँची संस्था थी । इसको वर्तमान मंत्रि-परिषद् (Cabinet)कह सकते हैं । यह देश के सभी कार्यों, न्यायपालिका, कार्यपालिका आदि

३-६. सोदक्रामत् सा गार्हपत्ये न्यक्रामत् ।
सोदक्रामत् साहवनीये न्यक्रामत् ।
सोदक्रामत् सा दक्षिणाग्नौ न्यक्रामत् । अथर्व० ८.१० (१), २-६

३-७. सोदक्रामत् सा सभायां न्यक्रामत् ।
सोदक्रामत् सा समितौ न्यक्रामत् ।
सोदक्रामत् सामन्त्रणे न्यक्रामत् । अथर्व० ८.१० (१). ८-१२

के कार्यों पर अपना नियंत्रण रखती थी और अपना निर्णय देती थी । इसका निर्णय सबको मान्य होता था ।

विराट् के चार रूप -अथर्ववेद में विराट् के चार रूपों का वर्णन है । विराट् इन चार रूपों में सभी देवों और मनुष्यों का पोषण कर रहा है । उसके चार रूप ये हैं- १. ऊर्जा(शक्ति, बल), २. स्वधा (स्वावलम्बन), ३. सूनृता (सत्य, तप, ज्ञान) ४. इरावती (कृषि, अन्न) ।[८]

१. ऊर्जा - देवों ने विराट् ब्रह्म को ऊर्जा के रूप में देखा और उन्होंने अपने लिए ऊर्जा (शक्ति, बल, चेतना, महाप्राण शक्ति) को अपनाया । देवता इस ऊर्जा (शक्ति) के आधार पर ही जीवित हैं ।[९]

२. स्वधा - पितृगण ने विराट् को स्वधा के रूप में देखा और अपने लिए उन्होंने स्वधा (स्वावलम्बन, ज्ञान) को ही चुना । पितृगण स्वधा से ही जीवित हैं ।[१०] स्वधा के अन्य अर्थ हैं- चिन्तन, ज्ञान, द्रव्य, अमृत, प्रवृत्ति ।

३. सूनृता - ऋषियों ने विराट् को सूनृता (सत्य, भक्ति, तप, निष्ठा) के रूप में लिया । अथर्ववेद में सूनृता के लिए ब्रह्मण्वती शब्द का प्रयोग किया गया है ।[११] इसका अभिप्राय है- ब्राह्मणोचित कर्म । इसमें ब्रह्मन् (आत्मचिन्तन, वेदज्ञान), तप और सत्य मुख्य रूप से आते हैं । अतएव कहा गया है कि सप्तर्षि ब्रह्म और तप को अपनाकर अपना जीवन-यापन करते हैं ।[१२] ऋषियों के लिए तपस्या, सत्यनिष्ठा और आत्मचिन्तन ही सर्वस्व है । इससे ही वे ब्रह्मवर्चस्वी होते हैं ।

४. इरावती - मनुष्यों ने विराट् को इरावती (कृषि और अन्न) के रूप में अपनाया।[१३] मनुष्यों के जीवंन-निर्वाह का साधन कृषि और अन्न है । मनुष्य कृषि और उससे उत्पन्न अन्न आदि को अपनाकर अपना जीवन-निर्वाह करते हैं ।

विराट् के अन्य रूप - अथर्ववेद के इसी सूक्त में विराट् के कुछ अन्य रूपों का भी उल्लेख है । सूक्त से ज्ञात होता है कि आजीविका या जीवन-निर्वाह के सभी साधनों को विराट् का ही रूप माना जाता है । विराट् के अन्य रूप ये हैं :-

१. माया - असुरों ने विराट् को माया के रूप में अपनाया ।[१४] माया के अर्थ हैं-

---

३-८. सोदक्रामत् सा चतुर्धा विक्रान्तातिष्ठत् ।
ऊज एहि स्वध एहि, सूनृत एहि, इरावत्येहि । अथर्व० ८.१०.(२) १-४

३-९. तामूर्जा देवा उप जीवन्ति । अ० ८.१०. (५) ४

३-१०. तां स्वधां पितर उप जीवन्ति । अ० ८.१०. (४) ८

३-११. सप्त ऋषय उपाह्वयन्त ब्रह्मण्वती - एहीति । अ० ८.१०. (४) ९

३-१२. तद् ब्रह्म च तपश्च सप्तऋषय उप जीवन्ति । अ० ८.१०. (४) १६

३-१३. ते कृषिं च सस्यं च मनुष्या उप जीवन्ति । अ० ८.१०. (४) १२

३-१४. तां मायाम् असुरा उप जीवन्ति । अ० ८.१०. (४) ४

शिल्प, दक्षतापूर्ण कार्य, छल-प्रपंच, जादू-टोना, वशीकरण आदि । असुरों में शारीरिक शक्ति अधिक होती है, अतः वे शिल्प, कारीगरी आदि में अधिक दक्ष होते हैं । वे श्रमजीवी वर्ग हैं । वे स्वार्थसिद्धि के लिए छल-प्रपंच आदि का भी प्रयोग करते हैं । असुरों की आजीविका का साधन माया है ।

२. सुगन्ध (पुण्य गन्ध) - गन्धर्व और अप्सराओं ने विराट् को सुगन्ध (इत्र आदि) के रूप में अपनाया ।[१५] गन्धर्व और अप्सरा विलासी जीव हैं । सुख, विलास और इत्र आदि का व्यवहार उनकी जीवनचर्या है । वे विलासितामय जीवन को अपनी जीवनचर्या मानते हैं । ये नृत्य, गीत, वाद्य आदि में दक्ष होते थे ।

३. विष - यदि अमृत विराट् ब्रह्म का एक रूप है तो विष भी विराट् का ही एक अन्य रूप है । अथर्ववेद का कथन है कि सर्पों ने विराट् को विष के रूप में अपनाया ।[१६] सर्पों के जीवन का आधार विष है । विष ही उनका भोजन है । वे विष से ही जीवित रहते हैं ।

पूर्वोक्त वर्णन से ज्ञात होता है कि जीव-जगत् के जीवन के जितने भी साधन हैं , वे सभी विराट् ब्रह्म के ही विभिन्न रूप हैं ।

४. विराट् सर्वदेवमय

विराट् एकमात्र सत्ता - अथर्ववेद का कथन है कि विराट् ही एकमात्र सत्ता है । वही एकमात्र पूज्य (यक्ष) है । उसके अतिरिक्त या उससे बढ़कर और कोई नहीं है ।[१] सदा एकरूप रहने वाला विराट् ही संसार में एकमात्र पूज्य है । अन्य सभी देवता उसके ही विभिन्न रूप हैं ।

विराट् सर्वदेवमय - यजुर्वेद के ३१वें अध्याय में विराट् पुरुष को 'सहस्रशीर्षा०' असंख्य सिर, पैर आदि से युक्त बताने के पश्चात् ३२ वें अध्याय में उसे सर्वदेवमय बताया गया है । वही विराट् पुरुष अग्नि, सूर्य, वायु और चन्द्रमा है । उसको ही शुक्र (वीर्य), ब्रह्म, जल और प्रजापति कहते हैं ।[२] यजुर्वेद का कथन है कि उस ज्योतिर्मय पुरुष से ही वर्तमान, भूत और भविष्यत् सभी काल उत्पन्न हुए हैं । वह अदृश्य है, अतः उसे कोई कहीं से नहीं पकड़ सकता है ।[३] उसकी कोई प्रतिमा नहीं है, अर्थात् उसकी कोई मूर्ति नहीं है और कोई उसके समान नहीं है ।[४] जो कुछ उत्पन्न हुआ है, हो रहा है और होगा,

---

३-१५. तं पुण्यं गन्धं गन्धर्वाप्सरस उप जीवन्ति । अ० ८. १०. (५) ८

३-१६. तद् विषं सर्पा उप जीवन्ति । अ० ८.१०. (५) १६

४-१. यक्षं पृथिव्यामेकवृत्० । अ० ८.९.२६

४-२. तदेवाग्निस्तदादित्यः० । यजु० ३२.१

४-३. सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि । यजु० ३२.२

४-४. न तस्य प्रतिमा अस्ति० । यजु० ३२.३

वह सब उस विराट् पुरुष का ही स्वरूप है ।[५] वह षोडशी अर्थात् १६ कलाओं से परिपूर्ण है । उसके ही रूप ये तीन ज्योतियाँ सूर्य, चन्द्र और अग्नि हैं ।[६] उसने द्युलोक और पृथिवी को अपने स्थान पर स्थिर किया है । उसने ही अनेक लोकों को अन्तरिक्ष में स्थापित किया हुआ है ।[७]

विराट् यज्ञ रूप है – यजुर्वेद में विराट् पुरुष को यज्ञ के रूप में प्रस्तुत किया गया है और उसे 'सर्वहुत्' कहा गया है ।[८] इसका अभिप्राय यह है कि परमात्मा ने इस सृष्टि में अपना सर्वस्व लगा दिया है, अर्थात् सारी दिव्य शक्तियां और विभूतियां इसमें भर दी हैं । इसलिए यह सृष्टि दैवी शक्तियों का कोश है । शतपथ ब्राह्मण में भी विराट् पुरुष को यज्ञ-रूप बताया गया है ।[९] यह विराट् या यज्ञ क्या है ? इसको तैत्तिरीय ब्राह्मण में स्पष्ट किया गया है कि विश्वव्यापी ऊर्जा (Universal Energy) ही विराट् है ।[१०] यह विश्वव्यापी ऊर्जा ही विश्व का संचालन कर रही है । संसार की सारी क्रिया एवं प्रक्रियाएं इस ऊर्जा के कारण ही हो रही हैं । इसको समझाते हुए ऋतुचक्र को एक यज्ञ के रूप में प्रस्तुत किया गया है । ऋतुचक्ररूपी यज्ञ में वसन्त ऋतु घी है, ग्रीष्म ऋतु समिधा है और शरद् ऋतु हवन-सामग्री है ।[११] सृष्टि के प्रत्येक कण में प्रतिक्षण स्फोट हो रहा है । इससे ही सृष्टि में गति है, विकास है, प्रगति है और प्रसार है । इसको ही यजुर्वेद में दैवी यज्ञ कहा गया है। यह यज्ञ सृष्टि के प्रारम्भ से चल रहा है । यह विश्व का प्रथम धर्म-कृत्य है । प्राकृतिक विकास को प्राकृतिक यज्ञ कहा गया है । इसके संचालकों को देवगण कहा गया है ।[१२] ऋतुचक्र के तुल्य ही अहोरात्रचक्र, मासचक्र, वर्षचक्र आदि चक्र चल रहे हैं ।

विराट् से चारों वेद – सभी वेदों में वर्णन है कि उस यज्ञरूप विराट् पुरुष से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद, ये चारों वेद उत्पन्न हुए ।[१३] मंत्र में अथर्ववेद के लिए छन्दस् शब्द का प्रयोग किया गया है ।

विराट् से चारों वर्ण – विराट् पुरुष से चारों वर्णों की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए कहा गया है कि ब्राह्मण विराट् के मुख-सदृश हैं, क्षत्रिय उसके बाहु हैं, वैश्य उसके मध्यभाग (उदर, जंघा) के सदृश हैं और शूद्र उसके पैर के तुल्य हैं ।[१४] चारों वर्ण विराट् के अवयव के रूप में हैं।

४-५. स एव जातः स जनिष्यमाणः० । यजु० ३२.४
४-६. त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी । यजु० ३२.५
४-७. येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा० । यजु० ३२.६
४-८. तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः० । यजु० ३१.७
४-९. विराड् वै यज्ञः । शत०ब्रा० १.१.१.२२
४-१०.ऊर्ग् विराट् । तैत्ति० ब्रा० १.२.२.२
४-११.वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद् हविः । यजु० ३१.१४
४-१२.यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः, तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् । यजु० ३१.१६
४-१३.तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि ।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ।। ऋग्० १०.९०.९ । यजु० ३१. ७
४-१४.ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः । ऋग्० १०.९०.१२ । यजु० ३१.११

५. विराट् से सृष्टि-उत्पत्ति

सृष्टि विराट् का एक अंशमात्र – यह पूरा ब्रह्माण्ड विराट् की शक्ति का चतुर्थांश या अंशमात्र है । उसकी शक्ति का तीन-चौथाई अंश इस ब्रह्माण्ड के बाहर है ।[१] इसका अभिप्राय यह है कि उस परमात्मा या विराट् की शक्ति का कहीं अन्त नहीं है । वह अनन्त, अप्रमेय, अनिर्वचनीय और अवर्णनीय है । यह सारी सृष्टि उसकी शक्ति का अंशमात्र है । अतिरिक्त अंश अव्यक्त होने के कारण अदृश्य है ।

विराट् से पंचभूत आदि – विराट् पुरुष से ही चर और अचर, स्थावर और जंगम जगत् की उत्पत्ति हुई है ।[२] चर के लिए 'साशन' (खाने वाला, भोजन आदि करने वाला) शब्द है और अचर या स्थावर के लिए 'अनशन' (भोजन न करने वाला) शब्द दिया गया है ।

विराट् पुरुष के विभिन्न अंगों से विविध लोकों आदि की सृष्टि की कल्पना की गई है । विराट् पुरुष की नाभि से अन्तरिक्ष की उत्पत्ति हुई और शिरोभाग से द्युलोक की । उसके पैर से भूमि और श्रोत्र (कान) से दिशाएं उत्पन्न हुईं । इसी प्रकार उसके अन्य अवयवों से विभिन्न लोक उत्पन्न हुए ।[३] उसके मन से चन्द्रमा की उत्पत्ति हुई तथा चक्षु से सूर्य की । श्रोत्र से वायु और प्राण की उत्पत्ति हुई तथा मुख से अग्नि की ।[४] उस विराट् पुरुष से ही गाय, अश्व आदि प्राणी तथा ग्राम्य, जंगली और आकाशीय सभी पशु-पक्षी आदि उत्पन्न हुए ।[५]

हिरण्यगर्भ – उस विराट् पुरुष को ही हिरण्यगर्भ, प्रजापति आदि नामों से संबोधित किया गया है । ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद आदि में इस हिरण्यगर्भ का बहुत विस्तार से वर्णन है । सृष्टि का प्रारम्भ हिरण्यगर्भ से होता है ।[६]

हिरण्यगर्भ क्या है ? – विराट् पुरुष या प्रजापति को हिरण्यगर्भ कहा गया है । इसका अभिप्राय यह है कि वह विराट् पुरुष ज्योतिर्मय तत्त्व है । वह अमर, अनश्वर और शाश्वत है । 'हिरण्यं गर्भे यस्य सः' जिसके गर्भ में हिरण्य है । ब्राह्मण ग्रन्थों में इस हिरण्य का अर्थ स्पष्ट किया गया है कि ज्योति या तेज को हिरण्य कहते हैं ।[७] शतपथ ब्राह्मण ने हिरण्य का अर्थ अमृत लिया है अर्थात् वह अमर है, अनश्वर है, सदा रहने वाला है ।[८] यह ज्योतिर्मय और अमर तत्त्व जिसके गर्भ या मूल में है, उसे हिरण्यगर्भ कहते हैं । इससे ज्ञात होता है कि विराट् पुरुष या प्रजापति ज्योतिर्मय पुंज है । यह अमर और अनश्वर है ।

५-१. पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि । यजु० ३१.३
५-२. साशनानशने अभि । यजु० ३१.४
५-३. नाभ्या आसीदन्तरिक्षम्०। यजु० ३१.१३
५-४. चन्द्रमा मनसो जातः० । यजु० ३१.१२
५-५. यजु० ३१.४ से ८
५-६. हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे० । ऋग्० १०.१२१.१ । यजु० १३.४ । अ० ४.२.७
५-७. ज्योतिर्वै हिरण्यम् । शत० ६.७.१.२ । तैत्ति० १.४.४.१
५-८. अमृतं वै हिरण्यम् । शत० ९.४.४.५ । तैत्ति० १.३.७.७

इस हिरण्यगर्भ सूक्त से ज्ञात होता है कि विराट् पुरुष को एक ज्योतिपुंज के रूप में चित्रित किया गया है । वह सर्वशक्तिमान् है । वह द्युलोक और पृथिवी का आधार है ।[९] वह आत्मिक और शारीरिक शक्ति देने वाला है । उसकी कृपा से अमरत्व की प्राप्ति होती है, उसकी अकृपा ही मृत्यु है ।[१०] वह चराचर जगत् का स्वामी है,[११] उसने द्युलोक और पृथिवी को अपनी शक्ति से रोका हुआ है । उसने ही अन्तरिक्ष में ग्रह नक्षत्रादि को स्थापित किया हुआ है ।[१२] सारी दिशाएं उसके बाहु के तुल्य हैं । हिमयुक्त पर्वत और समुद्र उसकी कृपा पर निर्भर हैं ।[१३]

इस सूक्त से ज्ञात होता है कि हिरण्यगर्भ विराट् पुरुष का ही एक रूप है और वह सारे संसार का स्वामी है । उसकी कृपा से ही संसार में सुख-शान्ति की प्राप्ति होती है । वह मानवमात्र की कामनाओं को पूर्ण करने वाला है । अतएव उसकी उपासना की जाती है ।

६. विराट् पुरुष की प्राप्ति के उपाय

यजुर्वेद में कहा गया है कि वह विराट् पुरुष सूर्यवत् ज्योतिर्मय है । उसको जानना आवश्यक है । उसको जानकर ही मनुष्य मृत्यु के बन्धन से छूट पाता है और परब्रह्म को प्राप्त कर सकता है । मुक्ति का कोई अन्य उपाय नहीं है ।[१] केन उपनिषद् में भी यही भाव व्यक्त किया गया है कि मानव जीवन का लक्ष्य है -परमात्मा का ज्ञान, आत्मज्ञान और आत्मसाक्षात्कार । यदि मनुष्य अपने जीवन में इस लक्ष्य को नहीं प्राप्त कर पाता है तो उसका जीवन व्यर्थ है । इसलिए प्रत्येक जीव में आत्मतत्त्व की सत्ता को जानकर ही मनुष्य अमर एवं मुक्त होता है ।[२]

यजुर्वेद का कथन है कि वह विराट् पुरुष संसार में ताने-बाने की तरह ओत-प्रोत है । उससे ही संसार उत्पन्न होता है और अन्त में उसमें ही लीन हो जाता है । वह सारे संसार का आश्रय-स्थल (नीड) है ।[३]

५-९. स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम् । ऋग्० १०.१२१.१
५-१०. य आत्मदा बलदा० । ऋग्० १०.१२१.२
५-११. यः प्राणतो...एक इद् राजा जगतो बभूव । ऋग्० १०.१२१.३
५-१२. येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा० । ऋग्० १०.१२१.५
५-१३. यस्येमे हिमवन्तो महित्वा० । ऋग्० १०.१०१.४
६-१. वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्० ।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति० । यजु० ३१.१८
६-२. इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति,
न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः । केन उप० २.५
६-३. यत्र विश्वं भवत्येकनीडम् ।
स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु । यजु० ३२.८

उसकी प्राप्ति के मुख्य उपाय ये बताए गए हैं-

१. आत्मचिन्तन - यजुर्वेद का कथन है कि चिन्तन के द्वारा ही विद्वान् उस विराट् पुरुष का दर्शन कर पाते हैं ।[४] चिन्तन क्या है ? चिन्तन का अभिप्राय है कि साधक प्रतिक्षण उस आत्मतत्त्व का ध्यान करे, मनन करे और उसके विषय में सोच-विचार करे। किसी भी तत्त्व के निरन्तर ध्यान-चिन्तन से उसका स्वरूप धीरे-धीरे स्पष्ट हो जाता है ।

२. अभीप्सा - किसी वस्तु की प्राप्ति के लिए उत्कट अभिलाषा को अभीप्सा कहते हैं । जब तक हृदय में यह अभीप्सा जागृत नहीं होती है, तब तक किसी सूक्ष्म तत्त्व का न ज्ञान हो पाता है और न उसकी प्राप्ति । योगदर्शन में इस अभीप्सा के लिए तीव्र-संवेग शब्द आया है ।[५] यजुर्वेद में इस अभीप्सा के लिए 'वेन' शब्द है । वेन का अर्थ है - कामना, इच्छा, अभीप्सा । मंत्र का कथन है कि वह आत्मा मनुष्य के हृदय में गुप्त रूप से विद्यमान है । जब तीव्र अभिलाषा या अभीप्सा जागृत होती है, तभी मनुष्य उस आत्मा का साक्षात्कार कर पाता है ।[६]

३. तप और मनोनिग्रह - अथर्ववेद का कथन है कि इस विराट्रूपी ब्रह्म को विद्वान् तप से जान सकता है । इसके लिए अपने मन को उसमें लगाना होता है ।[७] साधक जब अपने मन को सब विषयों से रोककर केवल ब्रह्म में लगा देता है, तब ब्रह्म का ज्ञान और साक्षात्कार होता है ।

४. ब्रह्म और तप - विराट् पुरुष को ऋषियों ने 'ब्रह्मण्वती' कहा और उसकी प्राप्ति के लिए उन्होंने ब्रह्म और तप को चुना ।[८] इसका अभिप्राय है कि ब्रह्मज्ञान के लिए तप या साधना अनिवार्य है । उसके साथ ही आत्मचिन्तन, स्वाध्याय और जिज्ञासा भी आवश्यक है । ब्रह्म से अभिप्राय आत्मचिन्तन से है । चिन्तन से तादात्म्य की स्थापना होती है और उससे तद्रूपता प्राप्त होती है । इस साधना का फल बताया गया है कि साधक ब्रह्मवर्चस्वी होता है ।

५. तन्मयता, तद्रूपता - यजुर्वेद के दो मंत्रों में तन्मयता को ब्रह्मप्राप्ति का साधन बताया गया है ।[९] मंत्र का कथन है कि वह विराट् पुरुष सारी दिशाओं और सारे लोकों में व्याप्त है । उस विराट् को सर्वव्यापी जानकर मनुष्य अपनी तन्मयता से उस विराट् ब्रह्म में प्रवेश कर जाता है, अर्थात् अपनी तन्मयता से वह ब्रह्मरूप हो जाता है ।[१०]

६-४. तस्य योनिं परि पश्यन्ति धीराः । यजु० ३१.१९
६-५. तीव्रसंवेगानाम् आसन्नः । योग १.२१
६-६. वेनस्तत् पश्यन्निहितं गुहा सत् । यजु० ३२.८
६-७. ब्रह्मैनद् विद्यात् तपसा.... यस्मिन् एकं युज्यते । अ० ८.९.३
६-८. तद् ब्रह्म च तपश्च सप्तऋषय उप जीवन्ति । अ० ८.१०.(४) १६
६-९. यजु० ३२.११ और १२
६-१०. आत्मनाऽऽत्मानमभि सं विवेश । यजु० ३२.११

दूसरे मंत्र में कहा गया है कि जब साधक यह जान जाता है कि वह विराट् पुरुष सारे द्युलोक और भूमंडल में ऋत (प्राकृतिक नियम) के रूप में ओत-प्रोत है तो वह सर्वत्र आत्मतत्त्व का दर्शन करता है और वह इस दृष्टि के कारण आत्मा का साक्षात्कार करता है, तद्रूप हो जाता है और आत्मनिष्ठ हो जाता है ।[११]

६. आत्मज्ञान से ब्रह्मतेज - यजुर्वेद का कथन है कि जिसको आत्मज्ञान हो जाता है, उसे ब्रह्मतेज प्राप्त होता है और देवता उसके वश में हो जाते हैं अर्थात् दैवी शक्तियाँ और विभूतियाँ उसे प्राप्त हो जाती हैं ।[१२]

❊❊

६-११. ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य
तदपश्यत् तदभवत् तदासीत् । यजु० ३२.१२

६-१२. रुचं ब्राह्मं जनयन्तो ....तस्य देवा आसन् वशे । यजु० ३१.२१

अध्याय ३

ब्रह्म

१. ब्रह्म का स्वरूप

वेदों में ब्रह्म को सृष्टि का कर्ता धर्ता और संहर्ता बताया गया है । वह विश्व की सर्वोच्च सत्ता है । वह ज्योतिर्मय है । वह हृदय-मन्दिर में विराजमान है । वह अद्वितीय सत्ता है । उसके ही विभिन्न रूप सब देवगण हैं । वह तप से जाना जाता है । वह ऋत का तन्तु है । वह सारे संसार में ओत-प्रोत होकर विद्यमान है ।

ब्रह्म सर्वोच्च सत्ता है - यजुर्वेद का कथन है कि ब्रह्म सृष्टि की सर्वप्रथम सत्ता है । वह सत् और असत् (मूर्त और अमूर्त) का कारण है ।[1] अथर्ववेद में ब्रह्म को ज्येष्ठ अर्थात् सबसे श्रेष्ठ सत्ता बताया गया है । वह सारे प्रकाशों का प्रकाशक है । उससे ही ज्योतिर्मय सूर्य आदि की उत्पत्ति हुई है ।[2] वह चर और अचर (स्थावर और जंगम) सबमें समान रूप से विद्यमान है ।[3]

ब्रह्म ज्योतिर्मय है - यजुर्वेद में प्रश्नोत्तर के रूप में कुछ मन्तव्य प्रकट किए गए हैं । प्रश्न किया गया है कि सूर्य के समान ज्योतिर्मय कौन है ? उसका उत्तर दिया गया है कि ब्रह्म सूर्य के तुल्य ज्योतिर्मय है ।[4] अथर्ववेद का कथन है कि ब्रह्म ही अद्वितीय ज्योतिपुंज है । वही अनेक रूप में सर्वत्र प्रकाशित हो रहा है ।[5] इसका अभिप्राय है कि ब्रह्म महाज्योति है । उससे ही अन्य सभी ज्योतिर्मय पदार्थ सूर्य ग्रह आदि प्रकाशित हो रहे हैं।

ब्रह्म एक है - अथर्ववेद के कांड १३ में ब्रह्म के एकत्व का बहुत विस्तार से वर्णन हुआ है । अथर्ववेद का कथन है कि वह ब्रह्म एक ही है, वह समष्टि रूप में एक ही है । सारे देवता समष्टि रूप होकर एक ब्रह्म ही रह जाते हैं । इस एकीकरण की प्रक्रिया को 'एकवृत्' कहा जाता है ।[6] अथर्ववेद में इसी का विस्तार करते हुए कहा गया है कि वह न दो है, न तीन, न चार, न दस और न सौ आदि । इसलिए उसे दूसरा, तीसरा आदि नहीं कह सकते । वह केवल एकमात्र सत्ता है ।[7]

१-१. ब्रह्म जज्ञानं प्रथमम् ....
सतश्च योनिम् असतश्च वि वः । यजु० १३.३

१-२. तदिदास भुवनेषु ज्येष्ठम्० । अथर्व० ५.२.१

१-३. अव्यनच्च व्यनच्च सस्नि० । अ० ५.२.२

१-४. ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः । यजु० २३.४८

१-५. यदेकं ज्योतिर्बहुधा विभाति । अ० १३.३.१७

१-६. स एष एक एकवृद् एक एव ।
एते अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति । अ० १३.४. १२-१३

१-७. न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते० । अ० १३.५. १६-१८

ब्रह्म एक ही सर्वरूप है - ऋग्वेद का कथन है कि वह ब्रह्म ही पिता, विधाता, विश्वकर्मा आदि है । उस एक के ही अनेक नाम हैं । वह अनेक देवों के नाम से विख्यात है ।[८] अथर्ववेद में इसका बहुत विस्तार से उल्लेख है । अथर्ववेद का कथन है कि उस एक ब्रह्म के ही अर्यमा, वरुण, रुद्र, महादेव, अग्नि, सूर्य महायम, मृत्यु, अमृत, महाशक्ति (अभ्व) आदि नाम हैं । चन्द्रमा और सारे नक्षत्र आदि उसी के आदेशानुसार काम करते हैं।[९]

सनातन और नूतन - अथर्ववेद में बहुत रोचक ढंग से लिखा है कि ब्रह्म सनातन और नूतन या प्राचीन और नवीन दोनों हैं, जैसे दिन रात । दिन-रात जो बीत गए, वे प्राचीन हो गए और जो अब विद्यमान हैं, वे नवीन हैं । सनातन का विकास ही नवीन है । यह विकास की प्रक्रिया है । सनातन और नूतन में कोई मौलिक भेद नहीं है । केवल रूप का परिवर्तन है ।[१०] प्राचीन को नवीन रूप में प्रस्तुत कीजिए, वह नवीन हो जाता है । इसी प्रकार नवीन को प्राचीन रूप में प्रस्तुत कीजिए, वह प्राचीन कहा जाएगा । यह सभ्यता के विकास का उदाहरण है ।

ब्रह्म तीनों लिंग है - अथर्ववेद में वर्णन किया गया है कि वह ब्रह्म ही पुंलिंग और स्त्रीलिंग दोनों है । वह कुमार भी है और कुमारी भी ।[११] ब्रह्म शब्द स्वयं नपुंसकलिंग है । इस प्रकार ब्रह्म तीनों लिंग है । वस्तुतः ब्रह्म अलिंग (लिंग-रहित) है । ब्रह्म न पुरुष है, न स्त्री और न नपुंसक लिंग । ब्रह्म आत्मा या ऊर्जा है । उसका न कोई रूप है, न रंग, न लिंग । वह जिसके साथ संबद्ध होता है, उसका वही रूप, रंग और लिंग हो जाता है । इसलिए ब्रह्म के नाम ईश्वर, शक्ति, देवी, देवता आदि सभी हैं ।

पूर्ण से पूर्ण की उत्पत्ति - अथर्ववेद का कथन है कि पूर्ण से पूर्ण की उत्पत्ति होती है । उस पूर्ण का पूर्ण ही पालन करता है । उस पालक पूर्ण को जानना चाहिए ।[१२] इसका अभिप्राय है कि उस पूर्ण ब्रह्म से यह सृष्टि, जो कि पूर्ण है, उत्पन्न हुई है । इस सृष्टि का पालक-पोषक और भरण करने वाला वह पूर्ण ब्रह्म है । संसार में यह पूर्ण ब्रह्म ही जानने योग्य है । इस मंत्र के आधार पर ही **'पूर्णमदः पूर्णमिदं०'** मंत्र की रचना हुई है ।

ब्रह्म और माया - अथर्ववेद में ब्रह्म के साथ माया का भी उल्लेख है । इस माया शब्द को लेकर वेदान्तदर्शन में माया का बहुत वर्णन मिलता है । ब्रह्म माया से ढका हुआ

१-८. यो नः पिता जनिता यो विधाता,
यो देवानां नामधा एक एव । ऋग्० - १०.८२. २ और ३

१-९. स वरुणः स रुद्रः स महादेवः० । अ० ८.४.३ से ५ । ८.६.२५ से २८

१-१०. सनातनमेनमाहुरुताद्य स्यात् पुनर्णवः ।
अहोरात्रे प्र जायेते अन्यो अन्यस्य रूपयोः । अ० १०.८.२३

१-११. त्वं स्त्री त्वं पुमानसि, त्वं कुमार उत वा कुमारी । अ० १०.८.२७

१-१२. पूर्णात् पूर्णमुदचति, पूर्णं पूर्णेन सिच्यते । अ० १०.८.२९

है । माया का अर्थ है - अविद्या या अज्ञान । इस अज्ञान के कारण ब्रह्म के शुद्ध रूप का दर्शन नहीं हो पाता है । अथर्ववेद का कथन है कि जिस प्रकार चक्र के अरे चक्र की नाभि से जुड़े रहते हैं, उसी प्रकार सारे देवता और मनुष्य उस ब्रह्म से जुड़े हुए हैं । माया से ढके होने के कारण हम उसके शुद्ध रूप को नहीं जान पाते हैं ।[१३]

ब्रह्म सूत्रात्मा है - सारे जीव-जगत् को एक सूत्र में बांधने वाली एक शक्ति है । उस शक्ति का नाम आत्मा, परमात्मा या ब्रह्म है । अतएव मानवमात्र में एकत्व की अनुभूति होती है । इसी आधार पर विश्व-बन्धुत्व, विश्वप्रेम, विश्वहित आदि की प्रेरणा प्राप्त होती है । अथर्ववेद में इसी सूत्रात्मा का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि सूत्र के सूत्र (धागा, तन्तु) को जो जान लेता है, वह महान् ब्रह्म को जान लेता है । सारा संसार उसीमें ओत-प्रोत है ।[१४] इस सूत्रात्मारूपी ब्रह्म को जान लेने से सारे जीव-जगत् से एकत्व की अनुभूति होती है ।

ब्रह्म हंस है - ऋग्वेद अथर्ववेद और यजुर्वेद में ब्रह्म को हंस कहा गया है और उसे त्रिवृत् बताया गया है ।[१५] ब्रह्म को हंस कहने के दो अभिप्राय हैं - १. हंस का गुण है- नीर-क्षीर-विवेक । हंस जल में से दूध को पृथक् करके उसे पी लेता है । यह नीर-क्षीर-विवेक का गुण ब्रह्म में है । वह सत्-असत् , सत्य-असत्य, हेय-उपादेय, ऋत-अनृत, कर्तव्य-अकर्तव्य, गुण-दोष का विवेचन करके उपादेय को स्वीकार करने की प्रेरणा देता है । २. हंस का दूसरा गुण है - जल में रहते हुए भी जल से निर्लेप रहना । हंस पर जल का प्रभाव नहीं होता है । इस निर्लेपता, अनासक्ति, असंग और निःस्पृहता के कारण ब्रह्म जगत् के कण-कण में व्याप्त होने पर भी निर्लेप है ।

इस मंत्र में ब्रह्मरूपी हंस को 'त्रिवृत्' कहा गया है । त्रिवृत् का अर्थ है -तिहरापन, तीन गुणों या तत्त्वों का समावेश । ब्रह्म में इन तीन तत्त्वों का समावेश है - परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति । जीवात्मा ब्रह्म का एक छोटा सा अंश है, अतः ब्रह्म और जीव सम्बद्ध हैं । ब्रह्म प्रकृति का निमित्त कारण है, अतः कार्य-कारण-सम्बन्ध से नह प्रकृति से सम्बद्ध है । इस प्रकार ब्रह्म-जीव-प्रकृति का समन्वय है । इस समन्वित रूप को ही त्रिवृत् या त्रिवृत्करण कहते हैं ।

ऋग्वेद और यजुर्वेद में भी ब्रह्म या ईश्वर का हंस के रूप में वर्णन है ।[१६] इस मंत्र में मुख्य बातें ये दी गई हैं - **१. शुचिषद्** - वह पवित्र स्थान पर ही निवास करता है ।

१-१३. यत्र देवा मनुष्याश्च ... यत्र तन्मायया हितम् । अ० १०.८.३४

१-१४. सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात् स विद्याद् ब्राह्मणं महत् । अ० १०.८.३७-३८.

१-१५. त्रिवृतं च हंसम् । अ० १०.८.१७

१-१६. हंसः शुचिषद् , अतिथिः, नृषद् , वरसद्, ऋतसद् ,
ऋतजाः, ऋतम् , बृहत् । ऋग् ० ४.४०.५ । यजु० १०.२४

२. अतिथि :- वह मानवशरीर में अतिथि के रूप में रहता है । ३. **नृषद्** - मानवमात्र के हृदय में है । ४. **वरसद्** - श्रेष्ठ या पवित्र आत्माओं के हृदय में ही उसका प्रकाश होता है। ५. **ऋतसद्** - सत्यप्रियता, सत्यनिष्ठा से ही उसको प्रतिष्ठित किया जा सकता है । ६. **ऋतजाः** - सत्य को अपनाने से ही ब्रह्मनिष्ठा एवं तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति होती है । ७. **ऋतम्** - वह सत्य स्वरूप है । ८. **बृहत्** - वह संसार की सर्वश्रेष्ठ शक्ति है ।

ब्रह्म और ब्रह्मचक्र - अथर्ववेद में इस सारे जगत् को एक चक्र के रूप में प्रस्तुत किया गया है । इसको ब्रह्मचक्र या ब्रह्माण्डरूपी चक्र कहा जाता है । इसकी एक नाभि है, अर्थात् एक केन्द्रबिन्दु ब्रह्म है । इस एक चक्र वाले रथ में हजारों अरे (डंडे) लगे हुए हैं अर्थात् उस ब्रह्म की हजारों शक्तियाँ इस चक्र में लगी हुई हैं । यह चक्र आगे पीछे अर्थात् सब ओर चलता है । ब्रह्म ने अपनी आधी शक्ति से इस सारे संसार को बनाया है । इसकी आधी शक्ति अज्ञात या अव्यक्त है ।[१७]

अथर्ववेद में ब्रह्म के इस अव्यक्त रूप के विषय में कहा गया है कि वह ब्रह्म न पृथिवी पर है और न द्युलोक में । वह दोनों से बाहर भी है और दोनों के अन्दर व्याप्त है, इसका अभिप्राय है कि ब्रह्म निर्लेप और असंग है, अतः वह दोनों से पृथक् है । वह कण-कण में व्याप्त है, अतः द्युलोक और पृथिवी दोनों में व्याप्त है । उसकी सत्ता से ही वृक्षों और वनस्पतियों में जीवन-शक्ति है ।[१८]

ब्रह्म अव्यक्त है और सर्वव्यापी है, अतः उसमें विरोधी गुणों का समावेश है । अतः यजुर्वेद में कहा गया है कि वह गतिशील है और गतिरहित है । वह दूर है और समीप है । वह सबके अन्दर विद्यमान है और सबसे बाहर है ।[१९] इसका अभिप्राय यह है कि वह शक्ति का स्रोत है । उसकी सत्ता से ही सर्वत्र गति और प्रगति है । वह सर्वत्र है, अतः उसे कहीं आने-जाने की आवश्यकता नहीं है । वह दूर से दूर स्थान पर है, अतः दूर है ; सबके हृदय में है, अतः समीप है । इसको ही अथर्ववेद में कहा गया है कि उसकी स्थिरता दिखाई पड़ती है, गति नहीं । वह दूर होते हुए भी समीप है और समीप होते हुए भी दूर है ।[२०] इसका अभिप्राय है कि जब तक आत्मज्ञान नहीं होता है, तब तक समीप होते हुए भी दूर है । आत्मज्ञान होने पर वह दूरस्थ होने पर भी समीपस्थ हो जाता है ।

१-१७.एकचक्रं वर्तत एकनेमि सहस्राक्षरं०.... ।
अर्धेन विश्वं भुवनं जजान० । अ० १०.८.७

१-१८.न तत् पृथिव्यां नो दिवि, येन प्राणन्ति वीरुधः । अ० १.३२.१

१-१९.तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके. । यजु ४०.५

१-२०.अयातमस्य ददृशे न यातं, परं नेदीयोऽवरं दवीयः । अ० १०.८.८

२. ब्रह्म की नगरी

ब्रह्म को पुरुष या विराट् पुरुष कहा जाता है । यह शरीर उसका निवास स्थान है, अत: शरीर को ब्रह्म की नगरी कहते हैं ।[१] पुरुष शब्द की व्युत्पत्ति है –'पुरि शेते इति पुरुष:', या 'पुरि वसति इति पुरुष:' पुर् + वस् से पुरुष शब्द बना है । शरीररूपी नगरी में निवास करता है, अत: ब्रह्म को पुरुष या परम पुरुष कहते हैं । अथर्ववेद का कथन है कि यह शरीर देवों की नगरी है । इसे अयोध्या नगरी कहते हैं । इसमे ८ चक्र और ९ द्वार हैं। इसमें एक सुनहरी कोश है, वह ज्योतिर्मय है ।[२] यह ज्योतिर्मय कोश ही ब्रह्म है, जो इस शरीररूपी अयोध्या में विराजमान है ।

अथर्ववेद में इस शरीररूपी अयोध्या का वर्णन एक दुर्ग के तुल्य किया गया है । इसमें ९ द्वार हैं- दो आँख, दो कान, दो नाक, एक मुख, मलेन्द्रिय और मूत्रेन्द्रिय ।

शरीर में ८ चक्र हैं । ये शक्ति के केन्द्र हैं । अंग्रेजी में इन चक्रों को Plexus (प्लेक्सस, नाडी-गुच्छ) कहते हैं । इन चक्रों या केन्द्रों पर अनेक नाड़ियां गुच्छे के तुल्य एकत्र हैं । योगशास्त्र के अनुसार इन केन्द्रों पर ध्यान केन्द्रित करने से अनेक विभूतियां प्राप्त होती हैं । इन ८ चक्रों का संक्षिप्त विवरण यह है -

१. मूलाधार चक्र (Coccygeal Plexus) - यह गुदा से दो अंगुल ऊपर है । इसमें ही कुंडलिनी शक्ति का निवास है । साधना के द्वारा कुंडलिनी शक्ति को जागृत करने पर दिव्य शक्ति एवं अलौकिक प्रतिभा प्राप्त होती है ।

२. स्वाधिष्ठान चक्र (Sacral Plexus) - यह मूलाधार चक्र से दो अंगुल ऊपर पेड़ू के समीप है । इस पर ध्यान केन्द्रित करने से संयम और ब्रह्मचर्य की शक्ति बढ़ती है । जिह्वा पर सरस्वती का निवास होता है ।

३. मणिपूर चक्र (Solar Plexus) - इसे नाभिचक्र भी कहते हैं । यह ठीक नाभि में है । इस पर ध्यान केन्द्रित करने से तेजस्विता प्राप्त होती है और मन की चंचलता शान्त होती है ।

४. अनाहत चक्र (Cardiac Plexus) - इसे हृत् - चक्र भी कहते हैं । यह हृदय के मध्य में हैं । यह जीवात्मा का निवास- स्थान माना गया है । इसको हृदय-कमल भी कहते हैं । इस पर ध्यान केन्द्रित करने से भक्ति-भावना, कवित्व शक्ति और वाक्-सिद्धि जागृत होती है ।

५. विशुद्ध चक्र (Carotid Plexus) - यह कंठकूप में है । इस पर ध्यान केन्द्रित करने से मन शान्त होता है । व्यक्ति महाज्ञानी होता है ।

२-१. पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्या: पुरुष उच्यते । अ० १०.२.३०

२-२. अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या । अ० १०.२.३१

६. **आज्ञा चक्र** (Cerebral Plexus) - यह दोनों भ्रुवों के मध्य में भृकुटी के अन्दर स्थित है । यह दिव्य दृष्टि का केन्द्र है । इसे शिव का तृतीय नेत्र कहते हैं । इस चक्र के खुलने पर अन्य चक्र सरलता से खुल जाते हैं । इस चक्र पर ध्यान केन्द्रित करने से दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है और विविध सिद्धियां प्राप्त होती हैं ।

७. **सहस्रार चक्र** (Cerebellum Plexus) - यह मस्तिष्क में दोनों कनपटियों से दो-दो इंच अन्दर और कोमल तालु से लगभग दो अंगुल ऊपर है । इसको 'ब्रह्मरन्ध्र' और 'दशम द्वार' भी कहते हैं । यह एक ज्योतिपुंज के रूप में है । सहस्रार चक्र शक्तियों का पुंज है । यहां से सहस्रों शक्ति की धाराएं बहती हैं । यह मस्तिष्क का केन्द्र है। इस पर ध्यान केन्द्रित करने से आत्मिक आनन्द और दिव्य विभूतियां प्राप्त होती हैं ।

८. **ललना चक्र** - यह जिह्वामूल में है ।

योगशास्त्र में प्रथम सात चक्रों का ही विशेष रूप से वर्णन प्राप्त होता है । ललना चक्र कम प्रसिद्ध है ।

३. ब्रह्म और वाक्तत्त्व

ऋग्वेद में प्रश्न उठाया गया है कि वाणी का मूल कारण या उत्पत्ति- स्थान क्या है ? इसका उत्तर दिया गया है कि ब्रह्म या ब्रह्मा वाणी का मूल कारण है, ब्रह्म से ही वाणी का जन्म हुआ है ।[१]

वाक्तत्त्व का महत्त्व - शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि प्रजापति की महिमा का बोध वाणी से ही होता है ।[२] वाणी वस्तुतः परमात्मा का प्रत्यक्ष रूप है । वाणी के द्वारा ही परमात्मा की गरिमा ज्ञात होती है । अतएव ऐतरेय ब्राह्मण में वाणी को ब्रह्म कहा गया है ।[३] वाणी ब्रह्म का रूप है, अतः वाणी को ब्रह्म कहा गया है । वाणी की महिमा अनन्त है । सारा वाङ्मय वाणी का विराट् रूप है । अतः शतपथ ब्राह्मण में वाणी को विराट् या विराट् ब्रह्म कहा गया है ।[४] वाणी विचारों को प्रकट करती है । उसके आधार पर ही संसार के सभी धर्म-कर्म होते हैं, अतः शतपथ ब्राह्मण में वाणी को विश्वकर्मा कहा गया है, क्योंकि वाणी से ही सब काम किए जाते हैं ।[५] मन के भावों को प्रकट करने का केवल एक ही साधन है और वह है वाणी । अतः वाणी को मन की एक नहर कहा गया है ।[६] वाणीरूपी नहर से मन के विचार एवं संकल्परूपी जल प्रवाहित होता है । अतएव वाणी और मन को एक युगल (जोड़ा) कहा जाता है ।

३-१. ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम । ऋग्० १.१६४.३५

३-२. वाग् वा अस्य (प्रजापतेः) स्वो महिमा । शत० २.२.४.४

३-३. वाग् वै ब्रह्म । ऐत० ब्रा० ६.३

३-४. वाग् वै विराट् । शत० ३.५.१.३४

३-५. वाग् वै विश्वकर्मा- ऋषिः, वाचा हीदं सर्वं कृतम् । शत० ८.१.२.९

३-६. तस्य (मनसः) एषा कुल्या यद् वाक् । जैमि० उप० ब्रा० १.५८.३

वाक्तत्त्व और ब्रह्म की समानता - ब्रह्म सर्वव्यापक है । वह सारी पृथिवी और सारे द्युलोक में व्याप्त है । संसार के कण-कण में ब्रह्म व्याप्त है । इसी प्रकार वाणी भी सारी पृथिवी और सारे आकाश में व्याप्त है । अतएव ऋग्वेद में कहा गया है कि जहां तक ब्रह्म व्याप्त है, वहां तक वाणी भी व्याप्त है ।[७]

ब्रह्म के चार पैर - अथर्ववेद में ब्रह्म को अपाद् (बिना पैर का), द्विपाद् (दो पैर वाला), त्रिपाद् (तीन पैर वाला) और चतुष्पाद् (चार पैर वाला) वर्णन किया गया है ।[८] यह ब्रह्म के अव्यक्त और व्यक्त रूपों के आधार पर भेद किया गया है । ब्रह्म अव्यक्त और अनिर्वचनीय है, अतः उसको अपाद् (बिना पैर का) कहा गया है । अव्यक्त और व्यक्त भेद करने पर वह दो रूपों वाला होने से द्विपाद् हो जाता है । व्यक्त के नाम और रूप दो भेद करने पर वह त्रिपाद् हो जाता है । इसको शास्त्रीय भाषा में परा, पश्यन्ती और मध्यमा भेद होने से त्रिपाद् ब्रह्म कहते हैं । वाक्तत्त्व के ये तीन भेद शरीर के अन्दर अव्यक्त रूप में रहते हैं । ये तीनों भेद देखे नहीं जा सकते हैं । वाक्तत्त्व की चतुर्थ अवस्था वैखरी वाणी है । यह मनुष्य के गले से स्पष्ट रूप से उच्चरित वाणी है । इन चार अवस्थाओं के आधार पर **चत्वारि 'वाक्'** वाणी के चार भेद बताए गए हैं ।[९]

ऋग्वेद और अथर्ववेद का कथन है कि वाणी के चार भेद हैं । इन भेदों को ब्रह्मज्ञ ही जान पाते हैं । इनमें से तीन भेद बुद्धिरूपी गुफा में विद्यमान हैं और इनमें कोई शारीरिक चेष्टा नहीं होती है । केवल चतुर्थ वैखरी वाणी को ही मनुष्य बोलते हैं ।

परा आदि वाणियां - व्याकरणदर्शन के अनुसार परा आदि वाणियों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है -

१. परा वाणी - परा वाणी शुद्ध ज्ञानरूप है । वह विश्वव्यापी है । यह शान्त समुद्र के तुल्य निश्चल और निष्क्रिय है । यह अक्षय है, विनाशरहित है । इस अवस्था में यह अपने शुद्ध शब्दब्रह्म के रूप में विद्यमान है । यह वाणी की अव्यक्त एवं सूक्ष्मतम अवस्था मानी जाती है । योगी ही इसके शुद्धरूप का साक्षात्कार कर पाते हैं ।

२. पश्यन्ती वाणी - जब किसी विचार या भाव को प्रकट करने की इच्छा होती है, तब पश्यन्ती वाणी का कार्य प्रारम्भ होता है । शान्त समुद्र में छोटी तरंग के तुल्य विचाररूपी तरंग वाक्तत्त्व में प्रकट होते हैं । इन विचारों को व्यक्त करने की भावना का

३-७. यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक् । ऋग्० १०.११४.८

३-८. अपादग्रे समभवत् ०
चतुष्पाद् भूत्वा भोग्यः सर्वमादत्त भोजनम् । अ० १०.८.२१

३-९. चत्वारि वाक् परिमिता पदानि० ।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति
तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति । ऋग्० १.१६४.४५ । अ० ९.१०.२७

उदय होना और शान्त समुद्र में थोड़ी हलचल का होना, तरंगें उठना और विचारों की अभिव्यक्ति की प्रक्रिया का प्रारम्भ होना पश्यन्ती अवस्था है । यह प्रारम्भिक एवं द्वितीय अवस्था है । यह मस्तिष्क तक सीमित है, अतः अव्यक्त है । योगी ही विचारों के उदय होने की प्रक्रिया को देख सकते हैं ।

३. मध्यमा वाणी - यह तृतीय अवस्था है । इसमें शरीरयंत्र में हलचल प्रारम्भ हो जाती है । नाभि से प्राणशक्ति ऊपर उठती है और सिर से टकराकर स्वरयंत्र तक मुख में पहुंच जाती है । वर्णों के उच्चारण और विचारों की अभिव्यक्ति की पूरी प्रक्रिया तैयार हो जाती है । केवल वर्णों के उच्चारण का काम शेष रह जाता है । यह उच्चारण से पूर्व की अवस्था है, अतः इसे मध्यमा या मध्यगत वाणी कहते हैं ।

४. वैखरी वाणी - यह वाणी की चतुर्थ अवस्था है । इसमें वर्णों का कण्ठ तालु आदि स्थानों से उच्चारणं प्रारम्भ हो जाता है । अब विचार या भाव अव्यक्त या गुप्त न रहकर प्रकट हो जाते हैं । यह वैखरी वाणी ही जनसाधारण के व्यवहार में आती है ।

चार पैरों का दार्शनिक रूप - ऋग्वेद और अथर्ववेद में '**चत्वारि वाक्०**' के द्वारा जो वाक्तत्त्वरूपी ब्रह्म के चार पैरों का वर्णन है, उसका ही विशद रूप उपनिषदों और वेदान्तदर्शन में प्राप्त होता है । वेदान्तदर्शन में जो चतुष्पाद् ब्रह्म का वर्णन मिलता है, उसका आधार माण्डूक्य उपनिषद् है । माण्डूक्य उपनिषद् में चतुष्पाद् ब्रह्म का जो वर्णन है, उसका संक्षिप्त रूप यह है ।

मूलसत्ता 'ओम्' है । वह अक्षर या अक्षय और अविनाशी है । वर्तमान, भूत और भविष्यत् सब कुछ 'ओम्' की ही व्याख्या है ।[१०] जिसको हम ब्रह्म कहते हैं, वह आत्मा ही है । यह आत्मा चतुष्पाद् है ।[११] चार पाद या पैर ये हैं :-

१. प्रथम पाद - यह जाग्रत् अवस्था है । इसमें मनुष्य की वृत्तियाँ बहिर्मुखी होती हैं । यह स्थूल विषयों का ही भोग करता है । इसको वैश्वानर कहते हैं ।[१२]

२. द्वितीय पाद - यह स्वप्न अवस्था है । इसमें मनुष्य की वृत्तियाँ अन्तर्मुखी होती हैं । वह सूक्ष्म विषयों का भोग करता है । इसको तैजस कहते हैं ।[१३]

३. तृतीय पाद - यह सुषुप्ति अवस्था है । इसमें विज्ञान और आनन्द की घनता होती है । इसमें जीवात्मा आनन्द का भोग करता है । इसको प्राज्ञ कहते हैं ।[१४] इस तृतीय अवस्था वाले ब्रह्म को ईश्वर कहते हैं । यह सृष्टि का कर्ता, धर्ता और संहर्ता है । यह सर्वज्ञ, सर्वेश्वर और अन्तर्यामी है ।[१५]

३-१०.ओम् इत्येतद् अक्षरम् । सर्वमोंकार एव । मांडूक्य उप० १

३-११.अयम् आत्मा ब्रह्म । सोऽयमात्मा चतुष्पात् । मां० उप० २

३-१२.मां० उप० ३

३-१३.मां० उप० ४

३-१४.मां० उप० ५

३-१५.मां० उप० ६

४. चतुर्थपाद - यह तुरीय (चतुर्थ) अवस्था है । यह ब्रह्म की अनिर्वचनीय अवस्था है । इसमें ब्रह्म अदृष्ट, अव्यवहार्य, अचिन्त्य आदि गुणों से युक्त होता है । वह शान्त, शिव और अद्वैत है ।[१६]

'ओम्' में तीन अक्षर हैं - अ उ म् । जाग्रत् अवस्था 'अ' है । यह 'वैश्वानर' है । स्वप्न अवस्था 'उ' है । यह 'तैजस' है । सुषुप्त अवस्था 'म्' है । यह 'प्राज्ञ' है । चतुर्थ अवस्था अनिर्वचनीय है । यह ब्रह्म का शान्त, शिव और अद्वैत रूप है । यह ओंकार ही आत्मा है ।[१७]

चतुष्पाद् ब्रह्म - अथर्ववेद में जिस चतुष्पाद् ब्रह्म का वर्णन किया गया है, उसका विशदीकरण मांडूक्य उपनिषद् में हुआ है । वेदान्तदर्शन में इसको ही विस्तार से प्रस्तुत किया गया है । १. अवस्थाएं चार मानी गई हैं - जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय। २. तीन शरीर हैं - स्थूल, सूक्ष्म और कारण । ब्रह्म के दो रूप माने गये हैं - समष्टि और व्यष्टि । ३. समष्टि ब्रह्म के चार रूप हैं - वैश्वानर, सूत्रात्मा, ईश्वर और ब्रह्म । ४. व्यष्टि ब्रह्म के तीन रूप हैं - विश्व, तैजस और प्राज्ञ । ५. कोश पांच हैं - अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय । इन पांच कोशों का विभिन्न अवस्थाओं और शरीरों से सम्बन्ध है । निम्नलिखित सारणी से प्रत्येक अवस्था और शरीर का सम्बन्ध ज्ञात हो सकेगा ।

अवस्था	**शरीर**	**समष्टि**	**व्यष्टि**	**कोश**
१. जाग्रत्	स्थूल	वैश्वानर	विश्व	अन्नमय, प्राणमय
२. स्वप्न	सूक्ष्म	सूत्रात्मा	तैजस	मनोमय, विज्ञानमय
३. सुषुप्ति	कारण	ईश्वर	प्राज्ञ	आनन्दमय
४. तुरीय	कारण	ब्रह्म	-	-

ब्रह्म के स्वरूप के ज्ञान के लिए इन अवस्थाओं और शरीरों आदि का ज्ञान आवश्यक है । यजुर्वेद और अथर्ववेद में वर्णन है कि साधक किस प्रकार क्रमशः आगे बढ़ते हुए अन्तिम लक्ष्य प्रकाशमय स्वः लोक को प्राप्त करता है । ये साधना के चार सोपान (पाद, चरण) हैं, अतः इन्हें चतुष्पाद् या ४ पैर कहा गया है ।

३-१६. शान्तं शिवम् अद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते, स आत्मा । मां० उप०७

३-१७. मां० उप० ८ से १२

यजुर्वेद और अथर्ववेद के अनुसार ब्रह्म-प्राप्ति के लिए प्रगति के चार चरण (पाद) ये हैं :-

पृथिवी से अन्तरिक्ष में पहुँचना, अन्तरिक्ष से द्युलोक, द्युलोक से स्वर्लोक । पृथिवी पहला पाद या चरण है । अन्तरिक्ष दूसरा पाद है । द्युलोक तीसरा पाद है और स्वर्लोक (नाक) चतुर्थ पाद है । स्वर्लोक प्रकाशमय है । यही प्राप्तव्य और गन्तव्य स्थान है । यही ब्रह्मलोक है ।[१८]

४. ब्रह्म सृष्टिकर्ता

अथर्ववेद में ब्रह्म से सृष्टि की उत्पत्ति का अनेक स्थानों पर अनेक प्रकार से वर्णन है । उनका ही संक्षिप्त विवरण यहां दिया जा रहा है ।

अथर्ववेद का कथन है कि ब्रह्म की आधी शक्ति से यह सारा संसार बना है और उसका आधा अंश अव्यक्त है ।[१] संसार में जो कुछ गतिशील है, जो स्थिर है, जो सांस ले रहा है, जो प्राणरहित है, उन सबको धारण करने वाला ब्रह्म है । वही सारी पृथिवी को धारण कर रहा है ।[२]

ब्रह्म ने ही द्युलोक और पृथिवी को उत्पन्न किया है । वही आच्छादक बनकर द्यु-भू की रक्षा करता है । उसमें ही सारे भूभाग और दिशाएं-उपदिशाएं निवास करती हैं ।[३] वह ब्रह्म ही मारने वाला है, वही जीवन देने वाला है । उसकी शक्ति से ही सारे संसार में जीवनी शक्ति है ।[४] उसमें चन्द्रमा और सात सौर-लोक विद्यमान हैं ।[५]

अथर्ववेद में अन्यत्र कहा गया है कि ब्रह्म ने भूमि बनाई है । उसने द्युलोक को ऊपर स्थापित किया । उसने इधर-उधर ऊपर और चारों ओर विशाल अन्तरिक्ष स्थापित किया है ।[६] ब्रह्म ने अग्नि और संवत्सर (वर्षचक्र), को बनाया ।[७] ब्रह्म में सभी देवगण और दैवी प्रजाओं का निवास है । उसमें ब्रह्म और क्षत्र दोनों शक्तियों का निवास है ।[८]

३-१८. पृथिव्या अहम् उदन्तरिक्षम् आरुहम् , अन्तरिक्षाद् दिवमारुहम् ।
दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम् ।। यजु० १७.६७ । अ० ४.१४.३

४-१. अर्धेन विश्वं भुवनं जजान० । अ० १०.८.७

४-२. अ० १०.८.११

४-३. य इमे द्यावापृथिवी जजान० । अ० १३.३.१

४-४. यो मारयति प्राणयति० । अ० १३.३.३

४-५. यस्मिन् सूर्या अर्पिताः सप्त साकम् । अ० १३.३.१०

४-६. ब्रह्मणा भूमिर्विहिता० । अ० १०.२.२५

४-७. अ० १०.२.२१

४-८. अ० १०.२.२३

ब्रह्म से सबकी उत्पत्ति - अथर्ववेद में ब्रह्म के विषय में एक रोचक प्रसंग उपस्थित किया गया है। इसमें कहा गया है कि संसार की सब वस्तुएं ब्रह्म से ही निकली हैं और सब वस्तुओं से ब्रह्म निकलता है। इसका अभिप्राय यह है कि प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति का आधार ब्रह्म ही है। संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसका मूल कारण ब्रह्म न हो। दूसरी ओर जितनी वस्तुएं उत्पन्न हो रही हैं, वह ब्रह्म के ही रूप हैं, अतः उत्पन्न होने वाला भी ब्रह्म ही है। इसको हम कह सकते हैं कि सबकी उत्पत्ति ब्रह्म से और सबसे ब्रह्म की उत्पत्ति। ब्रह्म कारण और कार्य दोनों है। जनक और जन्य दोनों है।

अथर्ववेद के कांड १३ में १२ मंत्रों में इसका विस्तार से वर्णन है।[९] इनमें कहा गया है कि दिन, रात्रि, अन्तरिक्ष, वायु, द्युलोक, दिशाएं, भूमि, जल, ऋचाएं और यज्ञ ब्रह्म से उत्पन्न हुए हैं और इन सबसे ब्रह्म की उत्पत्ति हुई है।[१०]

इसी प्रसंग में कहा गया है कि उससे यज्ञ उत्पन्न हुआ और यज्ञ से ब्रह्म उत्पन्न हुआ। वह यज्ञ रूप है। सारे यज्ञ उसके लिए हैं। वह यज्ञ का शिररूप है। वही गरजता और बरसता है। वह भद्र-अभद्र सबके लिए अन्नादि उत्पन्न करता है। उसके सैकड़ों शरीर हैं। वह करोड़ों और अरबों रूप में विद्यमान है।[११]

५. ब्रह्म के विविध रूप

ब्रह्म यज्ञरूप - अथर्ववेद का कथन है कि वह यज्ञरूप है। सारे यज्ञ उसके लिए किए जाते हैं। वह यज्ञ का शिरोभाग है अर्थात् यज्ञ का सार ब्रह्म है। ब्रह्म-प्राप्ति ही यज्ञ का लक्ष्य है।[१]

अथर्ववेद में यही भाव अन्यत्र कहा गया है कि ब्रह्म ही यज्ञ है, ब्रह्म ही होता और अध्वर्यु है।[२] ब्रह्म ही यज्ञ का तत्त्व या सार भाग है।[३] इसका अभिप्राय है कि ब्रह्म और यज्ञ एक ही तत्त्व हैं।

शतपथ और ऐतरेय ब्राह्मण में ब्रह्म को यज्ञरूप होने का अभिप्राय स्पष्ट किया गया है कि ब्रह्म अग्निरूप है। अग्नि ऊर्जा का प्रतीक है। यज्ञ का साक्षात् संबन्ध अग्नि से है, अतः अग्नि यज्ञ है और यज्ञ ब्रह्म है। अतः शतपथ ब्राह्मण में अग्नि को ब्रह्म और यज्ञ कहा गया है।[४] सृष्टि के प्रत्येक कण में प्रतिक्षण स्फोटरूपी अग्नि से यज्ञ हो रहा है,

---

४-९. अथर्व० १३.४.२९ से ४०

४-१०. स वै दिवोऽजायत तस्माद् द्यौरध्यजायत०। अ० १३.४.३३

४-११. अथर्व० १३.४. ४० से ४५

५-१. स यज्ञस्तस्य यज्ञः स यज्ञस्य शिरस्कृतम्। अ० १३.४.४०

५-२. ब्रह्म होता ब्रह्म यज्ञः। अ० १९.४२.१

५-३. ब्रह्म यज्ञस्य तत्त्वं च। अ० १९.४२.२

५-४. अग्निर्ब्रह्म, अग्निर्यज्ञः। शत० ब्रा० ३.२.२.७

अतएव सृष्टि का विस्तार है और संसार में गति-प्रगति है । इसी आधार पर शतपथ और ऐतरेय ब्राह्मण में ब्रह्म को यज्ञ कहा गया है ।[५]

ब्रह्म गन्धर्व है - अथर्ववेद में ब्रह्म को संसार का स्वामी बताते हुए दिव्य गन्धर्व कहा गया है । उसे ही पूज्य और वन्दनीय कहा गया है ।[६] गन्धर्व का अभिप्राय है - 'गो' को धारण करने वाला । गो के अर्थ हैं - किरण, प्रकाश, ज्योति, गाय, पृथिवी आदि । जो ज्योतिर्मय है या प्रकाशयुक्त है, वह गन्धर्व है । अतएव यजुर्वेद में अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, वायु, यज्ञ और मन को गन्धर्व कहा गया है ।[७]

ब्रह्म सुपर्ण है - ऋग्वेद के दो मन्त्रों में ब्रह्म को सुपर्ण बताते हुए कहा गया है कि सुपर्ण एक है । वह सारे संसार को देखता है अर्थात् वह साक्षीरूप में संसार का द्रष्टा है । उसको पवित्र हृदय से देखा जा सकता है ।[८] वह एक है । विद्वान् उस एक को अनेक रूपों में प्रस्तुत करते हैं ।[९] सुपर्ण का अर्थ है- सुन्दर पंख वाला । सुन्दर पंख और तीव्र गति के कारण गरुड़ को सुपर्ण कहते हैं । सुपर्ण का अर्थ सुन्दर पंखवाला पक्षी भी है । ब्रह्म या आत्मा इस शरीर में एक पक्षी के तुल्य निवास करता है । मृत्यु के समय वह सुपर्ण पक्षी उड़ जाता है और यह शरीर अचेतन एवं निष्क्रिय हो जाता है । यही देहावसान है । साधारण भाषा में भी कहा जाता है कि इस व्यक्ति के प्राण पखेरू उड़ गए । वेदों में ब्रह्म या आत्मा का सुपर्ण के रूप में बहुत वर्णन है ।[१०] यह आत्मा शरीर में एक पक्षी की तरह आकर बैठता है और जब उसकी इच्छा होती है, वह उड़ जाता है ।

ब्रह्मगवी - अथर्ववेद में ब्रह्मगवी का बहुत विस्तृत वर्णन है ।[११] सामान्यतया ब्रह्मगवी का अर्थ 'ब्राह्मण की गाय' लिया जाता है । इस सूक्त में ७३ मंत्र हैं । इनमें वर्णन किया गया है कि ब्रह्मगवी के हरण से सारे सद्गुण, सारी विभूतियां और राष्ट्र की श्री नष्ट हो जाती है । अतः ब्रह्मगवी का हरण नहीं करना चाहिए । मंत्रों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि ब्रह्मगवी का अर्थ ब्रह्मविद्या, ब्रह्मज्ञान या देववाणी है । जिस राष्ट्र में ब्रह्मविद्या, आस्तिकता और आदर्श शिक्षा पर प्रहार होता है । वह राष्ट्र नष्ट हो जाता है ।

ब्रह्मगवी या ब्रह्मविद्या कितने कठोर परिश्रम और कितनी साधना से पुष्ट होती है, इसका वर्णन करते हुए कहा गया है कि यह इन गुणों से पुष्ट होती है - कठोर परिश्रम,

५-५.(क) ब्रह्म वै यज्ञः । ऐत० ब्रा० ७.२२
(ख) ब्रह्म यज्ञः । शत० ३.१.४.१५
५-६. दिव्यो गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिः० । अथर्व० २.२.१
५-७. यजु० १८. ३८ से ४३
५-८. एकः सुपर्णः ......स इदं विश्वं भुवनं वि चष्टे ।
तं पाकेन मनसाऽपश्यम्०। ऋग्० १०.११४.४
५-९. सुपर्णं विप्राः .....एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति । ऋग्० १०.११४.५
५-१०.दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् । ऋग्० १.१६४.४६
५-११.अथर्व० १२.५. १से ७३

तपस्या, ज्ञान, सत्य, श्रद्धा और दीक्षा ।[१२] जहां श्रम, तप, सत्य, श्रद्धा आदि गुण होंगे, वहीं ब्रह्मगवी या ब्रह्मविद्या पुष्ट होती है और फल देती है । आगे वर्णन किया गया है कि जहां ब्रह्मगवी का हरण होता है, वहां राष्ट्र में ३४ गुण समाप्त हो जाते हैं । इन गुणों में मुख्य हैं- ओज, तेज, शक्ति, बल, लक्ष्मी, धर्म, ब्रह्मशक्ति, क्षत्र शक्ति, तेजस्विता, यश, वर्चस्विता, वैभव, दीर्घायुष्य, कीर्ति और सत्य आदि ।[१३]

इस सूक्त से स्पष्ट है कि राष्ट्र की उन्नति और प्रगति के लिए ब्रह्मगवी का पालन-पोषण एवं संवर्धन आवश्यक है । जो राष्ट्र ऐसा नहीं करते हैं, उनकी श्री और वैभव समाप्त हो जाते हैं । इसी प्रकार इस सूक्त में शिक्षा दी गई है कि ब्राह्मण की गाय या सम्पत्ति तथा ब्राह्मण की वाणी, शिक्षा, आदेश-उपदेश का हरण एवं निरादर नहीं होना चाहिए । जहां इनकी शिक्षा या उपदेश का अनादर किया जाता है, वहां राष्ट्र की श्री नष्ट हो जाती है ।

ब्रह्मौदन - अथर्ववेद में ब्रह्मौदन का दो सूक्तों में विस्तृत वर्णन है ।[१४] ब्रह्मौदन क्या है ? ब्रह्मरूपी ओदन (भात) विद्या या शिक्षारूपी अन्न है । गृहिणी सुयोग्य पुत्र की कामना से इस ज्ञानरूपी अन्न को पकाती है । अपने पुत्र को उत्तम शिक्षा देती है, जिससे वह ऋषितुल्य आस्तिक, धार्मिक और विद्वान् बनकर समाज में सर्वोच्च बने । वह ज्ञान और धन में अपने साथियों में सबसे श्रेष्ठ बने । इसी प्रसंग में उल्लेख किया गया है कि जो आस्तिक, धार्मिक और सात्त्विक प्रवृत्ति के व्यक्ति न हों, उन्हें यह ज्ञानरूपी अन्न न दिया जाए, अर्थात् उन्हें उच्च शास्त्रीय शिक्षा न दी जावे ।

अथर्ववेद का कथन है कि सुयोग्य पुत्र की कामना से माता ब्रह्मौदन पकाती है।[१५] इसका अभिप्राय यह है कि यदि सन्तान को सुशिक्षित करना है तो माता को ज्ञानरूपी अन्न घर में पकाना है । बच्चों की सुशिक्षा की व्यवस्था करनी है, तभी बालक सुयोग्य, धार्मिक और आदर्श पुत्र बन सकेंगे ।

तृतीय मंत्र में कहा गया है कि वह ब्रह्मौदन महान् पराक्रम के लिए पकाया जाता है ।[१६] इसका अभिप्राय यह है कि शिक्षारूपी अन्न मनुष्य को महान् पराक्रम के लिए प्रेरित करता है । यह पराक्रम ही उसे समाज में अग्रणी और यशस्वी बनाता है । साथ ही शिक्षा दी गई है कि द्रोहरहित और मधुरवाणी बोलें । यह वाणी समाज की सुरक्षा करने वाली हो।[१७] जब तक हृदय में द्रोह की भावना रहेगी, तब तक समाज-कल्याण की भावना जागृत नहीं होगी । समाज की रक्षा और समाज के कल्याण के लिए आवश्यक है कि द्रोह की भावना को दूर किया जाय ।

५-१२. श्रमेण, तपसा, ब्रह्मणा, ऋतेन, सत्येन, श्रद्धया, दीक्षया । अ० १२.५.१ से ३

५-१३. ओजश्च तेजश्च सहश्च बलं च० । अ० १२.५.७ से ११

५-१४. अ० ११.१.१ से ३७ । अ० ११.३.१- ५६

५-१५. ब्रह्मौदनं पचति पुत्रकामा । अ० ११.१.१

५-१६. अग्नेऽजनिष्ठा महते वीर्याय । अ० ११.१.३

५-१७. सखायोऽद्रोघाविता वाचमच्छ । अ० ११.१.२

ब्रह्मौदन या शिक्षा का उद्देश्य है कि हम समाज में अग्रगण्य हों, श्रेष्ठ हों । हम ज्ञान और वैभव में अपने साथियों में सबसे बढ़कर हों तथा अपने शत्रुओं को परास्त कर सकें।[१८]

ब्रह्मौदन का महत्त्व बताते हुए कहा गया है कि यह शिक्षारूपी ओदन सहस्रों प्रकार का है । इसकी सैकड़ों धाराएं या विधाएं हैं । यह स्वर्ग का या उन्नति का सर्वोत्तम साधन है । यह विद्वानों द्वारा अपनाया गया मार्ग है, अतः देवयान है ।[१९]

ब्रह्मौदन की वेदि या भूमिका सत्य से बनती है और मनोयोग से पुष्ट की जाती है।[२०] शिक्षा में जब तक सत्यनिष्ठा, सच्चरित्रता और एकाग्रता नहीं होगी, तब तक शिक्षा में विशेष प्रगति नहीं होगी । इसकी ओर ही मंत्र में ध्यान आकृष्ट किया गया है ।

ब्रह्मौदन या शिक्षा के अधिकारी कौन हैं, इसके विषय में कहा गया है कि जो ऋषि या सात्त्विक भावना वाले हैं, जिनका जीवन संयमी या तपस्वी है, जो सदाचारी परिवार में उत्पन्न हुए हैं, उनको ही ब्रह्मौदन प्राप्त करने का अधिकार है ।[२१] यही भाव अन्य मंत्र में भी प्रकट किया गया है कि जो सदाचारी, आस्तिक और आर्षेय (ऋषिपुत्र) हैं, उनको ही शिक्षा का अधिकार है, जो अनार्ष अर्थात् दुराचारी, असंयमी, नास्तिक हैं, उनको ब्रह्मौदन का अधिकार नहीं है, वे शिक्षा के अधिकारी नहीं हैं ।[२२]

ब्रह्मौदन का विराट् रूप - अथर्ववेद में ब्रह्म को ओदन (भात, अन्न) के रूप में प्रस्तुत किया गया है ।[२३] ब्रह्म ही भोक्ता है और ब्रह्म ही भोग्य है । सारा संसार अन्नमय है । इस सूक्त में अन्न के विराट् रूप का वर्णन है । साथ ही अन्न -विषयक अनेक बातें दी गई हैं । जैसे - अन्न की समस्या, अन्न-समृद्धि के उपाय, अन्न में देव-पितृ-मनुष्य का समान अधिकार, भोजन के नियम, कैसा अन्न खाना चाहिए आदि ।

अथर्ववेद में ओदन (भात, अन्न) के विराट् रूप का वर्णन करते हुए कहा गया है कि इस अन्न का सिर बृहस्पति है, मुख ब्रह्मा है, द्युलोक और पृथिवी कान हैं, सूर्य और चन्द्रमा आंख हैं, सप्तर्षि उसके प्राण और अपान हैं ।[२४] प्रजापति ने उस ओदन से ही ३३ लोकों की रचना की ।[२५] इसका अभिप्राय है कि सारा संसार ओदन या अन्न है । अन्न ही इस सृष्टि का कर्ता-धर्ता है ।

५-१८.श्रिया समानानति सर्वान् स्याम । अ० ११.१.२१

५-१९.शतधारो अक्षितो ब्रह्मौदनो देवयानः स्वर्गः । अ० ११.१.२०

५-२०.ऋतेन तष्टा मनसा हिता । अ० ११.१.२३

५-२१.ऋषीन् आर्षेयान् तपसोऽधि जातान् ... जोहवीमि । अ० ११.१.२६

५-२२.आर्षेयेषु नि दधे ओदन त्वा० । अ० ११.१.३३

५-२३.अथर्व० ११.३.१ से ५६

५-२४.तस्यौदनस्य बृहस्पतिः शिरो ब्रह्म मुखम्० । अ० ११.३.१ और २

५-२५ अ० ११.३.५२

अन्न की समस्या - अथर्ववेद का कथन है कि जीवन-निर्वाह के लिए मनुष्यमात्र को अन्न की आवश्यकता होती है, अतः अन्न विश्व की समस्या है । इसकी वृद्धि के लिए मनुष्य को अपनी बुद्धि का उपयोग करना चाहिए ।[२६] कृषि और अन्न से मनुष्य जीवित रहते हैं । जो कृषि में सफलता प्राप्त करता है, उसका ही लोग अनुसरण करते हैं ।[२७] अथर्ववेद का कथन है कि अन्न में देव, पितृगण और मनुष्य तीनों का हिस्सा है ।[२८] अतएव देवों के लिए देवयज्ञ, माता-पिता (पितृगण) के लिए पितृयज्ञ और मनुष्यों के लिए अतिथियज्ञ का विधान है । इनसे तीनों को तृप्त किया जाता है ।

अन्न की समस्या के निराकरण के लिए यज्ञ-विधि का निर्माण किया गया है । अथर्ववेद का कथन है कि लोकों की उत्पत्ति के बाद उनके भरण-पोषण के लिए यज्ञ की सृष्टि की गई ।[२९] यज्ञ से यथासमय वर्षा होती है और वर्षा से अन्न की वृद्धि होती है ।

भोजन-विषयक नियम - अथर्ववेद में इसी प्रसंग में भोजन-विषयक कुछ उपयोगी नियम भी दिए गए हैं । संक्षेप में वे ये हैं - १. प्रसन्नचित्त से मनोयोग-पूर्वक भोजन करे । २. अन्न को खूब चबाकर शक्तिपूर्वक खावे । ३. भोजन में पौष्टिक तत्त्वों का समावेश करे । ओषधि शब्द से पौष्टिक तत्त्वों का निर्देश है । ४. भोजन में उचित मात्रा में जल भी पीवे ।[३०] ५. शत्रु और संदिग्ध व्यक्ति का अन्न न खावे ।[३१] ६. अपने पुरुषार्थ से अर्जित ईमानदारी का ही अन्न खावे ।[३२] ७. अपच न करने वाला, आयु, तेज और बलवर्धक पौष्टिक अन्न खावे ।[३३]

अन्न कैसे खावें ? - इस सूक्त में प्रश्न उठाया गया है कि तूने अन्न को खाया या अन्न ने तुझको ।[३४] इसके उत्तर में कहा गया है कि न मैंने अन्न को खाया और न अन्न ने मुझको । अन्न ने ही अन्न को खाया ।[३५] इन दोनों बातों का अभिप्राय यह है कि यह सारा संसार अन्न है और अन्न को खाने वाला जीवात्मा है । यदि जीव अन्नरूपी संसार में फँस जाता है तो वह अन्न के द्वारा खाया जाता है । यदि जीवात्मा अन्नरूपी संसार के बन्धन में

५-२६. भृत्या अन्ने समस्य यदसन् मनीषा । अ० २०.७६.४
५-२७. कृषिं च सस्यं च मनुष्या उप जीवन्ति । अ० ८.१०.२४
५-२८. त्रेधा भागो निहितो.... देवानां पितॄणां मर्त्यानाम् । अ० ११.१.५
५-२९. तेषां प्रज्ञानाय यज्ञमसृजत । अ० ११.३.५३
५-३०. मनसा, बलेन, अद्भिः, ओषधीभिः । अ० १५.१४.२ से १२
५-३१. न द्विषतोऽन्नम्० । अ० ९.६.२४
५-३२. ऋतस्य हस्ताभ्याम्० । अ० ११.३.४८
५-३३. आयुषे वर्चसे बलाय ... अन्नम् अद्धि । अ० ६.६३.१
५-३४. त्वम् ओदनं प्राशीः, त्वाम् ओदन इति । अ० ११.३.२७
५-३५. नैवाहम् आदेनं, न माम् ओदनः ।
ओदन एवौदनं प्राशीत् । अ० ११.३.३०-३१

न पड़कर अपने आपको संसार या प्रकृति का स्वामी मानता है और निर्लेप भाव से रहता है एवं संसार के भोगों में नहीं फंसता तो यह है जीव के द्वारा अन्न को खाना । उत्तर में कहा गया है कि 'न मैंने अन्न को खाया और न अन्न ने मुझको । अन्न ने ही अन्न को खाया' । इसका अभिप्राय है कि मैं (जीव) संसार के भोग-विलासों में नहीं फंसा, अतः मैंने संसाररूपी अन्न नहीं खाया । मैं संसार के भोग-विलासरूपी अन्न के चक्कर में नहीं पड़ा। इसलिए न अन्न ने मुझे खाया, न मैं अन्न के बन्धन में पड़ा । संसार के भोग-विलासरूपी अन्न में फंसना अन्न को खाना है और संसार के चक्कर में पड़ना एवं बन्धन में पड़ना, यह है अन्न के द्वारा खाया जाना । तीसरी बात कही गई है कि - 'अन्न ने ही अन्न को खाया' । जब निर्लेप और निष्काम भाव से संसार की वस्तुओं का भोग किया जाता है तो जीव किसी बन्धन में नहीं पड़ता । प्रकृति को अपने स्वरूप में ही रहने देना ही अन्न के द्वारा अन्न का खाया जाना है । आसक्ति की भावना का आना ही अन्न के द्वारा खाया जाना है ।

इसी प्रसंग में आगे कहा गया है कि ऋषियों के तुल्य ही अन्न खाना चाहिए, अर्थात् जिस प्रकार ऋषियों ने निष्काम और निर्लेप भाव से संसाररूपी अन्न का उपभोग किया है, उसी प्रकार इसका उपभोग करना चाहिए ।[३६] न संसार का परित्याग करें और न संसार में लिप्त हों । यदि ऋषियों के तुल्य संसाररूपी अन्न का उपभोग करते हैं तो सर्वथा हृष्ट-पुष्ट और नीरोग रहेंगे ।[३७] उचित मात्रा में अन्न खाना स्वास्थ्यवर्धक है । अधिक खाना, असमय खाना, अपथ्य खाना, दूषित अन्न खाना ही विभिन्न रोगों के कारण हैं । इसको ही इस सूक्त में कहा गया है कि यदि ऋषियों के तुल्य अन्न नहीं खाओगे तो तुम्हें विभिन्न रोग होंगे। जैसे- अन्धा होना, बहरा होना, असमय मृत्यु, राजयक्ष्मा, उदररोग आदि ।[३८]

६. ब्रह्म-प्राप्ति के साधन

ब्रह्म सर्वव्यापी है- यजुर्वेद का कथन है कि वह ब्रह्म सारे लोकों और सारी दिशाओं में व्याप्त है । वह मनुष्य के हृदय में प्रविष्ट होकर विद्यमान है ।[१] वह संसार में ऋत के तन्तु (धागे) के तुल्य सर्वत्र ओत-प्रोत है, जो ज्ञान-चक्षु से उसे देख लेता है, वह ब्रह्मरूप हो जाता है ।[२] ब्रह्म कतिपय विरोधी गुणों से युक्त है । वह दूर है और समीप है। वह सबके अन्दर है और सबसे बाहर है।[३] मनुष्य अज्ञान के कारण समीप होते हुए भी उसे नहीं देख पाता, यह है ब्रह्म की दूरी। जो साधना और तप के द्वारा उसे जान लेता है, उसके

५-३६.अ० ११.३.३२

५-३७.सर्वांग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति । अ० ११.३.३२ से ४९

५-३८.अन्धः, बधिरः, राजयक्ष्मः, उदरदारस्त्वा हनिष्यति । अ० ११.३.३२ से ४९

६-१. परीत्य भूतानि ... आत्मनात्मानमभि सं विवेश। यजु० ३२.११

६-२. ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य तदपश्यत् तदभवत् तदासीत् । यजु० ३२.१२

६-३. तद् दूरे तद्वन्तिके । तदन्तरस्य सर्वस्य० । यजु० ४०.५

वह समाप है। अज्ञान के पर्दे के कारण ब्रह्म की दूरी है । जब अज्ञान का आवरण हट जाता है, तब वह समीप ही हृदय में दिखाई पड़ जाता है । अथर्ववेद में भी कहा है कि मनुष्य अज्ञान के कारण समीपस्थ ब्रह्म को नहीं देख पाता है ।[४]

ब्रह्म हृदय में है - ऋग्वेद और यजुर्वेद का कथन है कि ब्रह्म मनुष्य के अन्दर हृदय में विद्यमान है, पर मनुष्य उसे नहीं जान पाता ।[५] अथर्ववेद ने स्पष्ट उल्लेख किया है कि वह ब्रह्मरूपी अमर अग्नि मनुष्य के हृदय में प्रविष्ट है ।[६] वह ब्रह्म हृदय-कमल (पुण्डरीक) में विद्यमान है, उसको ब्रह्मवेत्ता ही जानते हैं ।[७]

दीक्षा और तप से ब्रह्मप्राप्ति- अथर्ववेद के एक सूक्त में ८ मंत्रों द्वारा इस बात का वर्णन है कि दीक्षा और तप से ब्रह्म की प्राप्ति होती है ।[८] यजुर्वेद का कथन है कि ब्रह्म या सत्य की प्राप्ति का साधन व्रत है । व्रत से मनुष्य दीक्षित होता है । दीक्षा से श्रद्धा उत्पन्न होती है और श्रद्धा से सत्यस्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति होती है ।[९] इससे स्पष्ट है कि ब्रह्म की प्राप्ति के लिए व्रत, दीक्षा, तप, श्रद्धा और कठोर साधना की आवश्यकता होती है । ब्रह्म सभी मनुष्यों के हृदय-मन्दिर या हृदय-कमल में विद्यमान है । मनुष्य अज्ञान के आवरण के कारण उसे नहीं देख पाता । तप और साधना से, श्रद्धा और विश्वास से, सत्यनिष्ठा और सदाचार से यह अज्ञान का आवरण हटाया जाता है । इस आवरण के हटने पर मनुष्य को सर्वव्यापी ब्रह्म की सत्ता का ज्ञान हो जाता है । निरन्तर श्रद्धापूर्वक सत्य की साधना से ब्रह्म का साक्षात्कार होता है । मनुष्य का हृदय जितना पवित्र होगा, उतनी ही शीघ्रता से ब्रह्म का साक्षात्कार होता है ।

***

६-४. अन्ति सन्तं न पश्यति । अ० १०.८.३२

६-५. न तं विदाथ .. अन्यद् युष्माकमन्तरं बभूव । ऋग्० १०.८२.७ । यजु० १७.३१

६-६ यो नो अग्निः पितरो हृत्सु -
अन्तराविवेशामृतो मर्त्येषु । अ० १२.३.३३

६-७. पुण्डरीकं नवद्वारं ... तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत्० । अ० १०.८.४३

६-८. यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह । अ० १९.४३.१ से ८

६-९. व्रतेन दीक्षामाप्नोति ... श्रद्धया सत्यमाप्यते । यजु० १९.३०

अध्याय ४

ब्रह्म के विविध रूप

१. स्कम्भ ब्रह्म (सर्वाधार ब्रह्म)

स्कम्भ ब्रह्म का अर्थ और स्वरूप - अथर्ववेद में ब्रह्म को स्कम्भ और सर्वाधार बताया गया है । उसको ही ज्येष्ठ ब्रह्म भी कहा है । स्कम्भ का अर्थ है- आधार, आश्रय, रोककर रखने रखने वाला । संसार को रोककर रखने वाली कोई एक सत्ता है, वह है ब्रह्म । सबका आधार होने के कारण उसे स्कम्भ ब्रह्म या सर्वाधार ब्रह्म कहते हैं । उसको ही सर्वोत्कृष्ट होने के कारण ज्येष्ठ ब्रह्म कहते हैं ।

स्कम्भ क्या है ? इसका उत्तर अथर्ववेद में १० मंत्रों में दिया गया है ।[१] स्कम्भ के विषय में पूछा गया है कि वह कौन सी सत्ता या शक्ति है, जिसमें ऋत, सत्य, श्रद्धा और तप प्रतिष्ठित हैं ? किस शक्ति से अग्नि, वायु और चन्द्रमा में प्रकाश आदि की क्षमता है ? द्यु-भू और अन्तरिक्ष किसमें स्थित हैं ? मास, ऋतु, वर्ष आदि किसमें स्थित हैं ? इसका उत्तर है - जिसमें ऋत, सत्य, अग्नि, वायु, वर्ष आदि स्थित हैं, वह सत्ता या शक्ति ही स्कम्भ ब्रह्म या सर्वाधार ब्रह्म है ।

आगे इसी बात को स्पष्ट किया गया है कि जिस शक्ति को स्कम्भ ब्रह्म कहते हैं, वह इन्द्र है । इन्द्र विश्वव्यापी ऊर्जा (Universal Energy) है । उसमें सारे लोक, ऋत, तप आदि स्थित हैं ।[२]

स्कम्भ ब्रह्म का विराट् रूप - स्कम्भ के विराट् रूप का वर्णन करते हुए कहा गया है कि स्कम्भ ने अपने एक अंग का विस्तार किया और सहस्रों रूप में हो गया ।[३] स्कम्भ में द्युलोक, अन्तरिक्ष और भूमि सब समाए हुए हैं । उसमें सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि और वायु आदि स्थित हैं ।[४]

विश्वव्यापी वैश्वानर अग्नि उसका सिर है । अंगिरा आदि ऋषिगण उसके चक्षु हैं । जीव-जन्तु उसके अंग हैं ।[५] ब्रह्म उसका मुख है, मधुकशा विद्या उसकी जीभ है । विराट् उसका स्तन (थन) है । वह सत्ता स्कम्भ है ।[६]

१-१. अथर्व० १०.७.१ से १०

१-२. (क) स्कम्भे लोकाः स्कम्भे तपः ......इन्द्रे सर्वं समाहितम् । अ० १०.७.२९
(ख) इन्द्रे लोका इन्द्रे तपः...... स्कम्भे सर्वं प्रतिष्ठितम् । अ० १०.७.३०

१-३. एकं यदङ्गम् अकृणोत् सहस्रधा० । अ० १०.७.९

१-४. यस्मिन् भूमिरन्तरिक्षं द्यौर्यस्मिन् अध्याहिता० । अ० १०.७.१२

१-५. अ० १०.७.१८

१-६. अ० १०.७.१९

समुद्र और चारों दिशाएं उसकी नाड़ियां हैं। उसमें सदा यज्ञ हो रहा है । उसमें अमृत और मृत्यु दोनों का निवास है ।[७] रुद्र, आदित्य और वसुगण उसमें समाए हुए हैं । भूत, वर्तमान और भविष्यत् तीनों काल उसमें ही विद्यमान हैं ।[८]

स्कम्भ में सारे लोक आदि - अथर्ववेद का कथन है कि स्कम्भ ब्रह्म में ही सारे लोक, पांच कोश, ब्रह्म, असत् (प्रकृति) और सत् (जीवात्मा) का निवास है ।[९] स्कम्भ में ही भूमि, अन्तरिक्ष, द्युलोक, सूर्य, चन्द्रमा अग्नि और वायु आदि विद्यमान हैं ।[१०] यही भाव अन्य मंत्र में भी दिया गया है कि स्कम्भ द्यावापृथिवी, अन्तरिक्ष, सारी दिशाओं और उपदिशाओं को धारण किए हुए है और सारे संसार में व्याप्त है ।[११]

स्कम्भ में सारे देवों का निवास - अथर्ववेद का कथन है कि सारे ३३ देवता उसके विभिन्न अंगों में प्रविष्ट हैं ।[१२] ये ३३ देवता स्कम्भ के खजाने की रक्षा करते हैं । स्कम्भ ब्रह्म के इस खजाने को ब्रह्मवेत्ता लोग ही जान पाते हैं ।[१३] एक मंत्र में ब्रह्म को महान् यक्ष बताया गया है और कहा गया है कि वह संसाररूपी सागर में सर्वत्र फैला हुआ है । जिस प्रकार वृक्ष की शाखाएं चारों ओर फैली हुई होती हैं, उसी प्रकार सारे देवता उसके अंगों में फैले हुए हैं । सारे देवता अपने हाथ-पैर वाणी आदि से उसकी ही सेवा करते हैं और उसे उपहार (बलि) देते हैं ।[१४]

चारों वेदों की उत्पत्ति स्कम्भ से - अथर्ववेद का कथन है कि स्कम्भ ब्रह्म से ही ऋग्वेद और यजुर्वेद निकले हैं । सामवेद उसके केश (बाल) के तुल्य है और अथर्ववेद उसका मुख है ।[१५]

स्कम्भ ब्रह्म के विविध नाम - एक मंत्र में स्कम्भ ब्रह्म के अनेक नाम गिनाए गए हैं । ये हैं - ब्रह्म, परमेष्ठी, प्रजापति, ज्येष्ठ ब्रह्म । साथ ही कहा गया है कि जो व्यक्ति मनुष्य के शरीर में विद्यमान ब्रह्म को ठीक ढंग से जान लेते हैं, वे स्कम्भ ब्रह्म को जान पाते हैं।[१६] स्कम्भ ब्रह्म को ही हिरण्यगर्भ, इन्द्र और यक्ष भी कहते हैं ।[१७] इससे ज्ञात होता

१-७. समुद्रो यस्य नाड्यः०
यज्ञो यत्र पराक्रान्तः । अ० १०.७.१५-१६
१-८. अ० १०.७.२२
१-९. यत्र लोकांश्च कोशांश्च० । अ० १०.७.१०
१-१०. यस्मिन् भूमिरन्तरिक्षं० । अ० १०.७.१२
१-११. स्कम्भो दाधार द्यावापृथिवी० । अ० १०.७.३५
१-१२. अ० १०.७.१३
१-१३. अ० १०.७.२३, २७
१-१४. अ० १०.७.३७-३८
१-१५. अ० १०.७.२०
१-१६. अ० १०.७.१७
१-१७. अ० १०.७.२८, ३०.३८

है कि वेदों में स्कम्भ या सर्वाधार ब्रह्म को ही इन्द्र, ब्रह्म, परमेष्ठी, प्रजापति, ज्येष्ठ ब्रह्म, यक्ष और हिरण्यगर्भ आदि नाम दिए गए हैं ।

विवर्त और परिणामवाद - भारतीय दर्शनों में विवर्तवाद और परिणामवाद ये पारिभाषिक शब्द हैं । तात्त्विक विकार को परिणाम और विकार कहते हैं । जैसे दूध का दही बनना, जल का बर्फ बनना, मिट्टी का घड़ा बनना आदि । अतात्त्विक विकार को विवर्त कहते हैं । यह भ्रम आदि कारणों से होता है । जैसे-रस्सी को सांप समझना । रस्सी में सर्पबुद्धि भ्रम या अन्धकार आदि के कारण है । इसी प्रकार अनित्य संसार को नित्य समझना भी विवर्त है । इसी आधार पर शांकर वेदान्त संसार को माया, मिथ्या, भ्रम आदि कहता है । विवर्त और परिणाम का अर्थ समझने के लिए यह कारिका प्रसिद्ध है ।

स तत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विकार इत्युदीरितः ।
अतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विवर्त इत्युदीर्यते ।।

अर्थात् तात्त्विक या वास्तविक विकार को विकार या परिणाम कहते हैं और अतात्विक या भ्रमात्मक विकार को विवर्त कहते हैं ।

अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि वह विवर्त और परिणाम दोनों को मानता है । अथर्ववेद में स्कम्भ ब्रह्म के विवर्त को पुराण पुरुष कहा गया है । यहां 'व्यवर्तयत्' से विवर्त का संकेत है ।[१८] लोकों आदि की सृष्टि परिणामवाद का सूचक है ।

स्कम्भ ब्रह्म की प्राप्ति के उपाय - इस सूक्त में स्कम्भ की प्राप्ति के इन उपायों का उल्लेख है -

१. स्कम्भ ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त - अथर्ववेद के तीन मंत्रों में इस बात का वर्णन है कि स्कम्भ ब्रह्म सारे संसार में ताने-बाने के रूप में सर्वत्र व्याप्त है । जो इस बात को जान लेता है, वह स्कम्भ ब्रह्म को जान पाता है ।[१९] इन मंत्रों में वर्णन किया गया है सारा संसार एक उज्ज्वल वस्त्र के तुल्य है । इसमें ताना-बाना के रूप में धागे (तंत्र, तंतु) फैले हुए हैं। विरोधी स्वरूप वाली (काली, गोरी) दो युवतियां (अहोरात्र, दिन-रात) सदा यह वस्त्र बुनती रहती हैं । इस प्रक्रिया का कभी अन्त नहीं होता है । यही प्रक्रिया है, जिससे यह सारा संसार अर्थात् द्युलोक और पृथिवी रुके हुए हैं । वस्तुतः ये दो विरोधी तत्त्व अग्नि-सोम हैं, जो सारे संसार में ताने बाने के रूप में व्याप्त हैं । इनसे ही सारे संसार की रचना होती है। ये अग्नि-सोम ब्रह्म के धनात्मक (Positive)और ऋणात्मक (Negative) रूप हैं । इस प्रकार जो ब्रह्म की सर्वव्यापकता को जान लेता है, वह ब्रह्म की प्राप्ति का अधिकारी हो जाता है ।

१-१८.यत्र स्कम्भः प्रजनयन् पुराणं व्यवर्तयत् । अ० १०.७.२६

१-१९.(क) तन्त्रमेके युवती विरूपे० । अ० १०.७.४२

(ख) पुमानेतद् वयति० । अ० १०.७.४३

(ग) इमे मयूखा उप तस्तम्भुर्दिवं० । अ० १०.७.४४

२. ब्रह्म हृदय में है - अथर्ववेद का कथन है कि स्कम्भ ब्रह्म मानव के शरीर में विद्यमान है। मानव के हृदय में विद्यमान इस आधारस्वरूप ब्रह्म को जान लेना ही परमेष्ठी को जान लेना है।[२०] वह स्कम्भ ब्रह्म ही परमेष्ठी, प्रजापति और ज्येष्ठ ब्रह्म के नाम से प्रसिद्ध है।[२१] ये तीनों स्कम्भ ब्रह्म के ही रूपान्तर हैं। मानव के हृदय में ज्योति के रूप में ब्रह्म विद्यमान है। साधना और ध्यान से उसका साक्षात्कार होता है।

३. श्रम और तप से ब्रह्म की प्राप्ति - अथर्ववेद का कथन है कि वह स्कम्भ ब्रह्म श्रम और तप से उत्पन्न होता है और सारे संसार में व्याप्त है। सोम उसका स्वरूप है।[२२] इसका अभिप्राय यह है कि वह ब्रह्म तप और साधना के द्वारा ही जाना जा सकता है। साधना और तपस्या ब्रह्म की प्राप्ति के मुख्य साधन हैं। मंत्र में यह भी स्पष्ट किया गया है कि सोमीय तत्त्व इसमें विशेष सहायक हैं। सोमीय तत्त्व से अभिप्राय है - ब्रह्म के प्रति प्रेम, श्रद्धा और निष्ठा का होना। ये गुण व्यक्ति में ब्रह्म को आकृष्ट करने की शक्ति प्रदान करते हैं।

४. ३३ देवों का ज्ञान - अथर्ववेद का कथन है कि ३३ देवता शरीर के अंगों में फैले हुए हैं, इनके ज्ञान से ब्रह्मज्ञानी हो जाता है।[२३] ये ३३ देवता शरीर में कहां हैं ? शरीर के मेरुदंड या पृष्ठ वंश (रीढ़ की हड्डी) में ३३ छोटी हड्डियां (गिट्टक, Vertebrae) हैं। ये वस्तुतः दिव्य शक्तियों के केन्द्र हैं, अतः इन्हें देव मानते हुए ३३ देव कहा जाता है। इनके मध्य में सुषुम्ना नाड़ी ऊपर से नीचे मूलाधार चक्र तक फैली हुई है। इसमें से ही कुण्डलिनी शक्ति जागृत होने पर नीचे से ऊपर की ओर आज्ञा चक्र तक जाती है। तब मनुष्य तत्त्वज्ञानी और दिव्य-प्रतिभायुक्त होता है। तभी आत्मसाक्षात्कार होता है।

५. ब्रह्म ज्योतिर्मय है - वह ब्रह्म ज्योतिरूप है। वह गुप्त प्रजापति है। वह जल में सुनहरे बेंत की तरह शरीर में विद्यमान है।[२४] ब्रह्म हृदय में ज्योति के रूप में विद्यमान है। वह पूरे शरीर में सोने के तार की तरह फैला हुआ है। उसको जान लेना ब्रह्मज्ञान है।

६. ध्यान-चिन्तन का समय - ब्रह्म का कब ध्यान करना चाहिए ? इस प्रश्न का उत्तर अथर्ववेद में दिया गया है कि सूर्योदय से पूर्व ब्रह्ममुहूर्त में ब्रह्म का ध्यान-चिन्तन और नामस्मरण अर्थात् जप करना चाहिए।[२५] ब्राह्ममुहूर्त में ब्रह्म का मनन -चिन्तन और ध्यान सरलता से होता है। शान्त वातावरण होने के कारण मन शीघ्र एकाग्र होता है और ध्यान ठीक ढंग से हो पाता है।

१-२० ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम्। अ० १०.७.१७

१-२१. अ० १०.७.१७

१-२२. यः श्रमात् तपसो जातः..... सोमं यश्चक्रे केवलम्। अ० १०.७.३६

१-२३. यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवा अंगे .... तान् ब्रह्मविदो विदुः। अ० १०.७.२७

१-२४. यो वेतसं हिरण्ययं तिष्ठन्तं वेद०। अ० १०.७.४१

१-२५. नाम नाम्ना जोहवीति पुरा सूर्यात् पुरोषसः। अ० १०.७.३१

२. ज्येष्ठ ब्रह्म

ज्येष्ठ ब्रह्म का अर्थ और स्वरूप - अथर्ववेद के ४४ मंत्रों वाले एक सूक्त में ज्येष्ठ ब्रह्म का ही वर्णन है ।[१] इसमें ब्रह्म का स्वरूप, उसका विराट् रूप, उसमें सभी लोकों की स्थिति, उसकी प्राप्ति के उपाय आदि का वर्णन है । उसका ही संक्षिप्त विवरण यहां प्रस्तुत किया जा रहा है ।

ज्येष्ठ का अर्थ है- सबसे बड़ा । यहां अभिप्राय है- सबसे बड़ी सत्ता या शक्ति । ब्रह्म संसार में सबसे बड़ी शक्ति है । वह संसार का कर्ता, धर्ता और संहर्ता है । ब्रह्म के स्वरूप के विषय में कहा गया है कि वह अत्यन्त सूक्ष्म है । इसलिए उसकी गति आदि पता नहीं चलती । उसका स्थिर रहना तो दिखाई पड़ता है, गति दिखाई नहीं पड़ती । वह बहुत दूर होने पर भी समीप है और समीप होने पर भी अज्ञान के आवरण के कारण बहुत दूर है ।[२] सिर को एक बड़ा कटोरा मानते हुए कहा गया है कि यह कटोरा उल्टा रखा हुआ है अर्थात् कटोरे का मुख नीचे की ओर है । अभिप्राय यह है कि शक्ति का स्रोत ऊपर सिर में है । उसमें ही विश्व की सारी प्रतिष्ठा, यश-कीर्ति रखी हुई है । उसी में सात ऋषियों (५ज्ञानेन्द्रियां, मन और बुद्धि) का निवास है । ये सात ऋषि उस सिररूपी महान् निधि की रक्षा करते हैं।[३] उस ज्येष्ठ ब्रह्म से ही सूर्य निकलता है और उसी में अस्त होता है, उससे बढ़कर और कोई नहीं है ।[४] उसको ही सूर्य अग्नि और हंस भी कहते हैं ।[५] वह पुरुष, स्त्री, कुमार और कुमारी आदि सभी रूपों को धारण करता है ।[६] वह ज्येष्ठ ब्रह्म ही अवि नामक तत्त्व (Chlorophyll, क्लोरोफिल) है, जिसके कारण सारे वृक्ष और वनस्पतियों में हरियाली है ।[७]

ज्येष्ठ ब्रह्म का विराट् रूप - ज्येष्ठ ब्रह्म के विराट् रूप का वर्णन करते हुए कहा गया है कि भूमि उसका पैर है, अन्तरिक्ष उसका पेट है, द्युलोक उसका सिर है । सूर्य और चन्द्रमा उसकी आंख है । अग्नि उसका मुंह है । वायु उसका श्वास-प्रश्वास (प्राण-अपान) है । अंगिरा ऋषिगण उसके नेत्र हैं । सारी दिशाएं उसके कान हैं ।[८] उस ब्रह्म ने ही द्युलोक और भूमि को स्थिर किया है । सारे प्राण धारण करने वाले और देखने वाले जीव उस ज्येष्ठ

२-१. अथर्व० १०.८.१ से ४४

२-२. अयातमस्य ददृशे न यातम् , परं नेदीयोऽवरं दवीयः । अ० १०.८.८

२-३. तिर्यग्बिलश्चमस० । अ० १०.८.९

२-४. यतः सूर्य उदेति० । अ० १०.८.१६

२-५. आदित्यमेव ते परि वदन्ति० । अ० १०.८.१७

२-६. त्वं स्त्री त्वं पुमानसि । अ० १०.८.२७

२-७. अविर्वै नाम देवता० ।
तस्या रूपेणेमे वृक्षा हरिता हरितस्रजः । अ० १०.८.३१

२-८. यस्य भूमिः प्रमा० यस्य सूर्यश्चक्षुः० ।
यस्य वातः प्राणापानौ० । अ० १०.७.३१ से ३३

ब्रह्म में ही विद्यमान हैं ।[९] वर्तमान, भूत और भविष्य तीनों कालों का वह स्वामी है । वह केवल प्रकाशमय है ।[१०]

ज्येष्ठ ब्रह्म में सारी सृष्टि - अथर्ववेद का कथन है कि सारी सृष्टि, जो गतिशील है और प्राणयुक्त है, ज्येष्ठ ब्रह्म में प्रतिष्ठित है ।[११] एक अन्य मंत्र में कहा गया है कि जो गतिशील है, जो स्थिर है, जो प्राणयुक्त है, जो प्राणरहित है, जो निमेष-उन्मेष (आंख खोलना-बन्द करना) करता है, वे सब समष्टि रूप होकर उस ज्येष्ठ ब्रह्म में एक हो जाते हैं।[१२] सारे देवता और मनुष्य उस ज्येष्ठ ब्रह्म से इसी प्रकार बंधे हुए हैं, जैसे नाभि (केन्द्र) में अरे (Spokes) लगे होते हैं ।[१३]

ज्येष्ठ ब्रह्म की प्राप्ति के साधन - अथर्ववेद में ज्येष्ठ ब्रह्म की प्राप्ति के कुछ साधनों का उल्लेख है । संक्षेप में ये हैं -

१. मनोनिग्रह - ब्रह्म सूक्ष्म है । वह सारे संसार की गति-विधि का नियन्ता है । ब्रह्म की गतिविधि को सब सदा देखते हैं, पर मनोनिग्रह न होने से उसे नहीं जान पाते हैं । मन का निग्रह होने पर उसका साक्षात्कार हृदय में होता है ।[१४]

२. अन्तर्दर्शन - ब्रह्म मनुष्य के मन-मन्दिर में रमा हुआ है, यदि मनुष्य अपने मन को अन्दर की ओर मोड़ लेता है और अन्तर्दृष्टि विकसित करता है तो उसे ब्रह्म की प्राप्ति सरलता से हो सकती है ।[१५]

३. सूत्र का सूत्र - ब्रह्म संसार में संघटक तत्त्व (मिलाने वाला) के रूप में सर्वत्र विद्यमान है । उसमें सारा संसार माला में फूल की तरह पिरोया हुआ है । वह माला के धागे के तुल्य है । जो इस सूत्रात्मा को समझ लेता है, वह ब्रह्म को जान पाता है ।[१६]

४. हृदय में ब्रह्म का दर्शन - अथर्ववेद का कथन है कि ब्रह्म ९ द्वार (२ आंख, २ नाक, २ कान, मुंह, मलेन्द्रिय, मूत्रेन्द्रिय) वाले, सत्त्व रजस् और तमस् इन गुणों वाले हृदय-कमल में एक चेतन तत्त्व के रूप में विद्यमान है । ब्रह्मवेत्ता ही उसे जान पाते हैं ।[१७] हृदय-कमल में विद्यमान इस ब्रह्म को ध्यान-साधना से जाना और देखा जा सकता है ।

२-९. स्कम्भ इदं सर्वमात्मन्वद् यत् प्राणत् ० । अ० १०.८.३
२-१०. यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधि तिष्ठति० । अ० १०.८.१
२-११. तत्रेदं सर्वमार्पितमेजत् प्राणत् ० । अ० १०.८.६
२-१२. तत् संभूय भवत्येकमेव । अ० १०.८.११
२-१३. अ० १०.८.३४
२-१४. पश्यन्ति सर्वे चक्षुषा न सर्वे मनसा विदुः । अ० १०.८.१४
२-१५. एको ह देवो मनसि प्रविष्टः० । अ० १०.८.२८
२-१६. सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात् स विद्याद् ब्राह्मणं महत् । अ० १०.८.३७
२-१७. पुण्डरीकं नवद्वारं ....तद् वै ब्रह्मविदो विदुः । अ० १०.८.४३

एक अन्य मंत्र में कहा गया है कि वह ज्येष्ठ ब्रह्म निष्काम है, सर्वज्ञ है, अविनाशी है, आत्मानन्द से पूर्ण है, नित्य युवा है, जो उसको जान लेता है, वह मृत्यु के भय से मुक्त हो जाता है ।[१८] उस आत्मा का दर्शन ही मोक्ष प्राप्ति का साधन है ।

३. उच्छिष्ट ब्रह्म

उच्छिष्ट का अर्थ और स्वरूप - अथर्ववेद के एक पूरे सूक्त के २७ मंत्रों में उच्छिष्ट ब्रह्म का वर्णन है ।[१] उच्छिष्ट का अर्थ है - उत् + शिष्ट, बचा हुआ, शेष पदार्थ, जो भोजन आदि कार्य के बाद बचा रहता है । यहाँ पर उच्छिष्ट से अभिप्राय है- जो सारा संसार बनाने के बाद भी बचा रहता है, वह ब्रह्म है । ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद में स्पष्ट रूप से वर्णन किया गया है कि परमात्मा के १/४ अंश से यह सारा संसार बना है । उसका ३/४ अंश आकाश में व्याप्त है ।[२] इसका अभिप्राय यह है कि इस सारे दृश्य जगत् को देखकर हम ब्रह्म की शक्ति की एक-चौथाई अंश का ही साक्षात्कार कर पाते हैं । उसकी शक्ति का तीन चौथाई अंश अदृश्य है । उसको ही अथर्ववेद में उच्छिष्ट कहा गया है । इस उच्छिष्ट के आधार पर ही बृहदारण्यक आदि उपनिषदों में इस संसार के विषय में 'नेति नेति' (यह ब्रह्म नहीं है) का विचार प्रस्तुत किया गया है ।[३]

उच्छिष्ट ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा गया है कि नाम और रूप उच्छिष्ट पर आश्रित हैं ।[४] 'नामरूपात्मकं जगत्' यह सारा संसार केवल नाम और रूप है। इसमें वस्तुओं के विभिन्न नाम हैं और वस्तुओं का दृश्य रूप है । इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है । इस दृष्टि से संसार को नाम-रूपात्मक कहा जाता है । अद्वैतवेदान्त की दृष्टि से संसार को नाम-रूप-मात्र कहना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । उच्छिष्ट यह ब्रह्म का अव्यक्त रूप है । इससे ही सारे देवता, पुरुष, पितर, गन्धर्व, अप्सराएं और आकाश में रहने वाले देव एवं दिव्य विभूतियां उत्पन्न हुई हैं ।[५] सृष्टि की सभी वस्तुएं उच्छिष्ट से ही उत्पन्न हुई हैं।

उच्छिष्ट का विराट् रूप - उच्छिष्ट ब्रह्म महान् शक्ति है । उच्छिष्ट ब्रह्म चक्र की नाभि के तुल्य है । इसमें सारे देवता नाभि (केन्द्र) में अरे के तुल्य संबद्ध हैं ।[६] इसका अभिप्राय यह है कि उच्छिष्ट ब्रह्म सारे देवी-देवताओं को नियन्त्रित करने वाली शक्ति है । उसकी इच्छा के अनुसार सारे देवता कार्य करते हैं । उच्छिष्ट ब्रह्म में सारा संसार, सारे

२-१८. अकामो धीरो .... तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योः० । अ० १०.८.४४

३-१. अ० ११.७.१ से २७

३-२. ऋग्० १०.९०.४ । यजु० ३१.४ । अ० १९.६.३

३-३. अथात आदेशो नेति नेति । बृहदा० उप० २.३.६

३-४. उच्छिष्टे नाम रूपं च० । अ० ११.७.१

३-५. देवाः पितरो मनुष्याः.....उच्छिष्टात् जज्ञिरे० । अ० ११.७.२७

३-६. नाभिमिव सर्वतश्चक्रम् उच्छिष्टे देवताः श्रिताः । अ० १०.७.४

लोक, इन्द्र और अग्नि आदि समाए हुए हैं ।[७] उच्छिष्ट में द्युलोक, पृथिवी, सारा प्राणिजगत्, जल, वायु, चन्द्रमा और समुद्र आदि स्थित हैं ।[८]

उच्छिष्ट से सारे लोक आदि - अथर्ववेद का कथन है कि उच्छिष्ट ब्रह्म में द्युलोक, ९ महाद्वीप, सारे समुद्र, सूर्य, अहोरात्र आदि स्थित हैं ।[९] संसार में जितने भी महत्त्वपूर्ण तत्त्व हैं, उन सबकी स्थिति उच्छिष्ट में है । जैसे - ऋत, सत्य, तप, राष्ट्र, धर्म-कर्म, भूतकाल, भविष्यत् काल, वीर्य, लक्ष्मी, बल, समृद्धि, ओज, संकल्प-विकल्प, क्षात्र धर्म, राष्ट्र, ६ द्वीप, संवत्सर, अन्न, ग्रह, हव्य पदार्थ आदि ।[१०]

उच्छिष्ट ब्रह्म में ऋतु आदि से संबद्ध सभी तत्त्व विद्यमान हैं । जैसे- अर्धमास (पक्ष), मास, आर्तव (ऋतु देवता), ऋतु आदि । इनके अतिरिक्त मेघ, विद्युत् , जलप्रवाह आदि भी उच्छिष्ट में हैं ।[११]

इसके अतिरिक्त रेत, कंकड़, पत्थर, तृण, वृक्ष-वनस्पतियां, मेघ, विद्युत्, वर्षा आदि सभी उच्छिष्ट ब्रह्म में हैं ।[१२]

सभी प्रकार की समृद्धि आदि उच्छिष्ट में हैं । जैसे - सिद्धि, लाभ, वैभव, उत्तम समृद्धि आदि ।[१३]

उच्छिष्ट ब्रह्म से चारों वेद - उच्छिष्ट ब्रह्म से ही ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, (छन्दस्) और पुराण आदि की उत्पत्ति हुई है । साथ ही सभी देवों की उत्पत्ति भी उच्छिष्ट ब्रह्म से हुई है ।[१४]

इसी प्रकार सारे भौतिक और अभौतिक पदार्थ प्राण-अपान आदि तथा सभी प्रकार के आमोद-प्रमोद, आनन्द आदि उच्छिष्ट ब्रह्म से उत्पन्न हुए हैं ।[१५]

उच्छिष्ट ब्रह्म से सारे यज्ञ - अथर्ववेद के इस सूक्त में छोटे और बड़े सभी यज्ञों की उत्पत्ति उच्छिष्ट ब्रह्म से बताई गई है । इसका अभिप्राय यह है कि सारे यज्ञ उस ब्रह्म की प्राप्ति के लिए ही किए जाते हैं । इसी प्रसंग में यज्ञों की लंबी सूची दी गई है । यथा- राजसूय, वाजपेय, अग्निष्टोम, अर्कमेध, अश्वमेध, विश्वजित् , एकाह (एक दिन चलने

३-७. अ० ११.७.१
३-८. अ० ११.७.२
३-९. अ० ११.७.१४
३-१०.अ० ११.७.१७-१८
३-११.अ० ११.७.२०
३-१२.अ० ११.७.२१
३-१३.अ० ११.७.२२
३-१४.ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह । अ० ११.७.२४
३-१५.प्राणापानौ०, आनन्दा मोदाः० । अ० ११.७.२५-२६

वाले यज्ञ) से लेकर १२ और १६ दिन तक लगातार चलने वाले यज्ञों का उल्लेख है ।[१६] उच्छिष्ट ब्रह्म के विषय में कहा गया है कि वह प्राण का पौत्र है, किन्तु अन्य सभी का पिता या पितामह है ।[१७]

४. रोहित ब्रह्म

रोहित ब्रह्म का अर्थ और स्वरूप - अथर्ववेद के पूरे १३ वें कांड के १८८ मंत्रों में रोहित ब्रह्म का वर्णन है । अथर्ववेद की सर्वानुक्रमणी में इस कांड के विषय में कहा गया है कि इस कांड के देवता ब्रह्म, रोहित और आदित्य हैं । इससे ज्ञात होता है कि इस कांड में रोहित का ब्रह्म और सूर्य के रूप में वर्णन है । अधिकांश मंत्रों में सूर्य का वर्णन है । साथ ही सूर्य को ब्रह्म का रूप मानकर ब्रह्म का वर्णन किया गया है ।

रोहित शब्द का सामान्यतया अर्थ लाल या लाल रंग होता है । सूक्तों को देखने से ज्ञात होता है कि यहां रोहित शब्द यौगिक अर्थ में हैं - रुह् (उत्पन्न होना) धातु से रोहित शब्द बना है । इसका अर्थ है - जिससे सब पदार्थों की उत्पत्ति होती है, वह शक्ति या ब्रह्म रोहित है । अत: इस कांड में रोहित शब्द का प्रयोग सर्वव्यापक ब्रह्म और संसार को शक्ति देने वाले सूर्य के लिए हुआ है । दोनों रूपों में रोहित की विस्तृत व्याख्या है ।

रोहित ब्रह्म द्युलोक और पृथिवी का उत्पादक है । वह सारे संसार का रक्षक है । उसमें ही सारी दिशाएं, ६ महाद्वीप आदि का निवास है ।[१] वह ब्रह्म है । उसको ज्ञान से बढ़ाया जाता है ।[२] रोहित ब्रह्म सूर्य के रूप में भी है । वह सारे संसार को देखता हुआ द्युलोक में विचरण करता है ।[३] वह सूर्यरूप में द्युलोक का स्वामी है । वह द्युलोक, भूमि, समुद्र और सारे जीव-जगत् की रक्षा करता है ।[४]

रोहित का विराट् रूप - अथर्ववेद में रोहित ब्रह्म के विराट् रूप का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वह सबको देखने वाला है, उसके हाथ और मुंह सब ओर हैं, वह सर्वव्यापक है । वह अपने हाथ और पैर से संसार का पालन करता है । वह द्युलोक और पृथिवी का कर्ता है और एक है ।[५] वह संसार को मारने वाला और जीवन देने वाला है। उसके कारण ही सारा संसार जीवित है ।[६] उसके कारण ही वायु में गति है और समुद्र के

३-१६.राजसूयं वाजपेयम्०। अ० ११.७.७ से १२
३-१७.पिता जनितुरुच्छिष्टोऽसो: पौत्र: पितामह: । अ० ११.७.१६
४-१. य इमे द्यावापृथिवी जजान० । अ० १३.३.१
४-२. ब्रह्म सन्तं ब्रह्मणा वर्धयन्ति । अ० १३.१.३३
४-३. संपश्यन् याति भुवनानि विश्वा । अ० १३.२.३८
४-४. दिवं समुद्रमाद् भूमिं सर्वं भूतं वि रक्षति । अ० १३.२.४१
४-५. यो विश्वचर्षणि:० द्यावापृथिवी जनयन् देव एक: । अ० १३.२.२६
४-६. यो मारयति प्राणयति० । अ० १३.३.३

जल-प्रवाह प्रवाहित हो रहे हैं ।[७] उसमें ही परमेष्ठी प्रजापति और वैश्वानर अग्नि पंक्तिबद्ध होकर निवास करते हैं ।[८] उसमें ही ६ महाद्वीप, ५ दिशाएं, ४ जल (समुद्र) निवास करते हैं ।[९] वह कालचक्र का प्रवर्तक है । उसने ही दिन-रात, ३० दिन का मास, १३ वां मलमास आदि बनाया है ।[१०]

उस रोहित ब्रह्म में ही सात सौर लोकों का निवास है ।[११] वही प्रातः सूर्यरूप में उदय होता हुआ 'मित्र' कहा जाता है और सायंकाल अस्त होता हुआ 'वरुण' कहा जाता है ।[१२] वही समुद्र में हजारों शाखाओं वाला होकर वाडवाग्नि है । इसको अत्रि कहते हैं।[१३]

रोहित सृष्टिकर्ता - अथर्ववेद में रोहित ब्रह्म का सृष्टिकर्ता के रूप में वर्णन हुआ है। उस रोहित ने सारे संसार को उत्पन्न किया है ।[१४] रोहित ने द्युलोक और पृथिवी को उत्पन्न किया है और उसमें आत्मारूपी (परमेष्ठी) तन्तु को फैलाया है । उसने ही अपनी शक्ति से द्यावापृथिवी को दृढ़ किया है ।[१५] संसार में जो कुछ तेजोमय है, वह सब रोहित से ही उत्पन्न हुआ है ।[१६]

रोहित सर्वदेवमय - अथर्ववेद के एक सूक्त के ५६ मंत्रों में बहुत विस्तार से वर्णन किया गया है कि रोहित ब्रह्म ही एकमात्र देव है ।[१७] वह 'एकवृत्' है अर्थात् अकेला ही देव है ।[१८] वह न दूसरा, न तीसरा, न चौथा आदि है । सारे देवता समष्टि रूप में एक होकर उसमें ही एक हो जाते हैं ।[१९] अथर्ववेद में सभी प्रमुख देवों का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि ये सारे देवता उस रोहित ब्रह्म के ही विविध रूप हैं । जैसे अर्यमा, वरुण, रुद्र, महादेव, अग्नि, सूर्य, महायम, सविता, महेन्द्र, वायु, धाता, विधाता, आकाश आदि।[२०] उस रोहित के सैकड़ों, लाखों, करोड़ों, रूप हैं, जिनसे यह सारा संसार बँधा हुआ है ।[२१]

४-७. अ० १३.३.२
४-८. यस्मिन् विराट् परमेष्ठी० । अ० १३.३.५
४-९. अ० १३.३.६
४-१०.अ० १३.३.८
४-११.यस्मिन् सूर्या अर्पिताः सप्त साकम् ० । अ० १३.३.१०
४-१२.स वरुणः सायम् ० । अ० १३.३.१३
४-१३.अप्स्वन्तः सहस्रमूलः.... अत्रिः । अ० १३.३.१५
४-१४.यो रोहितो विश्वमिदं जजान । अ० १३.१.१
४-१५.रोहितो द्यावापृथिवी जजान० । अ० १३.१.६
४-१६.अ० १३.१.५५
४-१७.अ० १३.४.१ से ५६
४-१८.स एष एक एकवृद् एक एव । अ० १३.४.१२
४-१९.अ० १३.४.२१
४-२०.अ० १३.४.१ से १३
४-२१.अ० १३.४.४४-४५

रोहित ब्रह्म सूर्यरूप में – अथर्ववेद में रोहित ब्रह्म का सूर्य के रूप में भी विस्तार से वर्णन है। ब्राह्मणग्रन्थों और उपनिषदों में भी सूर्य को ब्रह्म कहा गया है।[२२] अथर्ववेद में रोहित ब्रह्म का सूर्य के रूप में वर्णन करते हुए कहा गया है कि वह अपने रथ में सात तेजोमय घोड़ों को जोतता है और अपनी योजना के अनुसार विचरण करता है। वह कभी आलस्य नहीं करता है और अपने दो रूप (प्रकाश एवं अंधकार) प्रकट करता हुआ चलता है। वह लोकों को प्रकाशित करता है। हे सूर्य, तुम महान् हो, तुम्हारी महिमा महान् है, अतः तुम्हारा गुणगान होता है। तुम द्युलोक, अन्तरिक्ष, पृथिवी और समुद्री जल को प्रकाशित करते हो। तुम अपने प्रकाश से दोनों समुद्रों तक व्याप्त हो। तुम्हारी सामर्थ्य महान् है।[२३]

सूर्य उड़ता हुआ (आकाश में) चलता है, अतः इसको उड़ने वाला 'पतंग' कहा गया है। यह सर्वत्र व्याप्त है, अतः 'विष्णु' है। यह तेजोमय है, अतः 'केतु' है। यह सुन्दर पंख वाले पक्षी की तरह उड़ता हुआ चलता है, अतः 'सुपर्ण' है। यह द्युलोक, अन्तरिक्ष और पृथिवी को प्रकाशित करता है।[२४]

सूर्य चर और अचर जगत् की आत्मा है। यह देवों का तेजोमय मुख है। यह द्युलोक, पृथिवी और अन्तरिक्ष में सर्वत्र व्याप्त है।[२५] यह अन्धकार को नष्ट करके प्रकाश देता है, अतः 'दिवाकर' है। यह अपनी शुद्धता से सारे पापों को नष्ट करता है, अतः 'शुक्र' है।[२६]

यह सूर्य ही उदय होते समय 'मित्र' कहा जाता है और सायंकाल अस्त होते समय 'वरुण' कहा जाता है। यह अन्तरिक्ष में 'सविता' के रूप में विचरण करता है और 'इन्द्र' के रूप में दिन में तपता है।[२७] यह सूर्य जलीय महाशक्ति के रूप में समुद्र में 'अत्रि' रूप में विद्यमान है। यह समुद्री जल को सुखाता है और सैकड़ों प्रकार से समुद्र में अपनी जड़ जमाए हुए है।[२८]

रोहित ब्रह्म वाक्तत्त्व के रूप में - अथर्ववेद में रोहित ब्रह्म का गो (वाणी, वाक्तत्त्व) के रूप में भी वर्णन है। इसके स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा गया है कि इसके एक, दो, चार, आठ आदि पाद (चरण, विभाजन) हैं। हजारों अक्षरों तक इसकी मर्यादा है। यह सहस्रों अक्षरों के रूप में व्याप्त है। इस वाक्तत्व के समुद्र बह रहे हैं, अर्थात्

४-२२.शत० ब्रा० ४.१.४.१। छान्दो० उप० ३.१९.१। बृहदा० उप० २.१.२
४-२३.अथर्व० १३.२.२४, २८ से ३०
४-२४.पतयन् पतंगः, विष्णुः, केतुना सहते, सुपर्णः। अथर्व० १३.२.३१-३२
४-२५.सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च। अ० १३.२.३५
४-२६.दिवाकरः शुक्रः। अ० १३.२.३४
४-२७.वरुणः सायम् , मित्रो.... प्रातरुद्यन्। अ० १३.३.१३
४-२८.अप्सु-अन्तः सहस्रमूलः पुरुशाको अत्रिः। अ० १३.३.१५

सारा वाङ्मय वाक्तत्त्व की महिमा का ही विस्तार है ।[२९] ऋग्वेद में भी इसका इसी रूप में वर्णन है कि इस वाक्तत्त्व की महिमा से सारा संसार जीवित है,[३०] अर्थात् सारा साहित्य वाक्तत्त्व की देन है और इससे ही संसार को जीवन-शक्ति मिल रही है ।

रोहित द्यावापृथिवी का आधार - रोहित में ही द्यावापृथिवी अधिष्ठित हैं । वह सर्वत्र विद्यमान है, अतः उसके हजारों जन्म स्थान हैं । वह संसार का केन्द्र है ।[३१] रोहित पृथ्वी के गर्भ में है । वह द्युलोक और अन्तरिक्ष में व्याप्त है । वह सारे लोकों में समाया हुआ है ।[३२] रोहित सूर्य के रूप में काल (समय, Time) है । वह द्यु-भू, सभी दिशाओं तथा समुद्रों का रक्षक है ।[३३]

रोहित ब्रह्म के रूप में - अथर्ववेद में रोहित का सर्वव्यापक ब्रह्म के रूप में विस्तृत वर्णन है । कांड १३ के ४ से ९ सूक्तों में ५६ मंत्रों में रोहित का ब्रह्मरूप में प्रतिपादन है । इसमें कहा गया है कि वह एक है, अकेला है । वह न दो है, न तीन है, न अनेक है । वह शुद्धरूप में एक है । सारे देवता उससे ही निकले हैं और उसी में लीन हो जाते हैं ।[३४] उसके सैकड़ों ही नहीं, अपितु अरबों रूप हैं ।[३५] वह ब्रह्म रूप में है । वह वर्तमान, भूत और भविष्य है । वह मृत्यु और अमृत दोनों है । वह रुद्र है । सारे देवता और राक्षस उसकी आज्ञा में चलते हैं । सारे नक्षत्र एवं चन्द्रमा आदि उसी की आज्ञा में रहते हैं।[३६]

वह रोहित ब्रह्म ही सविता, धाता, विधाता, रुद्र, महादेव, अर्यमा, वरुण, अग्नि, सूर्य, महेन्द्र, यम, मरुत् देवता आदि के रूप में विद्यमान है ।[३७]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि रोहित ब्रह्म का विवेचन ब्रह्म और सूर्य दोनों के रूप मे हुआ है ।

५. अनड्वान् ब्रह्म

अनड्वान् का अर्थ -अथर्ववेद में ब्रह्म का अनड्वान् के रूप में वर्णन हुआ है।[१] अनड्वान् का अर्थ है-अनस् +वह् , जो अनस् अर्थात् बैलगाड़ी या शकट (छकड़ा) को ढोता है, वह बैल । ब्रह्म या परमात्मा को बैल कहने का अभिप्राय है कि ब्रह्म संसाररूपी

४-२९.एकपदी द्विपदी...तस्याः समुद्रा अधि वि क्षरन्ति । अ० १३.१.४२

४-३०.एकपदी...तस्याः समुद्राः ....तद् विश्वमुप जीवति । ऋग्० १.१६४.४१-४२

४-३१.रोहिते द्यावापृथिवी अधिश्रिते० नाभिं भुवनस्य० । अ० १३.१.३७

४-३२.अ० १३.१.१६

४-३३.रोहितः कालो अभवद्० । अ० १३.२.३९-४१

४-३४.(क) स एष एक एकवृदेक एव । अ० १३.४.१२

(ख) सर्वे अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति । अ० १३.५.१६ से २१

४-३५.ते तन्वः शतम् । यदि वासि न्यर्बुदम् । अ० १३.७.४४-४५

४-३६.अ० १३.६.२२ से २८ ३७.अ० १३.४.१ से १३

५-१. अ० ४.११.१ से १२

गाड़ी को ढोता है । संसार को चलाने और गति देने का कार्य ईश्वर करता है । वही नियन्ता और धर्ता है । संसार को एक शकट मानना रूपक अलंकार है । इस रूपक के द्वारा ईश्वर के विविध क्रियाकलाप का वर्णन अथर्ववेद के इस सूक्त में किया गया है ।

अनड्वान् इन्द्र है - अथर्ववेद में ही स्पष्ट किया गया है कि यह अनड्वान् (बैल) इन्द्र है ।[२] इन्द्र शब्द परमात्मा और जीवात्मा दोनों के लिए आता है । यहां दोनों अर्थ लिए गए हैं । परमात्मा संसाररूपी शकट का चालक है और जीवात्मा शरीररूपी शकट का। परमात्मा संसार का नियन्ता और गतिदाता है । जीवात्मा शरीर को गति देता है और उसका नियन्त्रण करता है ।

अनड्वान् का विराट् रूप- अनड्वान् ब्रह्म के विराट् रूप का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वह द्युलोक, अन्तरिक्ष और पृथिवी को धारण करता है । वह सारे संसार में व्याप्त है ।[३] उसके स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वह इन्द्र और अग्नि है। वह सर्वशक्तिमान् है, सारे सामर्थ्य वाले काम वह करता है, अतः इन्द्र है । अग्नि में हव्य आदि को वहन (ढोना, एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना) की शक्ति है, वही वहन की शक्ति अनड्वान् में है, अतः वह अग्नि है । वह संसार का पालक है, अतः प्रजापति है। वह सर्वश्रेष्ठ है, अतः परमेष्ठी है । उसका कार्य महान् है, अतः विराट् है । वह सारे मनुष्यों में व्याप्त है, अतः उसे वैश्वानर अग्नि कहते हैं । उसने ही संसार को दृढ़ (स्थिर) बनाया है और वही सारे संसार को धारण किए हुए है ।[४]

वह अनड्वान् ब्रह्म सारे संसार का स्वामी है, अतः विश्वजित् है और संसार का पालक होने से विश्वभृत् है । वह चतुष्पाद् है । जाग्रत् , स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय अवस्था ये ४ उसके पाद (पैर, अवस्थाएं) हैं । वह सब कुछ बनाने में दक्ष है, अतः विश्वकर्मा है।[५]

इन्द्ररूपी अनड्वान् ब्रह्म की कुछ विशेषताएं बतायी गई हैं । ये हैं- १. वह सबको देखता है । वह साक्षीरूप में सारे संसार को देखता है । २. उसने तीन मार्ग बनाए हैं । ये मार्ग हैं-सात्त्विक, राजस और तामस । प्रत्येक जीव इनमें से किसी एक मार्ग को अपनाता है । ३. वर्तमान, भूत और भविष्यत् इन तीनों कालों में उसका दोहन होता है । इसका अभिप्राय है कि वह सदा मनुष्य के कर्मों को देखता है और तदनुसार उन्हें फल देता है । जो जिस कामना से उसके पास जाता है, उसे उसी प्रकार का फल मिलता है । ४. वह देवों के सारे व्रतों को चलाता है । सूर्य, अग्नि, वायु आदि देवगण हैं । इनके गुण हैं -प्रकाश, जलाना, निरन्तर बहना आदि । इन देवों को वही शक्ति देता है । वही इनकी शक्ति का स्रोत है।[६]

५-२. अनड्वान् इन्द्रः । अ० ४.११.२

५-३. अनड्वान् विश्वं भुवनमा विवेश । अ० ४.११.१

५-४. इन्द्रो रूपेणाग्निर्वहेन० । अ० ४.११.७

५-५. यो विश्वजिद् विश्वभृद् विश्वकर्मा........चतुष्पात् । अ० ४.११.५

५-६. अ० ४.११.२

अनड्वान् के विराट् रूप का वर्णन करते हुए कहा गया है कि मेघ (बादल) उसके दूध की धारा हैं। मरुत् देवता उसके स्तन (थन) हैं। यज्ञ उसका दूध है और दक्षिणा (दान) उसका दोहन है। वह अपने दूध से सबको तृप्त करता है, अर्थात् वर्षा होना, वायु का बहना, यज्ञ की सारी प्रक्रियाएं, दान-दक्षिणा आदि कार्य उसकी ही कृपा के फल हैं।[७]

अनड्वान् केन्द्रीय (नाभिकीय) शक्ति है -अथर्ववेद में यह महत्त्वपूर्ण बात कही गई है कि अनड्वान् ब्रह्म केन्द्रीय शक्ति है, जिस पर सारा भार पड़ता है। वह केन्द्र में रहते हुए संसार की शक्ति का नियन्त्रण करता है। वह न आगे है, न पीछे। वह केन्द्र में है। वह ब्रह्म के रूप में केन्द्रीय शक्ति का संचालक और नियन्त्रक है।[८] यदि उस केन्द्रीय शक्ति को ठीक सन्तुलित रखा जाता है तो जीवन सदा सुखी रहता है।

अनड्वान् ब्रह्म शरीर में है - अथर्ववेद में वर्णन है कि वह इन्द्ररूपी अनड्वान् ब्रह्म मनुष्य के शरीर में प्रकट होता है। वह तपते हुए सूर्य के तुल्य मनुष्य की आत्मा को प्रकाशित करता है। जो उसको जान लेता है, वह अनासक्ति भावना से प्रेरित होकर स्वार्थ के लिए सांसारिक विषयों का भोग नहीं करता है। उसका सुफल यह होता है कि वह सुसन्तानयुक्त होकर सीधे मोक्ष को प्राप्त करता है। इधर-उधर विविध योनियों में नहीं भटकता।[९] इस प्रकार जो ज्ञान और कर्म का समन्वय करते हुए जीवन-निर्वाह करता है, उसको परमात्मा तीन लाभ देता है - १. परमात्मा उसकी आत्मा को पवित्र करता है। २. परमात्मा उसको बढ़ाता है, पुष्ट करता है और उसकी श्रीवृद्धि करता है। ३. परमात्मा उसे पुण्य लोकों में भेजकर आनन्दयुक्त रखता है।[१०]

ब्रह्म की प्राप्ति के साधन - अथर्ववेद में अनड्वान् रूपी ब्रह्म को अमृत की नाभि (केन्द्र) कहा गया है और उसकी प्राप्ति के दो साधन बताए गए हैं। ये हैं - १. व्रत का पालन, २. तपस्या या तपोमय जीवन व्यतीत करना।[११] व्रत का अभिप्राय है-निष्ठापूर्वक कार्य करना, सत्य आदि गुणों को जीवन में स्थापित करना, ज्ञान की निरन्तर वृद्धि करना। तप का अभिप्राय है - जीवन को दुर्गुणों से बचाते हुए सद्गुणों में प्रवृत्त करना, शरीर को संयमी बनाना, शरीर इतना सधा हुआ हो कि बड़े से बड़े संघर्ष या संकट को सरलता से सहन कर सके।

ब्रह्म के सात दोहन (प्रवाह)- अथर्ववेद में एक महत्त्वपूर्ण बात कही गई है कि अनड्वान् ब्रह्म से सात प्रकार के दोहन अर्थात् दुग्धधाराएं प्रवाहित होती हैं। इनको प्राप्त

५-७. पर्जन्यो धारा०। अ० ४.११.४

५-८. मध्यमेतदनडुहो०। अ० ४.११.८

५-९. इन्द्रो जातो मनुष्येष्वन्तः०। अ० ४.११.३

५-१०. अनड्वान् दुहे सुकृतस्य लोके०। अ० ४.११.४

५-११. व्रतेन तपसा यशस्यवः। अ० ४.११.६

करके मनुष्य सुसन्तान और सुखी जीवन प्राप्त करता है । इस विद्या को सप्तर्षि ही जानते हैं।[१२]

ये सात ऋषि कौन हैं और सात दोहन क्या हैं ? इसको यजुर्वेद में स्पष्ट किया गया है कि मनुष्य के शरीर में सात ऋषियों का निवास है और ये सातों शरीर की सदा रक्षा करते हैं ।[१३] सामान्यतया सात ऋषि ये लिये जाते हैं - २ आंख, २ कान, २ नाक और १ मुख। इनमें आंख, कान और नाक को कार्य दो न होकर एक ही हैं । अतः सात ऋषि से ये सात तत्त्व लेने उचित हैं । इनसे ये सात प्रकार के दोहन (दुग्ध, सात लाभ या प्रवाह) प्राप्त होते हैं।

१. आत्मा-यह आनन्दरूपी दुग्ध प्रदान करता है ।

२. बुद्धि- यह ज्ञान और विज्ञानरूपी दुग्ध प्रदान करती है ।

३. मन- यह मनन शक्तिरूपी दुग्ध प्रदान करता है ।

४. अहंकार- यह 'अहं बुद्धि' ममत्वरूपी दूध प्रदान करता है ।

५. प्राण- पांच प्राण 'जीवन शक्ति' रूपी दूध प्रदान करते हैं ।

६. ज्ञानेन्द्रियाँ- पांच आँख आदि ज्ञानेन्द्रियां 'विषय ज्ञान' रूपी दूध प्रदान करती हैं।

७. कर्मेन्द्रियाँ - पांच हाथ आदि कर्मेन्द्रियाँ 'कर्मशक्ति' रूपी दूध प्रदान करती हैं।

इन सात ऋषियों से ये सात प्रकार के दुग्ध प्राप्त करना ही 'सप्तर्षि विद्या' है । इनको प्राप्त करने से जीवन सुखमय होता है ।

६. बृहस्पति ब्रह्म

अथर्ववेद के एक सूक्त में बृहस्पति का ब्रह्म के रूप में वर्णन है ।[१४] बृहस्पति को इस संसार का सम्राट् (राजाधिराज) कहा गया है ।[१५] बृहस्पति को ब्रह्म बताते हुए कहा गया है कि वह सबसे पहले उत्पन्न हुआ था । वह सत् और असत् (विद्यमान और अविद्यमान) दोनों का कारण है ।[१६] वह संसार का बन्धु है और सारे देवों के जन्म का वृत्तान्त जानता है ।[१७] उसने ही द्यावापृथिवी और अन्तरिक्ष को सुरक्षित ढंग से स्थापित किया हुआ है ।[१८] उस ब्रह्म का ज्ञान ब्रह्म (आत्मा) से ही होता है अर्थात् जीवात्मा के द्वारा

५-१२. यो वेदानडुहो दोहान् सप्त० । अ० ४.११.९

५-१३. सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे,
सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम् । यजु० ३४.५५

६-१४. अथर्व० ४.१.१ से ७

६-१५. बृहस्पतिर्देवता तस्य सम्राट् । अ० ४.१.५

६-१६. सतश्च योनिम् असतश्च वि वः । अ० ४.१.१

६-१७. विश्वा देवानां जनिमा विवक्ति । अ० ४.१.३

६-१८. अ० ४.१.४

परमात्मा का ज्ञान होता है ।[१९] एक मंत्र में बृहस्पति, ब्रह्म और अथर्वन् (अथर्वा) को पर्यायवाची बताया गया है ।[२०] इससे ज्ञात होता है कि ये तीनों शब्द ब्रह्म (ब्रह्मन्) अर्थ का बोध कराते हैं।

७. व्रात्य ब्रह्म

व्रात्य का अर्थ - अथर्ववेद के पूरे १५ वे कांड (सूक्त १८, मंत्र २३०) में व्रात्य का वर्णन है । व्रात्य का ब्रह्म के रूप में वर्णन किया गया है ।

आचार्य सायण ने अपने अथर्ववेद-भाष्य में वर्णन किया है कि जिसका यथासमय उपनयन आदि संस्कार नहीं हुआ है, उसे व्रात्य कहते हैं ।[१] इनको 'पतित-सावित्रीक' कहा गया है, अर्थात् जिनको गायत्री मंत्र या वेद पढ़ने का अधिकार प्राप्त नहीं है । इन्हें यज्ञ आदि करने का अधिकार नहीं है और ये पतित माने जाते हैं । सामान्यतया व्रात्य का अभिप्राय है कि जो व्यक्ति द्विज कुल में उत्पन्न हुआ हो और यथासमय उपनयन संस्कार न हुआ हो, वह व्रात्य कहा जाता था ।

इस कांड में व्रात्य का दो रूप में वर्णन प्राप्त होता है - १. हीन वृत्ति वाला व्यक्ति, २. उच्च आचारयुक्त व्यक्ति । जो उच्च आचारशील व्यक्ति होते थे, वे साधु, सन्त, महात्मा, फकीर या पीर के रूप में होते थे और ये देवता के तुल्य आदर प्राप्त करते थे । हीन वृत्ति वाले व्यक्ति पतित माने जाते थे । इस कांड में व्रात्य ब्रह्म और उसके विराट् रूप का विस्तृत वर्णन है ।

व्रात्यों की जीवनचर्या - कात्यायन, लाट्यायन, आपस्तम्ब आदि श्रौतसूत्रों में व्रात्यों की जीवनचर्या का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है । पाणिनि और पतंजलि ने भी व्रात्यों का उल्लेख किया है और इनको 'व्रातीन' कहा है ।[२] लाट्यायन श्रौतसूक्त में व्रात्य और व्रातीन दोनों शब्दों का प्रयोग हुआ है ।[३] प्रो० वेबर ने व्रात्य का अर्थ ब्राह्मणेतर आयुधजीवी संघ या जातियों को लिया है । लाट्यायन श्रौतसूत्र का कथन है कि व्रात्य लूट-पाट करके या लोगों का उत्पीडन करके अपनी आजीविका चलाते थे ।[४]

व्रात्यों की जीवनचर्या के विषय में कात्यायन, लाट्यायन, शांखायन आदि श्रौतसूत्रों का कथन है कि ये पट्टे या तख्त का बना साधारण रथ या गाड़ी रखते थे और उस पर बैठकर ऊँचे-नीचे मार्ग पर चलते थे ।[५] ये गुलेल के ढंग का बिना डोरी का धनुष रखते

६-१९. ब्रह्म ब्रह्मण उज्जभार । अ० ४.१.३

६-२०. यो ऽथर्वाणं ....बृहस्पतिम्० । अ० ४.१.७

७-१. अथर्व० १५.१.१ पर सायण भाष्य ।

७-२. अष्टाध्यायी ५.२.२१

७-३. लाट्या० श्रौत० ८.५.१

७-४. लाट्या० ८.६.७

७-५. कात्यायन श्रौत० २२.४.१ से २८

थे ।[६] वे टेढ़ी पगड़ी बांधते थे । कुछ व्रात्य काले वस्त्र और कुछ लाल वस्त्र पहनते थे ।[७] पतंजलि ने महाभाष्य में लाल पगड़ी वाले ऋत्विजों का उल्लेख किया है ।[८] ये व्रात्यों के ही ऋत्विज् थे । कात्यायन श्रौतसूत्र में वर्णन है कि व्रात्यों के आचार्य नृत्य, गीत, वाद्य और शस्त्रविद्या में निपुण होते थे । ये अपनी विद्या व्रात्यों को सिखाते थे ।[९] डा० वासुदेव-शरण अग्रवाल ने अपने ग्रन्थ 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' में व्रात्यों के विषय में विस्तृत जानकारी दी है ।[१०]

व्रात्य स्तोम - कात्यायन श्रौतसूत्र में व्रात्यों को शुद्ध करके आर्य बनाने और उन्हें वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था के अन्तर्गत लाने के लिए व्रात्यस्तोम नामक यज्ञ की व्यवस्था है । इस यज्ञ से उनकी शुद्धि हो जाती थी ।[११] तत्पश्चात् उन्हें यज्ञ आदि का अधिकार प्राप्त हो जाता था और उनका आर्यों के साथ सामाजिक संपर्क, खान-पान, विवाह आदि सम्बन्ध स्थापित हो जाता था । लाट्यायन श्रौतसूत्र में स्पष्ट निर्देश है कि व्रात्यस्तोम द्वारा शुद्धि होने पर व्रात्यों से खान-पान, धर्म-कार्यों आदि में किसी प्रकार का भेदभाव न रखें।[१२]

व्रात्यस्तोम के चार भेद - कात्यायन श्रौतसूत्र में व्रात्यस्तोम के चार भेदों का उल्लेख है ।[१३] ये भेद आयु एवं कर्म के आधार पर थे । चार भेद ये हैं -

१. पुरोहितों और आचार्यों के लिए - यह व्रात्यस्तोम पंडित, पुरोहित एवं आचार्यों के लिए था । व्रात्यों के पंडित और पुरोहित रसोई आदि से भी अग्नि लाकर उसमें हवन, धार्मिक कृत्य आदि कर सकते थे । इन्हें धर्म-कर्म में बहुत छूट दी गई थी ।

२. दुष्टों के लिए - यह व्रात्यस्तोम हिंसकों और अत्याचारियों के लिए था । यह बिगड़ों को सुधारने के लिए निमित्त था । एक प्रकार से सुधारवादी आन्दोलन था । इसमें लूट-पाट करने, हत्या करने आदि नृशंस कार्यों को करने वालों को उपदेश, शिक्षा, प्रवचन आदि के द्वारा सुधारने का प्रयत्न होता था ।

३. नवयुवकों के लिए - तीसरा व्रात्यस्तोम छोटे युवकों के लिए था । इसमें छोटे बालकों को आचारशिक्षा आदि के द्वारा सुधारा जाता था । इनमें अच्छे संस्कार भरे जाते थे, जिससे ये लूट-पाट, क्रूरता आदि के कृत्यों से बच सकें । यह एक प्रकार से युवा-प्रशिक्षण-शिविर होता था ।

७-६. लाट्या० श्रौत० ८.६.७

७-७. कात्या० २२.४.१४ । लाट्या० ८.६.२०

७-८. लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति । महाभाष्य १.१.२७ । २.२.२४

७-९. कात्या० २२.४.३ की टीका ।

७-१०. पाणिनिकालीन भारतवर्ष पृष्ठ ४५३-४५६

७-११. व्रात्यस्तोमेन-इष्ट्वा व्रात्यभावाद् विरमेयुः । कात्या० २४.४.३९

१२. लाट्या० ८.६.२९ और ३० ।

७-१३. कात्या० श्रौत० २२.४.३ से ६

४. वृद्धों के लिए - चौथा व्रात्यस्तोम वृद्धों के लिए था । ये कुल-वृद्ध, स्थविर या गृहपति आदि होते थे । ये व्रात्यों के आचार्य एवं कुलगुरु होते थे । इनको वर्तमान पीर कह सकते हैं । ये कबायली लोगों के धर्मगुरु होते थे । इनका कार्य था- समाज के लोगों को आचार-विचार की दृष्टि से समुन्नत करना ।

व्रात्य का स्वरूप- अथर्ववेद में व्रात्यों का जो वेष आदि बताया गया है । उसकी तुलना श्रौतसूत्रों से करने पर ज्ञात होता है कि श्रौतसूत्रों में व्रात्यों का वही रूप वर्णन किया गया है, जो अथर्ववेद में प्राप्त होता है । अथर्ववेद में वर्णन किया गया है कि वे पगड़ी बांधते थे, कानों में कुंडल और गले में हार पहनते थे । ये रथ पर बैठकर घूमते थे । इनके रथ या शकट ऊँची-नीची भूमि पर चलते थे । ये लंबे बाल रखते थे ।[१४]

व्रात्य योद्धा और पराक्रमी होते थे । इनके धनुष का बहुत गुणगान है । ये युद्धों में सदा विजयी होते थे, अतः इनका बहुत यश था । मंत्र में कथन है कि यश और कीर्ति इनके आगे-आगे चलते थे ।[१५] ये विद्वान् होते थे, अतः विज्ञान (विद्या, बुद्धि, बहुज्ञता) को इनका वस्त्र बताया गया है ।[१६] ये नृत्य, गान और स्तुति-पाठ में भी निपुण होते थे, साथ ही हास्यप्रिय होते थे, अतः इनके साथ नर्तकी, गायक आदि भी चलते थे । इनके साथियों में मागध (भाट), हस (हँसाने वाला) आदि का भी उल्लेख है ।[१७]

ये हस्त-शिल्प में भी निपुण होते थे । अथर्ववेद में व्रात्य की आसन्दी (कुर्सी) का विस्तार से उल्लेख है । ये कुर्सी बनाना, कुर्सी की बुनाई आदि की विद्या में दक्ष होते थे, अतः कुर्सी के ताने-बाने आदि का भी विस्तार से वर्णन है ।[१८]

व्रात्य का विराट् रूप-अथर्ववेद में व्रात्य के विराट् रूप का वर्णन है । व्रात्य ही आदिशक्ति था । उससे ही सारी सृष्टि उत्पन्न हुई । व्रात्य ने प्रजापति को प्रेरणा दी । वह हिरण्यगर्भ रूप में प्रकट हुआ । हिरण्यगर्भ ही ब्रह्म हुआ । वह तपोबल से महान् हुआ, अतः'महादेव' हो गया । वह सबका अधिष्ठाता हो गया, अतः उसे 'ईशान' कहा गया । उसने जो धनुष उठाया, वह ही आकाश में इन्द्रधनुष हो गया ।[१९]

व्रात्य को शिव माना गया है । सारी दिशाओं में उसकी शक्ति व्याप्त है । अतः शिव की विभिन्न शक्तियों को सभी दिशाओं का स्वामी बताया गया है । पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण आदि दिशाओं के ये स्वामी (अधिष्ठाता) गिनाए गए हैं -भव, शर्व, पशुपति, उग्र, रुद्र, महादेव, ईशान ।[२०]

७-१४.उष्णीषम् , केशाः, प्रवर्तौ, मणिः, विपथम् , विपथवाहौ । अ० १५.२.५ से ८

७-१५.कीर्तिश्च यशश्च पुरःसरौ० । अ० १५.२.५

७-१६.विज्ञानं वासः । अ० १५.२.५

७-१७.अ० १५.२.५ से ३०

७-१८.आसन्दीं व्रात्य आरोहत् । अ० १५.३.९

७-१९.अथर्व० १५.१.१ से ८

७-२०.अ० १५.५.१ से २१

व्रात्य सर्वोच्च देव है, अतः उसके साथ संसार की सभी वस्तुएं चलती हैं । वह जब जिस दिशा की ओर गति करता है, उस दिशा से संबद्ध सभी वस्तुएं उधर चल देती हैं। इस प्रसंग में दिशाओं के साथ उन वस्तुओं का विस्तृत विवरण दिया है । जैसे- जब व्रात्य ब्रह्म ध्रुवा (नीचे की दिशा) दिशा की ओर चला तब भूमि, वृक्ष, वनस्पति, ओषधियां आदि उसके साथ चल दीं । जब ऊर्ध्व (ऊपर की) दिशा की ओर चला तो सूर्य, चन्द्रमा, सारे नक्षत्र उसके पीछे चल दिए । इसी प्रसंग में चारों वेदों, इतिहास, पुराण, आहवनीय आदि अग्नियों, ऋतुओं, दिति, अदिति, इडा, इन्द्राणी आदि देवियों तथा प्रजापति, परमेष्ठी आदि का भी उल्लेख है ।[२१] इससे ज्ञात होता है कि व्रात्य सभी वेदों और विद्याओं का ज्ञाता है । संसार की सभी वस्तुएं, सारे देवी-देवता, यहाँ तक कि प्रजापति और परमेष्ठी भी उसके पीछे-पीछे चलते हैं ।

व्रात्य के विराट् रूप का वर्णन करते हुए कहा गया है कि सूर्य उसका दायाँ नेत्र है और चन्द्रमा बायाँ नेत्र । अग्नि और वायु उसके दोनों कान हैं । अहोरात्र उसकी नाक है । दिति और अदिति उसके सिर के दो भाग हैं । वर्ष उसका सिर है ।[२२]

व्रात्य सर्वदेवमय- अथर्ववेद में व्रात्य को सर्वदेवमय माना गया है । व्रात्य ही मूलभूत सत्ता है । उसका ही विकसित रूप ब्रह्म और महादेव हैं ।[२३] वह सब देवों का स्वामी हुआ और उसका नाम 'ईशान' हुआ ।[२४] अथर्ववेद के अनुसार व्रात्य महादेव अर्थात् महान् देव है । इस महादेव या रुद्र के ही शिव-वाचक पशुपति, भव, शर्व, उग्र, ईशान आदि नाम हैं ।[२५] व्रात्य के विराट् रूप में सारे देवों और देवियों का निवास है । सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु आदि उसके अंग-प्रत्यंग हैं ।[२६] व्रात्य के प्राण, अपान आदि के रूप में भूमि, अन्तरिक्ष, द्युलोक आदि तथा सभी देव हैं ।[२७] व्रात्य शिवरूप है । सारे देवी-देव शिव के ही विभिन्न रूप हैं ।

व्रात्य के प्राण, अपान और व्यान- अथर्ववेद में वर्णन है कि व्रात्य के सात प्राण, सात अपान और सात व्यान हैं ।[२८] इन सात प्राणों आदि का विस्तृत विवरण दिया गया है। ये सात प्राण आदि ये हैं -

---

७-२१.अ० १५.६.१ से २६
७-२२.अ० १५.१८.१ से ५
७-२३.अथर्व० १५.१.३ - ४
७-२४.अ० १५.१.५
७-२५.अ० १५.५.१ से २०
७-२६.अ० १५.१८.१ से ४
७-२७.अ० १५.१५ से १८ सूक्त
७-२८.तस्य व्रातस्य, सप्त प्राणाः, सप्तापानाः, सप्त व्यानाः । अ० १५.१५. १-२

(क) सात प्राण - अग्नि, आदित्य (सूर्य), चन्द्रमा, वायु, जल, पशु और प्रजा।[२९]

(ख) सात अपान- पूर्णिमा, अष्टका (अष्टमी), अमावस्या, श्रद्धा, दीक्षा, यज्ञ और दक्षिणा ।[३०]

(ग) सात व्यान- पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक, नक्षत्र, ऋतु, आर्तव (ऋतुओं के देवता) और संवत्सर ।[३१]

कार्य के आधार पर प्राण के ये तीन विभाग किए जाते हैं । प्राण ऊर्जा का स्रोत है, यह शक्ति देता है, स्फूर्ति देता है और गति का आधार है । अपान शोधक तत्त्व है । यह दोषों, मलों आदि को निकालता है और शरीर को स्वच्छ रखता है । व्यान व्यापक तत्त्व है । यह पूरे शरीर में व्याप्त है और सारे शरीर का संरक्षण एवं नियन्त्रण भी करता है ।

व्रात्य और अतिथि-सत्कार - अथर्ववेद कांड १५ के तीन सूक्तों के ३६ मंत्रों में अतिथि-सत्कार का विस्तृत वर्णन है ।[३२] इस प्रसंग से ज्ञात होता है कि व्रात्यों में जहाँ यज्ञ आदि कार्यों में न्यूनता थी, वहाँ अतिथि-सत्कार का भाव बहुत प्रबल था । वे अतिथि-सत्कार को बहुत महत्त्व देते थे । अतिथि को देवता के तुल्य पूज्य मानते थे और उसके स्वागत-सत्कार में कोई कमी नहीं होने देते थे ।

इन तीन सूक्तों में अतिथि-सत्कार के विषय में मुख्य बातें ये दी हैं -

१. अतिथि का सदा स्वागत करे । उसके स्वागत के लिए स्वयं जावे । उसको जलपान आदि कराकर सन्तुष्ट करे । उसकी आवश्यकता की पूर्ति करे ।

२. धार्मिक एवं विद्वान् अतिथि की ही पूजा करे ।

३. यदि गृहस्थ यज्ञ कर रहा है तो वह अपना यज्ञ छोड़कर अतिथि का सत्कार करे। अतिथि की स्वीकृति प्राप्त करके ही पुनः अपना यज्ञ करे । अतिथि की उपेक्षा करके यज्ञ में प्रवृत्त न हो ।

४. अतिथि को भोजन कराकर ही स्वयं भोजन करे । अतिथि से पहले भोजन न करे।

५. यदि कोई ढोंगी या पाखंडी अतिथि आता है तो भी उसका तिरस्कार न करे, अपितु सामान्य सत्कार करे ।

६. यदि कोई धार्मिक एवं विद्वान् अतिथि रात्रि में रुकना चाहता है तो उसके रुकने की व्यवस्था करे ।

अतिथि-सत्कार का अनन्त पुण्य बताया गया है । जो अतिथि-सत्कार करता है, उसके घर में श्री का निवास होता है ।

७-२९. अ० १५.१५.१से ९

७-३०. अ० १५.१६.१ से ७

७-३१. अ० १५.१७.१ से १०

७-३२. अ० १५. सूक्त ११ से १३

अध्याय - ५

ईश्वर

१. ईश्वर का स्वरूप

ईश्वर के गुण धर्म- चारों वेदों में ईश्वर के स्वरूप, गुण-धर्म एवं उसके क्रिया-कलाप के विषय में सैकड़ों मंत्र हैं । ईश्वर का अस्तित्व है या नहीं, ईश्वर नित्य है या अनित्य, ईश्वर जन्म लेता है या नहीं, ईश्वर साकार या निराकार, ईश्वर का क्या स्वरूप है, उसकी मूर्ति होती है या नहीं, उसकी क्या विशेषताएं हैं, वह कैसे प्राप्त किया जा सकता है, इत्यादि विषयों से सम्बद्ध अनेकों सूक्त हैं । यहाँ पर उनका सारांश प्रस्तुत किया जा रहा है ।

ऋग्वेद में एक स्थान पर प्रश्न उठाया गया है कि ईश्वर (इन्द्र) है या नहीं ? कुछ लोग कहते हैं कि इन्द्र नहीं है । यदि होता तो दिखाई पड़ता । इसका उत्तर दिया गया है कि इन्द्र है, उसका अस्तित्व सर्वत्र प्रकट हो रहा है । वह सबका स्वामी है । संसार की सारी व्यवस्था उसको ही बढ़ाती है । वह सारे संसार का संहारक भी है ।[१]

यजुर्वेद के एक मंत्र में ईश्वर के स्वरूप का विस्तार से वर्णन करते हुए कहा गया है कि वह ईश्वर सर्वव्यापक है, वह ज्योतिर्मय है । वह निराकार (अकाय) है । वह नस-नाड़ी आदि से रहित है । वह निष्पाप और निर्मल है । वह सर्वज्ञ है । वह स्वयंभू अर्थात् अपनी सत्ता से विद्यमान है ।[२] यजुर्वेद में ही स्पष्ट रूप से कहा गया है कि वह ईश्वर संसार के प्रत्येक चर-अचर में व्याप्त है ।[३]

यजुर्वेद के दो मंत्रों में ईश्वर के कुछ विरोधी गुणों का वर्णन किया गया है । वह निश्चल रहते हुए भी मन की गति से तेज है । वह सर्वत्र पहले से पहुँचा हुआ है ।[४] वह निश्चल है और गतिशील है । वह दूर है और समीप है । वह सबके अन्दर विद्यमान है और सबके बाहर है ।[५] इस विरोधाभास का कारण यह है कि ईश्वर सर्वव्यापक है । वह सब जगह पहले से पहुँचा हुआ है, अतः किसी की पहुँच से पहले वह वहाँ विद्यमान है । जैसे-सूर्य की सत्ता से संसार में सर्वत्र गति है, उसी प्रकार ईश्वर की सत्ता से संसार में सर्वत्र गति है । वह निश्चल रहते हुए भी सारी गति का कारण है । ज्ञानी और ब्रह्मज्ञ के लिए वह समीप है । ज्ञानी उसका अपने हृदय में साक्षात्कार कर लेता है । अज्ञानी के लिए वह दूर है । वह

१-१. नेन्द्रो अस्ति-इति नेम उ त्व आहुः० । ऋग्० ८.१००.३-४

१-२. स पर्यगात् -शुक्रम् , अकायम् , कविः, मनीषी० । यजु० ४०.८

१-३. ईशा वास्यमिदं सर्वम्० । यजु० ४०.१

१-४. अनेजदेकं मनसो जवीयः० । यजु० ४०.४

१-५. तदेजति तन्नैजति० । यजु० ४०.५

कण-कण में ऊर्जा के रूप में व्याप्त है। वह निर्लेप है, साक्षीरूप है, अतः सबसे पृथक् है। यजुर्वेद का कथन है कि वह सारे संसार में व्याप्त है। उससे बढ़कर और कोई वस्तु नहीं है।[६]

ईश्वर ज्योतिर्मय है- यजुर्वेद में ईश्वर को सर्वोत्तम ज्योति बताया गया है। ऋग्वेद का कथन है कि सैकड़ों सूर्य भी उस ईश्वर के तेज की समानता नहीं कर सकते हैं। उसने ही सूर्य को तेज दिया है। उसके तेज से ही द्युलोक प्रकाशित हो रहा है। ऋग्वेद में ही वर्णन किया गया है कि ईश्वर अमर ज्योति है और वह मनुष्य के अन्दर विद्यमान है।[१०] यही भाव कठ उपनिषद् में दिया गया है कि परमात्मा के प्रकाश से ही सूर्य चन्द्र आदि में तेज है। उसके तेज के संमुख सूर्य, चन्द्र, तारों आदि का प्रकाश तुच्छ है। उसके तेज से सभी प्रकाशयुक्त पदार्थों में प्रकाश है।[११] वह अंगुष्ठमात्र है और अन्तरात्मा के रूप में सभी मनुष्यों के हृदय में विद्यमान है।[१२] ऋग्वेद का कथन है कि वह ईश्वर अपनी शक्ति से संसार को देखता है। वह निराकार है। उसका रूप नहीं दिखाई पड़ता है। केवल उसकी गति ही दृष्टिगोचर होती है।[१३]

ईश्वर के विशिष्ट गुण- ऋग्वेद के कुछ मंत्रों में ईश्वर के विशिष्ट गुणों का विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है। ये विशिष्ट गुण हैं- वह परमात्मा अजर अमर है। वह सबको गति देने वाला है। वह अधर्षणीय है। वह शीघ्रगामी है। वह सर्वत्र विजयी है। वह दोषों को दूर करने वाला है। वह सभी दोषों से मुक्त है। वह सैकड़ों प्रकार से रक्षा करने वाला है। वह शतक्रतु अर्थात् सैकड़ों पराक्रम के काम करने वाला है। वह सर्वत्र व्याप्त है। वह धन-वैभव का प्रदाता है।[१४]

वह महान् पराक्रम के काम करने वाला है। वह महादानी है। वह महाधनी है, वह संसार का स्वामी है, वह अपने तेज से ज्योतिर्मय है।[१५]

ऋग्वेद और यजुर्वेद में ईश्वर के विशिष्ट गुणों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वह संसार का एकमात्र स्वामी है। वह द्युलोक और पृथिवी को धारण करता है। वह आत्मिक शक्ति देने वाला है। वह शारीरिक शक्ति का दाता है। सारे देवता उसकी आज्ञा

१-६. य अविवेश भुवनानि विश्वा। यजु० ८.३६

१-७. ज्योतिरुत्तमम्। यजु० २०.२१

१-८. न त्वा वज्रिन् सहस्रं सूर्या अनु। ऋग्० ८.७०.५

१-९. ऋग्० ८.९८.२ और ३

१-१०. इदं ज्योतिरमृतं मर्त्येषु। ऋग्० ६.९.४

१-११. तस्य भासा सर्वमिदं विभाति। कठ० उप० २.५.५

१-१२. अंगुष्ठमात्रः....सदा जनानां हृदये संनिविष्टः। कठ० २.६.१७

१-१३. ध्राजिरेकस्य ददृशे न रूपम्। ऋग्० १.१६४.४४

१-१४. अजरं हेतारम्०। इष्कर्तारम्, शतक्रतुम्०। ऋग्० ८.९९.७ और ८

१-१५. तुविकूर्मिम्० तुविदेष्णम्, ईशानम्, स्वराजम्०। ऋग्० ८.८१.२ से ४

का पालन करते हैं । उसका अनुग्रह अमृत है और उसकी अकृपा ही मृत्यु है । वह चर और अचर जगत् का एकमात्र राजा है । सारे हिमयुक्त पर्वत, समुद्र और पृथिवी उसकी आज्ञा में हैं । उसने द्युलोक, अन्तरिक्ष और पृथिवी को दृढ़ता प्रदान की है । वह अन्तरिक्ष में विभिन्न लोकों को रोके हुए है । उसने द्युलोक में सूर्य को प्रकाशित किया हुआ है । वह सभी देवों का अधिपति है ।[१६]

ईश्वर को प्रिय अतिथि बताया गया है । वह मित्र के तुल्य है ।[१७] अतिथि का अभिप्राय है कि परमात्मा शरीर में स्थायी रूप से निवास नहीं करता है । वह कर्मफल के अनुसार कभी भी मनुष्य के शरीर को छोड़कर चला जाता है । वह मित्रवत् शुभकर्मों की ओर प्रेरित करता है और दुर्गुणों से बचाता है । ईश्वर को उरुधारा धेनु कहकर कामधेनु बताया गया है ।[१८] ईश्वर को कामधेनु बताने का अभिप्राय है कि वह पवित्रात्मा भक्त की सभी कामनाएं पूर्ण करता है । ईश्वर की स्तुति और प्रार्थना से मनुष्य की आत्मिक शक्ति उद्बुद्ध होती है और उसमें मनोबल आता है । इस मनोबल से वह सभी अभीष्ट प्राप्त करता है ।

यजुर्वेद के एक मंत्र में ईश्वर को द्युलोक, अन्तरिक्ष, भूमि, समुद्र आदि में सर्वत्र व्याप्त बताते हुए उसे मानव शरीर में व्याप्त (नृषद्) और हृदय में निवास करने वाला (मनःसद्) बताया गया है ।[१९] इसका अभिप्राय है कि उस सर्वव्यापक परमात्मा का हृदय में साक्षात्कार किया जा सकता है ।

ऋग्वेद का कथन है कि परमात्मा निराकार होते हुए भी सब कुछ सुनता है और देखता है । उसकी शक्ति अनिर्वचनीय है ।[२०] उस ईश्वर के पास अक्षय धन और समस्त सौभाग्य है ।[२१] इसका अभिप्राय है कि संसार में सभी वैभव और सौभाग्य हैं, परन्तु जो अपने शुभकर्मों से पुण्य प्राप्त कर लेता है, उसे ये सभी सौभाग्य प्राप्त होते हैं । ईश्वरीय कृपा से मनुष्य को जो कुछ प्राप्त होता है, वह उसके कल्याण के लिए होता है । ईश्वरीय देन सदा शुभ एवं सुखकर है ।[२२] ऋग्वेद का स्पष्ट कथन है कि परमात्मा कठोर परिश्रम करने वाले की ही सहायता करता है । जब तक मनुष्य अथक परिश्रम नहीं करता है, तब तक देवों की कृपा नहीं होती ।[२३] ईश्वरीय कृपा प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि वह

१-१६.हिरण्यगर्भः०। ऋग्० १०.१२१.१से ८ । यजु० २५.१० से १३
१-१७.प्रेष्ठं वो अतिथिं स्तुषे० । ऋग्० ८.८४.१
१-१८.इन्द्रं धेनुं सुदुघाम् ....उरुधाराम् । ऋग्० ८.१.१०
१-१९.नृषदं मनःसदम्० । यजु० ९.२
१-२०.विश्वं शृणोति पश्यति । ऋग्० ८.७८.५
१-२१.त्वे वसूनि संगता..... सौभगा । ऋग्०·८.७८.८
१-२२.भद्रा इन्द्रस्य रातयः । ऋग्० ८.६२.१ से १२
१-२३.न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः । ऋग्० ४.३३.११

सत्यव्रती हो, सत्य का पालक हो और असत्य से दूर रहे । ईश्वर सत्य का रक्षक है और असत्य का नाशक है ।[२४]

ईश्वर सोलह कलायुक्त - यजुर्वेद के चार मंत्रों में ईश्वर को प्रजापति और इन्द्र कहते हुए उसे षोडशी अर्थात् सोलह कलायुक्त कहा गया है । मन्त्र का कथन है कि उस परमात्मा से बढ़कर और कोई नहीं है । वह सारे संसार में व्याप्त है । वह संसार की तीन ज्योतियों अर्थात् सूर्य, अग्नि और वायु को तेज प्रदान करता है और १६ कलाओं से युक्त है ।[२५] यहां १६ कलाओं से युक्त लिंग शरीर (सूक्ष्म शरीर) का अभिप्राय है । लिंग शरीर में जीवात्मा, ४ अन्तःकरण, ५ प्राण और ५ सूक्ष्म ज्ञानेन्द्रियों का ग्रहण है । इस सूक्ष्म शरीर का ही पुनःपुनः जन्म होता है ।

ईश्वर सूत्रात्मा - ईश्वर को ही सूत्रात्मा और वैश्वानर भी कहा गया है । अथर्ववेद में कहा गया है कि वह ईश्वर सूत्र की तरह इस सारे संसार में ओ़त-प्रोत है ।[२६] जिस प्रकार अनेक मणियों में एक सूत्र प्रविष्ट होकर उनको संबद्ध करता है और माला या हार का रूप देता है, उसी प्रकार सारे प्राणियों में एक आत्मा अनुस्यूत है । इसी कारण से सारे मानव एक ईश्वर के पुत्र कहे जाते हैं और विश्व-बन्धुत्व की धारा प्रवाहित होती है । सारी आत्माओं को एकसूत्र में पिरोने के कारण ईश्वर सूत्र का सूत्र कहा जाता है । इसीलिए वह सूत्रात्मा है । जो उस सूत्रात्मा को जान लेता है, वह ब्रह्मवित् , ब्रह्मज्ञ हो जाता है ।[२७] इसी प्रकार अथर्ववेद में ईश्वर को वैश्वानर अग्नि कहा गया है और उसका स्वरूप द्युलोक बताया गया है ।[२८] यह विश्वव्यापी अग्नि वैश्वानर है । यह चर-अचर में व्याप्त है । इसके कारण ही पदार्थों में ऊष्मा, ऊर्जा और गति है । इस प्रकार अथर्ववेद में ईश्वर, सूत्रात्मा और वैश्वानर इन तीनों का वर्णन है । संभवतः अथर्ववेद से ही इस विचार को लेकर वेदान्त-दर्शन में ब्रह्म की चार अवस्थाओं के वर्णन में कारण-शरीर की समष्टि को ईश्वर कहा गया है । सूक्ष्म-शरीर की समष्टि को सूत्रात्मा और स्थूल-शरीर की समष्टि को वैश्वानर कहा है। तुरीय अवस्था को ब्रह्म कहते हैं । इस प्रकार वेदान्त-दर्शन के इस सिद्धान्त का मूल अथर्ववेद प्रतीत होता है ।

ईश्वर दिव्य सुपर्ण - ऋग्वेद में ईश्वर को दिव्य सुपर्ण कहा गया है ।[२९] अथर्ववेद में भी उसको अज (अजन्मा) और दिव्य सुपर्ण कहा है ।[३०] सुपर्ण का अर्थ है-सुन्दर

१-२४.ऋत पिपर्ति, अनृतं नि पाति । अ० ९. १०.२३

१-२५.त्रीणि ज्योतीषिं सचते स षोडशी । यजु० ८.३३ से ३६

१-२६.यो विद्यात् सूत्रं विततं० । अ० १०.८.३७

१-२७.सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात्० । अ० १०.८.३७-३८

१-२८ वैश्वानरस्य प्रतिमोपरि द्यौः० । अ० ८.९.६

१-२९.अथो दिव्यः स सुपर्णः० । ऋग्० १.१६४.४६

१-३०.अजम् ....दिव्यं सुपर्णम्० । अ० ४.१४.६

पंखवाला पक्षी या गरुड़ । यहाँ पर अभिप्राय है कि जिस प्रकार पक्षी एक स्थान से उड़ता है और किसी अन्य स्थान पर बैठता है, इसी प्रकार यह जीवात्मा के रूप में विभिन्न शरीरों को छोड़ता है और अपनाता है । ईश्वर के रूप में यह सुपर्ण होकर विभिन्न लोक-लोकान्तरों की यात्रा करता है ।

ईश्वर प्रतिभारूप - अथर्ववेद में ईश्वर को मति और ज्योति कहा गया है । इसका अभिप्राय है कि परमात्मा बुद्धि या प्रतिभा के रूप में है । मंत्र में कहा गया है कि वह विविध गुण-धर्म वाले संसार में ज्योतिरूप होकर सैकड़ों प्रकार से मार्गदर्शन करता है।[३१] एक अन्य मंत्र में भी ईश्वर को प्रिय और मति (बुद्धि, प्रतिभा) कहा गया है ।[३२] नव-नवोन्मेषशालिनी बुद्धि को प्रतिभा कहते हैं । यह प्रतिभा मनुष्य को नित-नूतन सद्विचार देती है । मंत्र में प्रतिभा के प्रकाश को 'अमतिः भाः' अपरिमित प्रकाश वाला बताया गया है । आचार्य भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में शब्दब्रह्म या ब्रह्म का स्वरूप प्रतिभा माना है ।[३३] मनुष्य में प्रतिभा ब्रह्म का ही रूप है । प्रतिभा को ब्रह्म मानकर वैयाकरण ब्रह्म के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं । संसार का कोई भी विद्वान् प्रतिभा (Genius) की सत्ता को अस्वीकार नहीं करता है । प्रतिभा बुद्धि का ही परिष्कृत और दिव्य रूप है ।

ईश्वर के स्वरूप के विषय में कहा गया है कि वह सदा विजेता है । वह कभी पराजित नहीं होता ।[३४] वह मानवमात्र का रक्षक है और सदा जागरूक रहता है ।[३५] वह पापी, दुराचारी और मायावी लोगों को नष्ट करता है ।[३६] अथर्ववेद का कथन है कि जो ज्ञानी और परिष्कृत बुद्धि वाले हैं, उनको ही ईश्वर का साक्षात्कार होता है, अन्धों अर्थात् अज्ञानियों को नहीं ।[३७]

२. ईश्वर सर्वव्यापक

चारों वेदों में ईश्वर की सर्वव्यापकता का अनेक मंत्रों में वर्णन है । यजुर्वेद का कथन है कि ईश्वर संसार में सर्वत्र व्याप्त है । संसार में जो कुछ भी गतिशील है, उसमें ईश्वर है।[१] ईश्वर सारे संसार में ताने-बाने के रूप में संसार के प्रत्येक पदार्थ में व्याप्त है । सारा संसार उसी से उत्पन्न होता है और प्रलय के समय उसी में लीन हो जाता है ।[२] ईश्वर इस

१-३१. मतिर्ज्योतिः० । अ० ७.२२.१
१-३२. अर्चाभिः ....प्रियं मतिम् । अ० ७.१४.१ और २
१-३३. प्रतिभात्माऽयम्० । वाक्य० १.११९
१-३४. जेतारम् अपराजितम् । यजु० २८.२
१-३५. जनस्य गोपा० । ऋग्० ५.११.१
१-३६. प्र मायिनाम् अमिनाद्० । यजु० ३३.२६
१-३७. पश्यद् अक्षण्वान् न वि चेतदन्धः । अ० ९.९.१५
२-१. ईशा वास्यमिदं सर्वम् । यजु० ४०.१
२-२. स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु । यजु० ३२.८

संसार में प्रत्येक कण में सीधे और तिरछे ताने-बाने के रूप में सर्वत्र व्याप्त है ।[3] यजुर्वेद में कहा गया है कि जहां तक द्युलोक और पृथिवी का विस्तार है, वहाँ तक ईश्वर का प्रसार है।[4] ऋग्वेद और यजुर्वेद में कहा गया है कि यह सारा संसार ही उस परमात्मा का निवास-स्थान है ।[5] वह द्युलोक में, अन्तरिक्ष में, पृथिवी पर और समुद्र में सर्वत्र व्याप्त है।[6]

३. ईश्वर संसार का कर्ता, धर्ता

चारों वेदों के अनेक मंत्रों में ईश्वर को सृष्टि का कर्ता, धर्ता और संहर्ता बताया गया है । ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद में ईश्वर के विराट् रूप का वर्णन करते हुए उसे संसार का कर्ता बताया गया है । यह भी बताया गया है कि पूरी सृष्टि उसकी शक्ति का चौथाई अंश है । उसका तीन-चौथाई अंश अनन्त आकाश में है ।[7] उससे ही सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु, सारे लोक उत्पन्न हुए हैं । उससे ही द्युलोक, अन्तरिक्ष और भूमि उत्पन्न हुए हैं ।[8] अथर्ववेद के एक सूक्त में विस्तार से वर्णन किया गया है कि ईश्वर से दिन-रात, अन्तरिक्ष, वायु, द्युलोक, दिशाएं, भूमि, अग्नि, जल, ऋग्वेद और यज्ञ आदि की उत्पत्ति हुई है ।[9]

इसी प्रकार अनेक मंत्रों में परमात्मा को सृष्टि का धारक बताया गया है । ऋग्वेद का कथन है कि ईश्वर द्यावा-पृथिवी को धारण किए हुए है ।[10] वह परमात्मा सारे संसार का स्वामी है । उसमें ही सारे लोक स्थित हैं । वह ईश्वर सारे लोकों को धारण किए हुए है।[11] इस धारण करने के गुण के कारण ईश्वर को विश्वधायस् अर्थात् सारे विश्व का धर्ता और पालक कहा गया है । उसको अग्नि के रूप में सारे वृक्ष-वनस्पति और भूमि धारण करते हैं ।[12]

ईश्वर त्रित है - अथर्ववेद के एक मंत्र में ईश्वर को त्रित कहा गया है । वह तीनों लोकों अर्थात् द्यु, भू और अन्तरिक्ष इन तीनों को धारण करता है ।[13] ईश्वर को त्रित कहना साभिप्राय है । त्रित का अभिप्राय है-तीन गुणों की समष्टि । ईश्वर में तीन गुण मूलरूप से हैं । ये तीन गुण उसकी तीन शक्तियां हैं । ये हैं- कर्तृत्व, धर्तृत्व और हर्तृत्व अर्थात् करने की

२-३. आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तः । ऋग्० १.१६४.३१ । यजु० ३७.१७
२-४. यजु० ३८.२६
२-५. ऋग्० ४.५८.११ । यजु० १७.९९
२-६. ऋग्० ८.९७.५
३-७. पादोऽस्य विश्वा भूतानि० । ऋग्० १०.९०.३ । यजु० ३१.३
३-८. ऋग्० १०.९०.१३-१४
३-९. अ० १३.७.२९ से ४०
३-१०. अधारयद् रोदसी० । ऋग्० १.६२.७
३-११. यजु० २०.३२ । अ० ९.९.७ । ऋग्० १.१६४.६
३-१२. विश्वधायसं बिभर्ति । ऋग्० ७.४.५
३-१३. त्रितो धर्ता दाधार त्रीणि । अ० ५.१.१

शक्ति, धारण करने की शक्ति, हरण या नाश करने की शत्ति । अथर्ववेद के एक मंत्र में ईश्वर की इन तीन शक्तियों के तीन नाम दिए गये हैं - १. जुहू, २. उपभृत् , ३. ध्रुवा । इनमें से जुहू द्युलोक को धारण करती है, उपभृत् शक्ति अन्तरिक्ष को और ध्रुवा शक्ति पृथिवी को।[14]

ईश्वर सृष्टि का केन्द्र (नाभि) है -यजुर्वेद का कथन है कि वह अजन्मा परमात्मा सृष्टि का नाभि (केन्द्र, Nucleus) है । उस केन्द्र में सारे लोकों का निवास है।[15] उस केन्द्र से ही सृष्टि का विस्तार होता है और प्रलय में सारी सृष्टि उसमें ही लीन हो जाती है । यही भाव यजुर्वेद में अन्यत्र भी दिया है कि ईश्वर में ही सारी सृष्टि लीन होती है और उससे ही प्रकट होती है ।[16] ऋग्वेद में ईश्वर को द्यावा-पृथिवी का गर्भ (केन्द्र) बताया गया है । वह अग्नि के रूप में वृक्ष-वनस्पतियों आदि में व्याप्त है।[17]

४. ईश्वर का विराट् रूप

ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद के पुरुषसूक्त में ईश्वर के विराट् रूप का विस्तार से वर्णन है ।[1] इस सूक्त में वर्णन किया गया है कि उस ईश्वर के हजारों शिर, आंख और पैर हैं । वह सारे संसार में व्याप्त होकर दस अंगुल ऊपर उठा हुआ है ।[2] इस मंत्र में सहस्त्र शब्द असंख्य के अर्थ में है । उस ईश्वर के आंख आदि सर्वत्र फैले हुए हैं । वह सदा सर्वत्र सब कुछ देखता है । सब जगह उसकी गति है और सब जगह उसकी ज्ञानेन्द्रियां काम कर रही हैं । नाभि से १० अंगुल ऊपर हृदय का स्थान है । वह हृदय में विद्यमान रहता है, अतः उसे १० अंगुल ऊपर उठा हुआ कहा गया है ।

वर्तमान, भूत और भविष्य में जो कुछ है, सब ईश्वर का ही स्वरूप है । सारी सृष्टि उसका ही स्वरूप है ।[3] उससे ही सारी सृष्टि उत्पन्न हुई है । सारी सृष्टि उसकी शक्ति का चौथाई अंश है । उसका तीन-चौथाई अंश अनन्त आकाश में व्याप्त है ।[4] उससे ही चर-अचर जगत्, सभी पशु-पक्षी उत्पन्न हुए हैं ।[5] उस विराट् पुरुष के चक्षु से सूर्य, मन से चन्द्रमा, मुख से अग्नि और कान से वायु और प्राण उत्पन्न हुए हैं । नाभि से अन्तरिक्ष, सिर से द्युलोक, पैर से भूमि और कान से सारे लोक उत्पन्न हुए हैं ।[6]

३-१४. जुहूः....द्याम् , उपभृद् अन्तरिक्षम् , ध्रुवा पृथिवीम्० । अ० १८.४.५

३-१५. अजस्य नाभौ.....विश्वानि भुवनानि तस्थुः । यजु० १७.३०

३-१६. तस्मिन् इदं सं च वि चैति सर्वम् । यजु० ३२.८

३-१७. गर्भो असि रोदस्योः । ऋग्० १०.१.२

४-१. ऋग्० १०.९०.१ से १६ । यजु० ३१ और ३२ अध्याय । अ० १९.६.१ से १६

४-२. सहस्रशीर्षा: पुरुषः० । यजु० ३१.१

४-३. पुरुष एवेदं सर्वम्० । यजु० ३१.२

४-४. पादोऽस्य विश्वा भूतानि० । यजु० ३१.३

४-५. यजु० ३१.२ से ६

४-६. यजु० ३१.१२-१३

संसार में प्रत्येक परमाणु में प्रतिक्षण यज्ञ हो रहा है । उसके कारण ही प्रत्येक अणु में ऊर्जा और गति है । इसको ही स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि इस यज्ञ के कारण ही संवत्सर (वर्ष) आदि का चक्र चल रहा है । इस प्राकृतिक यज्ञ में वसन्त ऋतु घी का काम करती है । ग्रीष्म ऋतु समिधा है और शरद् ऋतु हव्य-सामग्री है ।[७] श्री (संपत्ति, वैभव) और लक्ष्मी (रूप, सौन्दर्य) उसकी पत्नी हैं अर्थात् संसार की सारी विभूति उसकी सेविका के रूप में हैं । दिन-रात उसके पार्श्व (दोनों बगल) हैं । द्युलोक और भूमि उसके मुख हैं तथा नक्षत्र उसके रूप-सौन्दर्य हैं ।[८] इसका अभिप्राय है कि संसार की सारी संपत्ति का वही स्वामी है । उसकी कृपा से ही वैभव प्राप्त होता है । संसार का सारा सौन्दर्य उस ईश्वर की ही देन है ।

ईश्वर सर्वदेवमय है - ईश्वर के विराट् रूप का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वह सर्वदेवमय है । सारे देवता ईश्वर के ही रूप हैं । वही अग्नि है, वही सूर्य है, वही वायु है, वही चन्द्रमा है, वही शुक्र (वीर्य, ऊर्जा) है, वही ब्रह्म है और वही प्रजापति है ।[९]

उस ज्योतिर्मय पुरुष से ही सारा कालचक्र प्रारम्भ हुआ है । पल, मुहूर्त, दिन-रात, ऋतु, वर्ष आदि का कारण वही है । वह 'नेति नेति' के रूप में हैं । उसको ऊपर-नीचे, आगे-पीछे, कोई कहीं से नहीं पकड़ सकता है ।[१०]

ईश्वर की मूर्ति नहीं -वह निराकार है । उसकी कोई प्रतिमा या मूर्ति नहीं है । वही संसार में सबसे बड़ा यशस्वी है ।[११] उसने ही द्युलोक, अन्तरिक्ष और पृथिवी को स्थिर किया हुआ है । उसने ही अन्तरिक्ष में लोक-लोकान्तरों को रोका हुआ है ।[१२]

वह सारे संसार में ओत-प्रोत है । उसमें ही सारा संसार लीन होता है और उससे ही सारी सृष्टि उत्पन्न होती है । ज्ञानी, जिज्ञासु और उपासक ही उसको देख पाते हैं ।[१३] वह सारे संसार में ऋत (प्राकृतिक नियम) के तन्तु (धागे) की तरह व्याप्त है । जो उस तन्तु को जान लेता है, वह ईश्वर का साक्षात्कार कर पाता है और ब्रह्मरूप हो जाता है ।[१४]

४-७. वसन्तोऽस्यासीदाज्यम्० । यजु० ३१.१४
४-८. श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ० । यजु० ३१.२२
४-९. तंदेवाग्निस्तदादित्यः० । यजु० ३२.१
४-१०.यजु० ३२.२
४-११.न तस्य प्रतिमा अस्ति० । यजु० ३२.३
४-१२.यजु० ३२.६
४-१३.यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्० । यजु० ३२.८
४-१४.यजु० ३२.१२

५. ईश्वर एक है

अथर्ववेद में बहुत विस्तार से वर्णन किया गया है कि वह ईश्वर एक और एकवृत् है । एकवृत् का अभिप्राय है कि वह एकीकरण की शक्ति है । सब देवता उसमें आकर मिल जाते हैं और एकरूप हो जाते हैं । एकीकरण एक ही शक्ति को महत्त्व देता है और वह एक शक्ति ईश्वर है । अतः ईश्वर सर्वदेवमय माना जाता है । अथर्ववेद का कथन है कि वह ईश्वर एक है और एकवृत् है ।[१५]

इस एकदेवत्व का विस्तार करते हुए कहा गया है कि वह दो, तीन, चार, पांच, छह, सात, आठ, नौ और दस नहीं है । वह एकवृत् है । जो उसके एकीकृत रूप को ठीक ढंग से जान लेता है, उसे यश, वैभव, धन, ब्रह्मवर्चस् , श्रद्धा और स्वर्ग आदि सभी वस्तुएं प्राप्त होती हैं ।[१६]

ईश्वर के अनेक नाम-रूप- अथर्ववेद का कथन है कि वह ईश्वर ज्योतिर्मय है । वह एक ज्योति ही नाना रूप में प्रकाशित हो रही है ।[१७] ईश्वर की यह ज्योति शक्ति या ऊर्जा के रूप में है । विभिन्न गुणों के आधार पर इसके विभिन्न रूप हो जाते हैं ।[१८] अथर्ववेद में इन्हीं विभिन्न रूपों का वर्णन करते हुए उसके ये नाम बताए गए हैं - सविता, अर्यमा (अर्यमन्), वरुण, रुद्र, महादेव, अग्नि, सूर्य, वायु, धाता, विधाता, यम आदि ।[१९] आगे कहा गया है कि उसके सैकड़ों ही नहीं, अपितु करोड़ों या अरबों रूप हैं ।[२०]

यही भाव ऋग्वेद में भी आया है कि वह ईश्वर एक तत्त्व है । विद्वान् उसको विभिन्न नामों से पुकारते हैं । उसको ही वे इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, सुपर्ण, यम और वायु आदि नाम देते हैं ।[२१]

यजुर्वेद में भी इसी भाव का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वह ईश्वर सबका पिता है । वही विधाता है । वह एक है और उसके ही देववाचक अनेक नाम हैं । सारा संसार अन्त में उसी में लीन हो जाता है ।[२२] यजुर्वेद में ही उसको 'स्वरोचिः' स्वयं प्रकाशमान कहते हुए 'विश्वरूपः' सभी रूपों वाला कहा गया है ।[२३] इसका अभिप्राय है कि परमात्मा स्वयं ज्योतिर्मय है, अतः उसे किसी अन्य से प्रकाश की आवश्यकता नहीं है। वह प्रकाश या शक्ति ही अनेकों रूप धारण करके अनेक देववाचक शब्दों का रूप ले लेता है ।

५-१५.स एष एक एकवृद् एक एव । अ० १३.४.१२

५-१६.अ० १३.४.१६ से २४

५-१७.एकं ज्योतिर्बहुधा विभाति । अ० १३.३.१७

५-१८.ततो वपूंषि कृणुषे पुरूणि । अ. ५.१.२

५-१९.अ० १३.४.१ से ५

५-२०.ते तन्वः शतम् । यदि वासि न्यर्बुदम् । अ० १३.७.४४-४५

५-२१.एक सद् विप्रा बहुधा वदन्ति० । ऋग्० १.१६४.४६

५-२२.यो देवानां नामधा एक एव॰। यजु. १७.२७

५-२३.स्वरोचिः, विश्वरूपः० । यजु० ३३.२२

६. ईश्वर जगत् का स्वामी

चारों वेदों के अनेक मंत्रों में ईश्वर को इस संसार का स्वामी या अधिपति बताया गया है । ऋग्वेद और यजुर्वेद का कथन है कि यह सारा संसार ईश्वर के अधीन है । वही इसका स्वामी है ।[१] कोई भी देवता और महान् शक्ति उसकी आज्ञा को नहीं टाल सकते हैं ।[२] द्युलोक और पृथिवी उसके पराक्रम की निरन्तर पूजा करते हैं ।[३] वह अजातशत्रु है और अजेय है ।[४]

यजुर्वेद का कथन है कि ईश्वर इस चर और अचर जगत् का स्वामी है ।[५] कोई दैवी या भौतिक शक्ति उसके समान न हुई है और न होगी ।[६] अथर्ववेद का कथन है कि वह ईश्वर संसार का स्वामी है । वही एक संसार में नमस्कार के योग्य है, सबसे पूज्य है और सेवा के योग्य है ।[७]

७. ईश्वरीय नियम, ऋत

ईश्वरीय व्यवस्था और उसके शाश्वत नियमों के लिए 'ऋत' शब्द का प्रयोग वेदों में हुआ है । अथर्ववेद में ऋत को उग्र कहते हुए स्पष्ट किया गया है कि प्राकृतिक नियम अत्यन्त कठोर हैं । कोई भी उनको तोड़ने का साहस नहीं कर सकता है ।[८] अथर्ववेद का कथन है कि कोई भी ईश्वरीय नियमों को नहीं तोड़ सकता है ।[९] ऋग्वेद में कहा गया है कि ऋत अर्थात् ईश्वरीय व्यवस्था के अनुकूल चलने से सूर्य का इतना महत्त्व है ।[१०] पशु-पक्षी, नदी-समुद्र आदि उस ईश्वर के नियमों के अनुसार ही अपना-अपना कार्य करते हैं । इस नियम-पालन का लाभ यह होता है कि इससे सबमें पुष्टता और दृढ़ता आती है । अतएव ईश्वरीय व्यवस्था को 'पुष्टपति' अर्थात् पुष्टता प्रदान करने वाला कहा गया है ।[११] ऋग्वेद का कथन है कि सूर्य और सारे समुद्र उस ऋत-व्यवस्था का पालन करते हैं ।[१२] यह ईश्वरीय व्यवस्था (ऋत) स्वसंचालित है । इसको चलाने के लिए किसी अन्य का सहयोग अपेक्षित नहीं है ।[१३]

६-१. सर्वं तदिन्द्र ते वशे । ऋग्० ८.९३.४ । यजु० ३३.३५
६-२. ऋग्० ८.९३.११
६-३. ऋग्० ८.९३.१२
६-४. अजातशत्रु०। ऋग्० ८.९३.१५
६-५. यजु० २५.१८
६-६. यजु० २७.३५-३६ । ऋग्० ७.३२.२३
६-७. अ० २.२.१-२
७-८. ऋतम् उग्रम्० । अ० १२.१.१
७-९. नकिरस्य प्र मिनन्ति व्रतानि० । अ० १८.१.५
७-१०. ऋतेनादित्या महि वो महित्वम् । ऋग्० २.२७.८
७-११. अ० ७.४१.१
७-१२. ऋग्० १.१०५.१२
७-१३. ऋतेन ऋतं धरुणं धारयन्त । ऋग्० ५.१५.२

ईश्वरीय भय- ईश्वरीय नियम (ऋत) का सारे प्राकृतिक तत्त्वों पृथिवी, द्युलोक, सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि पर इतना कठोर प्रभाव है कि कोई भी अपनी निर्धारित व्यवस्था का नाममात्र भी उल्लंघन नहीं कर सकता है । इसका ही वर्णन ऋग्वेद आदि में अनेक मंत्रों में किया गया है ।

ऋग्वेद का कथन है कि ईश्वर के भय से द्युलोक और पृथिवी कांपते रहते हैं ।[१४] इस कठोर अनुशासन का फल यह है कि सूर्य, पृथिवी आदि अपनी-अपनी धुरी पर घूमते हैं । सबकी अलग-अलग व्यवस्था है । सबके कार्य निर्धारित हैं । पृथिवी, जल, अग्नि, वायु आदि के कार्य और नियम निर्धारित हैं । इनका पालन करना उनकी अनिवार्यता है । यहां तक कि समुद्र, पर्वत, नक्षत्र आदि भी इस व्यवस्था से बंधे हुए हैं । इसका ही वर्णन करते हुए ऋग्वेद में कहा गया है कि ईश्वरीय भय से पर्वत अपने स्थान पर जमे हुए हैं । द्यावा-पृथिवी अपने-अपने स्थान पर कार्य कर रहे हैं । इनको सदा ऋत का भय रहता है।[१५] यही भाव अन्य कई मंत्रों में दिया गया है ।[१६]

कठ और तैत्तिरीय उपनिषदों में भी इस ईश्वरीय व्यवस्था का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि ईश्वरीय नियमों के भय से अग्नि जलाता है, सूर्य तपता है, इन्द्र वायु और मृत्यु (यम) आगे-आगे दौड़ते हुए चलते हैं ।[१७] वायु का चलना, सूर्य का उदय होना और अग्नि, मृत्यु (यम), इन्द्र आदि के कार्य उसी ईश्वर के नियमानुसार होते हैं ।[१८]

८. ईश्वर और चार वेद

ईश्वर ज्ञान का आदि-स्रोत है । ईश्वर से ही ज्ञानरूपी अमृत की धारा प्रवाहित होती है । इस ज्ञान की धारा के रूप में परमात्मा ने सृष्टि के प्रारम्भ में चार वेदों का प्रकाश ऋषियों की पवित्र आत्मा में दिया । ऋग् , यजुः और अथर्ववेद में इसका वर्णन करते हुए कहा गया है कि उस विराट् पुरुष से ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद (छन्दस्) उत्पन्न हुए ।[१] वेदों में अनेक स्थलों पर अथर्ववेद के लिए छन्दस् शब्द का प्रयोग मिलता है ।

७-१४.द्यावा रेजेते पृथिवी च भीषा । ऋग्० ८.९७.१४

७-१५.अस्येदु भिया गिरयश्च हढा० । ऋग्० १.६१.१४

७-१६.ऋग्० १.६३.१ । ४.१७.२ और १०

७-१७.भयादस्याग्निस्तपति, भयात् तपति सूर्यः ।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च, मृत्युर्धावति पंचमः ।। कठ उप० २.६.३

७-१८.भीषोदेति सूर्यः० । तैत्ति० उप० २.८

८-१. तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् , यजुस्तस्मादजायत ।।
ऋग्० १०.९०.९ । यजु० ३१.७ । अ० १९.६.१३

अथर्ववेद में कई स्थलों पर ईश्वर से वेदों के प्रादुर्भाव का उल्लेख है । मंत्र में उल्लेख है कि ऋग्वेद और यजुर्वेद उससे निकले हैं । सामवेद उसके लोम (बाल, केश) के तुल्य है और अथर्ववेद उसका मुंह है ।[२] एक स्थल पर उल्लेख है कि ईश्वर (उच्छिष्ट ब्रह्म) से ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद (छन्दस्) उत्पन्न हुए ।[३]

एक मंत्र में चारों वेदों के क्रियाकलाप का वर्णन करते हुए कहा गया है कि होता ऋग्वेद के मंत्रों से यज्ञ को पुष्ट करता है । उद्गाता सामवेद के मंत्रों से गान करता है । ब्रह्मा (अथर्ववेदवित्) यज्ञ में प्रवचन करता है और ऋत्विज् (यजुर्वेदवित्) यज्ञ की विधि का संपादन करता है ।[४]

अथर्ववेद का कथन है कि ऋग्वेद और सामवेद कर्तव्य कर्मों का निर्देश करते हैं और मार्गदर्शन करते हैं । ऋग्वेद अन्न-समृद्धि देता है । सामवेद ओजस्विता और तेजस्विता देता है तथा यजुर्वेद शारीरिक पौष्टिकता देता है ।[५]

मंत्रों में दिव्य शक्ति- ऋग्वेद और अथर्ववेद में वर्णन है कि वेद के मंत्रों में सभी देवों का निवास है । जो इस बात को जानता है, वह वेदमंत्रों से दिव्य शक्ति प्राप्त करता है । जो इस रहस्य को नहीं जानता है, उसे वेद के मंत्रों से कोई लाभ प्राप्त नहीं होता है ।[६]

९. ईश्वर हंस है

ऋग्वेद और यजुर्वेद में ईश्वर का हंस के रूप में वर्णन मिलता है ।[७] इस मंत्र में ईश्वर के निवास-स्थान, प्राप्ति के साधन आदि का विस्तार से वर्णन है । यह मंत्र अपने उच्च भावों के कारण उपनिषदों में भी बहुत प्रसिद्ध है । ईश्वर को हंस कहने का अभिप्राय है कि जिस प्रकार हंस जल में विचरण करता हुआ भी जल के प्रभाव से प्रभावित नहीं होता, उसी प्रकार मनुष्य के शरीर में ईश्वर हंस की तरह निर्लेप रहते हुए निवास करता है। वह न कर्म करता है और न कर्मफल का भोग करता है । इसी अभिप्राय को लेकर उपनिषदों में संन्यासियों के भेदों में हंस और परमहंस का उल्लेख है ।

ईश्वर के निवास-स्थान - मंत्र में हंसरूपी ईश्वर के ये निवास-स्थान बनाए गए हैं- **१. शुचिषद्** - ईश्वर शुचि अर्थात् पवित्र आत्माओं के हृदय में ही निवास करता है । पवित्रात्मा व्यक्ति ही उसका साक्षात्कार कर सकते हैं । **२. नृषद्** - मनुष्य के हृदय में उसका निवास है । **३. वरसद्** - श्रेष्ठ व्यक्तियों के हृदय में ही उसका तेज प्रकाशित होता

८-२. यस्माद् ऋचो अपातक्षन्० । अ० १०.७.२०

८-३. ऋचः सामानि छन्दांसि० । अ० ११.७.२४

८-४. ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान्० । ऋग्० १०.७१.११

८-५. ऋचं साम० । अ० ७.५४.१ और २

८-६. ऋचो अक्षरे....यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः। ऋग्० १.१६४.३९ । अ० ९.१०.१८

९-७. हंसः शुचिषद्० । ऋग्० ४.४०.५ । यजु० १०.२४ । १२.१४

है । ४. **ऋतसद्** – जो ऋत अर्थात् सत्य का पालन करता है, सत्यवादी है और सत्यनिष्ठ है, ऐसे व्यक्ति के हृदय में ही ईश्वर की ज्योति उदय होती है । ५. **व्योमसद्** – परमात्मा सारे आकाश में व्याप्त है । आकाश ही उसका स्वरूप है । यजुर्वेद में **'खं ब्रह्म'** कहकर यही भाव प्रकट किया गया है कि वह ईश्वर ख अर्थात् आकाश के तुल्य सर्वत्र व्याप्त है।[८] ६. **अन्तरिक्षसद्०**– वह वसु देवों के तुल्य अन्तरिक्ष में व्याप्त है । समस्त ब्रह्मांड में जिस प्रकार सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि आदि वसु व्याप्त हैं, उसी प्रकार ईश्वर सर्वत्र व्याप्त है । ७. **होता वेदिषद्** – जिस प्रकार यज्ञ में होता (वेदपाठी) शुद्ध, शान्त और पवित्र भाव सें बैठता है, उसी प्रकार हृदयरूपी यज्ञशाला में वह पवित्र रूप से निवास करता है । ८. **अतिथि०**– जिस प्रकार घर में अतिथि निवास करता है, उसी प्रकार परमात्मा भी मनुष्य के हृदय में अतिथि के रूप में रहता है । जैसे अतिथि का निवास अस्थायी होता है, उसी प्रकार आत्मा भी मनुष्य के अन्दर अस्थायी रूप से रहता है और जब इच्छा होती है, वह पक्षी की तरह उड़ जाता है ।

ईश्वर की प्राप्ति के उपाय- १. अब्जाः – अप् का अर्थ कर्म है । सत्कर्मों से उसकी प्राप्ति होती है । **२. गोजाः** – गो का अर्थ इन्द्रियां हैं । इन्द्रियों पर विजय या जितेन्द्रियता से वह प्राप्त होता है । **३. ऋतजाः**- ऋत का अर्थ सत्य है । सत्यनिष्ठा, सत्यवादिता और व्यवहार-शुचिता से वह प्राप्त होता है । **४. अद्रिजाः**- अद्रि का अर्थ पर्वत है । पर्वतों पर निवास, पर्वतों पर ईश्वर के ध्यान, मनन, चिन्तन, योगाभ्यास से उस परमात्मा की प्राप्ति होती है ।

१०. ईश्वर, माया और अविद्या

ऋग्वेद में ईश्वरीय माया का वर्णन मिलता है । माया के द्वारा उसकी विभिन्न शक्तियों का वर्णन है । माया शब्द का प्रयोग शक्ति या सामर्थ्य के लिए हुआ है । मित्र और वरुण की बड़ी माया है ।[९] माया शब्द का प्रयोग छल-कपट के अर्थ में भी हुआ है । इन्द्र ने असुरों के छल-प्रयोगों को नष्ट किया ।[१०] हस्त-शिल्प एवं कला-कौशल के अर्थ में भी माया शब्द का प्रयोग मिलता है । श्रेष्ठ शिल्पी त्वष्टा अनेक हस्तशिल्प जानता है ।[११] नकली स्वरूप बनाने आदि को भी माया कहा गया है । इन्द्र के विभिन्न रूप-धारण को भी माया नाम दिया गया है ।[१२]

९-८. ओं खं ब्रह्म। यजु० ४०.१७

१०-९. मही मित्रस्य वरुणस्य माया । ऋग्० ३.६१.७

१०-१०. अदेवीरसहिष्ट मायाः । ऋग्० ७.९८.५

१०-११. त्वष्टा माया वेत्० । ऋग्० १०.५३.९

१०-१२. मायेत् सा ते० । ऋग्० १०.५४.२

अविद्या या अज्ञान के आवरण को भी माया माना गया है । मनुष्य इस अज्ञान के आवरण के कारण परमात्मा के स्वरूप का दर्शन नहीं कर पाता है । तत्त्वज्ञान के द्वारा जब यह अविद्या का आवरण हट जाता है, तभी ईश्वर का साक्षात्कार होता है । यजुर्वेद में इस अविद्या के आवरण को सुनहरी ढक्कन बताते हुए रूपक के रूप में वर्णन किया गया है कि ईश्वररूपी सत्य का मुख भौतिक चकाचौंधरूपी सुनहरी आवरण से ढका हुआ है । जब यह अज्ञानरूपी सुनहरी आवरण हट जाता है, तब सत्य-स्वरूप परमात्मा का साक्षात्कार हो पाता है ।[१३] ऋग्वेद में इस अविद्या के आवरण को ही सब पापों का मूल बताया गया है और कहा गया है कि मनुष्य इसी के कारण दुर्व्यसनों में फँसता है । सुरापान आदि करता है, झूठ बोलता है और अपनी इच्छा के विरुद्ध अनेक दुष्कर्म करता है ।[१४]

अतएव कठ उपनिषद् में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि ईश्वर के साक्षात्कार के लिए आवश्यक है कि यह अविद्या या माया का आवरण हटाया जाए । जो दुष्कर्म करने वाले हैं, जो अशान्त चित्त हैं और जिनका मन नियंत्रण में नहीं है, वे ईश्वर का साक्षात्कार नहीं कर सकते हैं ।[१५]

११. ईश्वर और विश्व-बन्धुत्व

ऋग्वेद में '**अमृतस्य पुत्राः**' कहते हुए उल्लेख किया गया है कि सभी मनुष्य उस अमर ईश्वर के पुत्र हैं ।[१] संसार के सारे जीव उस ईश्वर के पुत्र हैं, अतः सभी पुत्र परस्पर भाई हुए । पुत्र पिता की संपत्ति का उत्तराधिकारी होता है और उसका कर्तव्य होता है कि वह पिता की पूरी संपत्ति की सुरक्षा और व्यवस्था करे । अतः मानवमात्र का कर्तव्य होता है कि वे परस्पर बन्धुत्व की भावना का विकास करें और प्रकृति का संरक्षण करें ।

यजुर्वेद के दो मंत्रों में इसी तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट किया गया है । मंत्र में कहा गया है कि जो सारे प्राणियों को ईश्वरीय रूप मानता है और सारे प्राणियों में आत्मा को देखता है, उसे किसी प्रकार का संशय नहीं होता है ।[२] जिस ज्ञानी पुरुष में सारे प्राणियों के प्रति आत्मत्व की भावना विकसित हो गई है, ऐसे एकत्व की भावना वाले विद्वान् को न कोई मोह होता है और न कोई शोक ।[३] अर्थात् जिसमें एकत्व या विश्व-बन्धुत्व की भावना

१०-१३. हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् । यजु० ४०.१७
तत् त्वं पूषन् अपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये । ईश० उप० १५
१०-१४. न स स्वो दक्षो ...अनृतस्य प्रयोता । ऋग्० ७.८६.६
१०-१५. नाविरतो दुश्चरिताद्० । कठ उप० १.२.२३
११-१. शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः । ऋग्० १०.१३.१
११-२. यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं० । यजु० ४०.६
११-३. यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ।। यजु० ४०.७

विकसित हो जाती है, वह मोह-शोक आदि से ऊपर हो जाता है । उसे कोई सांसारिक बन्धन नहीं सताते हैं ।

इन मंत्रों में यह भाव व्यक्त किया गया है कि मानवमात्र ईश्वर की संतान है । उनमें एक ही आत्मतत्त्व की सत्ता है, अतः मानवमात्र परस्पर भाई हैं । यह एकत्व की भावना परस्पर सहयोग, सहानुभूति, एकता और समन्वय की भावना को विकसित करती है । **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** की पवित्र भावना इन मंत्रों की ही देन है । यह विश्व-बन्धुत्व की भावना संसार को उन्नति, प्रगति, सुख, शान्ति और सर्वतोमुखी विकास की ओर ले जाने में समर्थ है । आज विश्व को सुख-शान्ति-सम्पन्न बनाने के लिए इसी भावना को निरन्तर विकसित करने की आवश्यकता है ।

१२. ईश्वर और भक्त (भक्त और भगवान्)

ईश्वर पिता के रूप में - वेदों में भक्त की दृष्टि से ईश्वर को अनेक रूपों में प्रस्तुत किया गया है । कहीं उसे पिता, कहीं माता, कहीं भाई और कहीं पर मित्र के रूप में दिखाया गया है । ऋग्वेद में वर्णन किया गया है कि ईश्वर समस्त ऐश्वर्य का स्वामी है और सभी जीव उसे पिता के तुल्य मानते हैं । वही भक्तों और दानियों को अन्न-समृद्धि देता है।[४] यजुर्वेद का कथन है कि परमात्मा पिता है और वह पिता के तुल्य हमें ज्ञान दे और मार्गदर्शन करे ।[५]

ऋग्वेद में ईश्वर को अपना पिता बताते हुए प्रार्थना की गई है कि वह हमारा इसी प्रकार मार्गदर्शन करे और ज्ञान दे, जैसे-एक पिता अपने पुत्र को ।[६] एक मंत्र में भक्त का कथन है कि हे ईश ! तुम हमारे पिता से भी अधिक प्रिय हो । तुमसे बढ़कर और कोई हमारा प्रिय नहीं है ।[७] ऋग्वेद के एक मंत्र में कहा गया है कि ईश्वर हमें इतना अधिक प्रिय है कि हम उसे सैकड़ों-हजारों नहीं, अपितु लाखों में भी नहीं दे सकते हैं ।[८] एक मंत्र में भक्त का कथन है कि हे ईश ! तुम हमारे पिता ही नहीं, अपितु पिता के भी पिता हो, तुम मित्र हो, रक्षक हो, तुम हमें ज्ञान दे । अन्यत्र कहा गया है कि वह परमात्मा कृपण पिता और भाई से भी अधिक प्रिय है । वह माता की तरह आश्रय देता है ।[१०]

१२-४.अहं भुवं ...मां हवन्ते पितरं न जन्तवः० । ऋग्० १०.४८.१

१२-५.पिता नोऽसि पिता नो बोधि । यजु० ३७.२०

१२-६.इन्द्र क्रतुं न आ भर पिता पुत्रेभ्यो यथा । ऋग्० ७.३२.२६

१२-७.ऋग्० ७.३२.१९

१२-८.न सहस्राय नायुताय० । ऋग्० ८.१.५

१२-९.सखा पिता पितृतमः पितॄणाम् । ऋग्० ४.१७.१७

१२-१०.वस्याँ इन्द्रासि मे पितुः० । ऋग्० ८.१.६

ईश्वर माता-पिता और भाई - ऋग्वेद का कथन है कि वह ईश्वर सभी मनुष्यों का माता-पिता है ।[११] एक मंत्र में भक्त की प्रार्थना है कि हे ईश ! तुम हमारे माता-पिता हो । हम तुम्हारा आशीर्वाद चाहते हैं ।[१२] एक अन्य मंत्र में कहा गया है कि वह ईश्वर माता के तुल्य प्रत्येक मनुष्य का पालन-पोषण करता है और उसका संरक्षण करता है ।[१३]

कुछ मंत्रों में परमात्मा को पिता, मित्र, भाई, हितैषी आदि कहा गया है ।[१४] यजुर्वेद में उसे पिता और भाई के रूप में प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि वह सर्वज्ञ है और उसमें सभी देवों का निवास है ।[१५]

ईश्वर मित्र है - ऋग्वेद में परमात्मा को मित्र के रूप में भी प्रस्तुत किया गया है और कहा गया है कि उसकी मित्रता बहुत सुखद एवं स्वादिष्ट है । उसका मार्गदर्शन भी बहुत मधुर है ।[१६] एक अन्य मंत्र में भी कहा गया है कि वह अपने मित्रों की रक्षा करता है और उन्हें उत्तम सन्देश देता है ।[१७]

ईश्वर से प्रार्थनाएं - वेदों में भक्त भगवान् से अनेक प्रकार की प्रार्थनाए करता है। कोई श्रद्धा, भक्ति, सद्भावना, संज्ञान, सांमनस्य की प्रार्थना करता है । कोई बुद्धि, सन्मति, प्रतिभा आदि की तो कोई धन, ऐश्वर्य, वैभव की । कोई मानसिक उन्नति और शारीरिक पुष्टि की, कोई शत्रु पर विजय आदि की । इनमें से कुछ प्रार्थनाएं ये हैं - ईश्वर हमें सद्बुद्धि दे और सन्मार्ग पर चलावे ।[१८] हमारे अन्दर सहृदयता, सांमनस्य और अवैर या प्रेम की भावना हो ।[१९] हम महान् ऐश्वर्य के स्वामी हों ।[२०] हम सौ वर्ष तक जीवें, सौ वर्ष तक कभी भी निर्धनता से ग्रस्त न हों ।[२१] हमें सब ओर से सद्विचार प्राप्त हों ।[२२]

✲✲

१२-११. पिता माता सदमिन्मानुषाणाम् । ऋग्० ६.१.५
१२-१२. त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता० । ऋग्० ८.९८.११
१२-१३. मातेव यद् भरसे० । ऋग्० ५.१५.४
१२-१४. पितरम् , आपिम् , भ्रातरम् , सखायम् । ऋग्० १०.७.३
१२-१५. स नो बन्धुर्जनिता० । यजु० ३२.१०
१२-१६. यस्य ते स्वादु सख्यम्० । ऋग्० ८.६८.११
१२-१७. सखीयतामविता बोधि सखा । ऋग्० ४.१७.१८
१२-१८. धियो यो नः प्रचोदयात् । यजु० ३६.३
१२-१९. सहृदयं सांमनस्यम् अविद्वेषम्० । अ० ३.३०.१
१२-२०. वयं स्याम पतयो रयीणाम् । यजु० १०.२०
१२-२१. जीवेम शरदः शतम् । अदीनाः स्याम शरदः शतम् । यजु० ३६.२४
१२-२२. आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः । यजु० २५.१४

अध्याय ६

जीवात्मा

१. ईश्वर और जीवात्मा

वेदों में जहाँ ईश्वर के विषय में विपुल सामग्री प्राप्त होती हैं । वहाँ जीवात्मा के विषय में भी पर्याप्त सामग्री उपलब्ध होती है । जीवात्मा क्या है ? जीवात्मा और परमात्मा का क्या सम्बन्ध है ? जीवात्मा का क्या स्वरूप है ? वह नित्य है या अनित्य ? वह स्वतंत्र है या परतन्त्र ? वह अनादि है या सादि ? वह जन्म-मरण के बन्धन से कैसे मुक्त होता है? जीवात्मा का पुनर्जन्म होता है या नहीं ? इनका संक्षिप्त विवेचन आगे प्रस्तुत किया गया है ।

तीन ज्योतिर्मय तत्त्व - ऋग्वेद और अथर्ववेद में तीन ज्योतिर्मय तत्त्वों का उल्लेख किया गया है । इनको केशिन् (केशयुक्त, रश्मियुक्त) कहा गया है । किरण या तेज के अर्थ में केश शब्द का प्रयोग है । ये तीन तेजोमय या ज्योतिर्मय तत्त्व हैं -सूर्य, जीवात्मा और परमात्मा । इन तीनों के कार्यों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि इनमें से एक सूर्य कृषि कार्य (वपन) का साधन है । दूसरा जीवात्मा अपनी शक्ति से संसार को देखने की क्षमता रखता है । तीसरा परमात्मा है । इसकी केवल गति या क्रिया-कलाप ही दिखाई पड़ता है । इसका स्वरूप या मूर्तरूप दिखाई नहीं पड़ता है ।[१] इसका अभिप्राय है कि ईश्वर और जीवात्मा दोनों ही ज्योतिर्मय हैं, परन्तु दोनों के कार्यों में अन्तर है । एक दृश्य है, दूसरा अदृश्य । एक का मूर्तरूप है, दूसरा निराकार । एक संसार को प्रत्यक्ष रूप से दिखा सकता है, दूसरा प्रत्यक्ष रूप से नहीं ।

दो सुपर्ण - ऋग्वेद और अथर्ववेद में 'द्वा सुपर्णा०' के द्वारा दो सुपर्णों का उल्लेख है । सुपर्ण का अर्थ है- सुन्दर पंख वाला पक्षी । जीवात्मा और परमात्मा को उड़ने वाले पक्षी का रूपक माना गया है । मंत्र में कहा गया है कि दो सुपर्ण (जीवात्मा और परमात्मा) हैं । ये दोनों सदा साथ रहते हैं और घनिष्ठ मित्र हैं । ये दोनों एक वृक्ष (प्रकृतिरूपी वृक्ष) पर बैठे हैं । इनमें से एक (जीवात्मा) वृक्ष के स्वादिष्ट फलों को खाता है और दूसरा (परमात्मा) कुछ न खाता हुआ केवल साक्षी के रूप में प्रकाशित हो रहा है।[२] इसका अभिप्राय यह है कि जीवात्मा और परमात्मा दोनों सदा साथ रहते हैं । दोनों में मित्रता और आत्मीयता है । परमात्मा मार्गदर्शन करके और ज्ञान देकर मित्ररूपी जीवात्मा की सहायता करता है । जीवात्मा इस संसार में कर्म करता है और वह अपने कर्मों का फल भोगता है। जीव संसार के विषयों का भोग करता है, यह है उसका फल खाना और इसके परिणाम-

---

१-१. त्रयः केशिनः० । अ० ९.१०.२६ । ऋग्० १.१६४.४४ । निरुक्त १२.२७

१-२. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया० । ऋग्० १.१६४.२० । अ० ९.९.२०

स्वरूप वह कर्मों के फल को भोगता है । परमात्मा न संसार में लिप्त है, न कर्म करता है, न भोगों को भोगता है, अतः वह कर्मफल से सर्वथा निर्लिप्त है । वह प्रकाशमय है, मार्गदर्शक है और साक्षी के रूप में जीव के अन्दर ज्योतिरूप में विद्यमान है।

इसी सूक्त में आगे कहा गया है कि इस प्रकृतिरूपी वृक्ष पर सबसे ऊपर बहुत मीठे फल लगे हुए हैं । जो पितारूपी परमात्मा को जान लेता है, उसको ही ये मीठे फल प्राप्त होते हैं, अन्य को नहीं ।[3] इसका अभिप्राय यह है कि प्रकृतिरूपी वृक्ष पर आत्मज्ञान, ब्रह्मज्ञान, आत्मसाक्षात्कार या मोक्षरूपी अतिमधुर फल लगा हुआ है, जो योग आदि के द्वारा उस परमात्मा का साक्षात्कार कर लेता है । उसी को मोक्ष या तत्त्वज्ञानरूपी यह फल मिल पाता है, अन्य को नहीं ।

आगे कहा गया है कि गायत्री आदि छन्दों वाले मन्त्रों में 'शक्ति' तत्त्व, सविता आदि की शक्ति विद्यमान है । जो इस 'शक्तितत्त्व' को जान लेता है, उसे अमृत (अमरत्व) प्राप्त होता है ।[4] इसका अभिप्राय यह है कि गायत्री, त्रिष्टुप् , जगती आदि छन्दों में जो मंत्र हैं, इनमें सविता (सूर्य) आदि की शक्ति है । जो इस 'शक्तितत्त्व' की विद्या जान लेता है, वह आत्मतत्त्वरूपी अमृत को प्राप्त करता है ।

दो उक्षा (उक्षन्) – ऋग्वेद और अथर्ववेद में दो उक्षा का उल्लेख है । उक्षन् का सामान्य अर्थ 'बैल' है, क्योंकि यह भार ढोता है । इसका दूसरा अर्थ है – सींचने वाला, वर्षा करने वाला । जीवात्मा और परमात्मा सुखों की वर्षा करने वाले हैं और मनुष्य को आनन्दित करने वाले हैं, अतः इन्हें 'उक्षा' कहा गया है । उक्षा के दो भेदों का उल्लेख है- एक को 'अग्रियः उक्षा' अग्रिम या प्रथम उक्षा कहा गया है । यह बड़ा या प्रथम उक्षा परमात्मा है । इसके लिए कहा गया है कि यह संसार को धारण करता है । यह शक्तिदाता और शक्ति का स्रोत है ।[5] इसके विषय में ही अन्यत्र कहा गया है कि यह द्युलोक और पृथिवी को धारण करता है ।[6] दूसरे को 'पृश्निः उक्षा' अर्थात् छोटा उक्षा कहा गया है । पृश्नि शब्द के दो अर्थ हैं – चितकबरा और छोटा । यहाँ पर छोटा अर्थ है । परमात्मा शुद्ध, बुद्ध, मुक्त है, वह परिपक्व है । दूसरा या छोटा उक्षा अपरिपक्व है । शुद्ध बुद्ध और मुक्त नहीं है । यह छोटा उक्षा जीवात्मा है । इसको योग एवं साधना के द्वारा परिपक्व एवं पुष्ट करना होता है । अतएव मंत्र में कहा गया है कि छोटे उक्षा (जीवात्मा) को वीर और परिश्रमी व्यक्ति परिपक्व बनाते हैं ।[7] इसका अभिप्राय है कि जीवात्मा अल्पज्ञ, अप्रबुद्ध और कर्मों के बन्धन में बँधा हुआ है । इसको ज्ञान, विद्या एवं शिक्षा के द्वारा अप्रबुद्ध किया जाता है । यह अल्पज्ञ है, इसे ज्ञान के द्वारा ज्ञानी और शुद्ध बनाया जाता है । इसे योग और

१-३. तत्रोन्नशद् यः पितरं न वेद । ऋग्० १.१६४.२२

१-४. य इत् तद् विदुस्ते अमृतत्वमानशुः । ऋग्० १.१६४.२३

१-५. अग्रिय उक्षा बिभर्ति भुवनानि वाजयुः । ऋग्० ९.८३.३

१-६. उक्षा स द्यावापृथिवी बिभर्ति । ऋग्० १०.३१.८

१-७. उक्षाणं पृश्निम् अपचन्त वीराः० । अ० ९.१०.२५

साधना के द्वारा जन्म-मरण के बन्धन से छुड़ाकर मोक्ष के योग्य बनाया जाता है । यह है जीवात्मा को परिपक्व बनाना। इस प्रकार इसे शुद्ध, बुद्ध और मुक्त बनाया जाता है । ये दोनों उक्षा (परमात्मा और जीवात्मा) दो भाइयों के तुल्य बड़े और छोटे हैं । बड़ा भाई (परमात्मा) सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है । वह अपने छोटे भाई (जीवात्मा) का मार्गदर्शन करता है और उसे सन्मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करता है । विराट् ब्रह्म के वर्णन में अनड्वान् ब्रह्म का वर्णन हुआ है । अनड्वान् और उक्षन् दोनों शब्दों का संसाररूपी शकट का भार वहन करने वाले 'बैल' के रूप में यहाँ वर्णन है ।

जीवात्मा में परमात्मा (अग्नि में अग्नि) - यजुर्वेद का कथन है कि अग्नि में अग्नि प्रविष्ट है और वह अपना कार्य कर रहा है ।[८] इसका अभिप्राय यह है कि जीवात्मा और परमात्मा दोनों आग्नेय तत्त्व हैं । इनमें पावकता, शोधकता और दोषों को जलाने की शक्ति है । जीवात्मा सूक्ष्म है, परन्तु परमात्मा सूक्ष्मतम है, अतः जीवात्मा में परमात्मा व्याप्त है । जहाँ-जहाँ जीवात्मा है, वहां पर परमात्मा भी व्याप्त है । परमात्मा दोषों को नष्ट करता है । अतः मंत्र में उसे 'अभिशस्तिपावन्' कहा गया है । अभिशस्ति का अर्थ है - दोष, दुर्गुण, निन्दा, दुर्वचन और दुर्व्यसन आदि ।

पूर्ण से पूर्ण की उत्पत्ति - अथर्ववेद का कथन है कि पूर्ण से पूर्ण की उत्पत्ति होती है और इस पूर्ण को दूसरा पूर्ण सींचता है अर्थात् पालन-पोषण कर बड़ा करता है । हम उस दूसरे पूर्ण को जानें, जो इसको पुष्ट करता है ।[९] इस मंत्र का अभिप्राय है कि जीवात्मा और परमात्मा दोनों पूर्ण हैं । परन्तु यह जीवात्मा पूर्ण परमात्मा से निकला है और इस जीवात्मा को यह पूर्ण परमात्मा सींचता है अर्थात् शक्ति देता है । अतः हम उस शक्ति के स्रोत परमात्मा को जानें, जो शक्ति का दाता है । इस शक्ति की प्राप्ति के लिए ही ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना की जाती है ।

ईश्वर और जीव पिता-पुत्र - ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद के अनेक मंत्रों में ईश्वर को पिता, जनिता, विधाता आदि कहा गया है ।[१०] इससे ज्ञात होता है कि ईश्वर महाशक्ति है, महासत्ता है, उससे ही जीवात्मा शक्ति प्राप्त करता है । इसको यह भी कह सकते हैं कि ईश्वर शक्ति का समष्टि रूप है और जीवात्मा व्यष्टि रूप है । समष्टि सत्ता का विकिरण व्यष्टि सत्ता है, जैसे सर्वत्र व्याप्त महाकाश की घटाकाश मठाकाश आदि व्यष्टि सत्ताएं हैं ।

अग्नि और विष्णु - अथर्ववेद के एक सूक्त के दो मंत्रों में जीवात्मा और परमात्मा का वर्णन अग्नि और विष्णु नाम से है । इन दोनों मंत्रों में कहा गया है कि अग्नि

१-८. अग्नावग्निश्चरति प्रविष्टः० । यजु० ५.४

१-९. पूर्णात् पूर्णमुदचति पूर्णं पूर्णेन सिच्यते । अ० १०.८.२९

१-१०. यो नः पिता जनिता यो विधाता० । यजु० १७.२७ । ऋग्० १.३१.१०; १.१६४.३३; ५.४.२ अथर्व० २.१.३; ७.६.१

और विष्णु का बहुत महत्त्व है । ये दोनों गुप्त घृत अर्थात् बुद्धिगत ज्ञान का पान करते हैं। इनके पास सात रत्न हैं । ये सात रत्न हैं - ५ ज्ञानेन्द्रियां, मन और बुद्धि ।[११] इन दोनों मंत्रों में अग्नि जीवात्मा के लिए है और विष्णु परमात्मा के लिए । ये दोनों बुद्धिरूपी गुहा में विद्यमान ज्ञान, विद्या और दिव्य शक्तिरूपी घी पीते हैं । इनके पास ५ ज्ञानेन्द्रियां, मन और बुद्धि ये सात रत्न हैं, इनकी सहायता से ये दिव्य शक्तियों का उपभोग करते हैं । दिव्य शक्तियां घी की तरह शक्ति और पुष्टि देने वाली हैं । इसी आधार पर इन्हें गुप्त घी या धन कहा गया है ।

इन्द्र और विष्णु - अथर्ववेद के एक मंत्र में जीवात्मा और परमात्मा को इन्द्र और विष्णु कहकर इनका महत्त्व बताया गया है । इन्द्र जीवात्मा के लिए लिए है और विष्णु परमात्मा के लिए । शरीरस्थ इन्द्रियों को जीवात्मा शक्ति प्रदान करता है । अतः शक्ति प्रदान के कारण जीवात्मा को इन्द्र कहते हैं । सर्वव्यापक होने से परमात्मा विष्णु है । इनको ही दूसरे शब्दों में नर (जीवात्मा) और नारायण (परमात्मा) कहते हैं । मंत्र में कहा गया है कि इन्द्र और विष्णु, दोनों समन्वित होकर सदा विजयी होते हैं । ये दोनों अलग-अलग भी कभी पराजित नहीं होते । जब ये दोनों स्पर्धा के साथ युद्ध करते हैं तो सैकड़ों नहीं, अपितु हजारों शत्रुओं को तीन प्रकार से जीत लेते हैं ।[१२]

इस मंत्र का अभिप्राय है कि जीवात्मा और परमात्मा दोनों शक्ति के स्रोत हैं । इन दोनों से ही मनोबल, आत्मिक बल, इच्छाशक्ति और दृढ़ संकल्प की शक्ति मिलती है । दोनों मिलकर बड़े से बड़े काम को करते हैं तो सदा विजयी होते हैं । कभी नहीं हारते । इनमें से प्रत्येक भी अपने बल से विजयी होता है । बड़े से बड़े विघ्नरूपी शत्रुओं को ये दोनों परास्त कर देते हैं । अतः ईश्वर-भक्त कभी पराजित नहीं होता । तीन प्रकार से जीतने का भाव है - आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक कोई विघ्न ईश्वर-भक्त को नहीं हरा सकता है । यह है ईश्वर-भक्त की तीन प्रकार से विजय ।

सप्तपदी मित्रता - अथर्ववेद के दो मंत्रों में ईश्वर और जीवात्मा का बहुत रोचक ढंग से संवाद प्रस्तुत किया गया है । जीवात्मा परमात्मा से कहता है कि हम दोनों बन्धु हैं। हम दोनों की उत्पत्ति भी समान है अर्थात् हम दोनों में सत् और चित् (चेतना) गुण समान रूप से हैं । हम दोनों की सप्तपदी (सात पैर साथ चलना) मित्रता है । यहां सात पद हैं - ५ ज्ञानेन्द्रियां, मन और बुद्धि । हे मित्र ! तुम मुझे कुछ ऐसी वस्तु दो, जो तुमने किसी को न दी हो ।[१३] इसके उत्तर में ईश्वर का कथन है कि- तुम मेरे बन्धु हो, हम दोनों के जन्मसिद्ध गुण समान हैं । तुम मेरे सप्तपदी मित्र हो, अतः तुम्हें मैं ऐसी वस्तु (मोक्षरूपी वस्तु) देता

१-११. अग्नाविष्णू महि तद् वां महित्वम्० । अ० ७.२९.१ और २

१-१२. उभा जिग्यथुर्न परा जयेथे । अ० ७.४४.१

१-१३. युज्यो मे सप्तपदः सखासि । अ० ५.११.९

हूँ , जो मैंने किसी को नहीं दी है ।[१४] इससे ज्ञात होता है कि जीव और ईश्वर बन्धु हैं, दोनों में मित्रता है, दोनों सहयोगी हैं । ईश्वर जीव को मोक्षरूपी बहुमूल्य उपहार देता है ।

विवाह-संस्कार में सप्तपदी विधि है । पति-पत्नी एक साथ सात पैर चलकर उस विधि को पूर्ण करते हैं । जीवन के सात लक्ष्य हैं, उनकी प्राप्ति के लिए सप्तपदी विधि है। सप्तपदी विधि पूर्ण होने पर ही विवाह की विधि पूरी मानी जाती है । सप्तपदी के द्वारा पति-पत्नी को एक-दूसरे का मित्र, अन्तरंग, सहयोगी और सहायक बनाया जाता है । यहां पर ईश्वर और जीव की मित्रता का वर्णन है ।

मन, बुद्धि और ५ ज्ञानेन्द्रियों (आंख, नाक, कान आदि) के काम में जीवात्मा के साथ परमात्मा का भी सहयोग रहता है, अतः दोनों को सप्तपदी मित्र कहा गया है । जीव ब्रह्म की इसी एकता या मित्रता के आधार पर ही वेदान्तदर्शन में 'तत् त्वमसि' और 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि विचार प्रस्तुत किए गए हैं ।

ईश्वर जीव का आश्रयदाता - अथर्ववेद के चार मन्त्रों में परमात्मा को जीवात्मा का आश्रयस्थान (गृह), सुखदाता (शर्म), रक्षक या कवच (वर्म) और विपत्ति से बचाने वाला, ढाल (वरूथ) बताते हुए कहा गया है कि जीव परमात्मा को आत्म-समर्पण करके उसके साथ एकत्व को प्राप्त करे और संसार के बन्धनों से मुक्त हो।[१५]

ईश्वर का सायुज्य - अथर्ववेद के एक मंत्र में वर्णन किया गया है कि जो साधक ब्रह्ममुहूर्त में परमात्मा की उपासना करता है और उसका गुणगान करता है, वह ईश्वर का सायुज्य और मोक्षपद प्राप्त करता है । इससे बढ़कर और कोई उत्कृष्ट लाभ नहीं है ।[१६] इसका अभिप्राय यह है कि मानव-जीवन का चरम लक्ष्य मोक्ष या अपवर्ग है और यह ईश्वरोपासना, ध्यान, मनन एवं चिन्तन से ही प्राप्य है ।

प्राणों एवं पंचभूतों में ईश की सत्ता - यजुर्वेद के दो मंत्रों में प्रश्नोत्तर के रूप में परमात्मा और जीवात्मा का वर्णन है । प्रश्न किया गया है कि किन पांच पदार्थों में ईश्वर प्रविष्ट है और वे पांच पदार्थ कौन से हैं, जो पुरुष में प्रविष्ट हैं ? इसका उत्तर दिया गया है कि पांच प्राणों और पांच महाभूतों (पृथिवी आदि) में ईश्वर प्रविष्ट है और ये पांचों ईश्वर में प्रविष्ट हैं ।[१७] सर्वव्यापकता के आधार पर ५ प्राण और ५ महाभूतों में ईश्वर की सत्ता है । इसी प्रकार सर्वाधार होने के कारण सारे प्राण और सारे महाभूत ईश्वर में प्रविष्ट हैं ।

१-१४. ददामि तद् यत् ते अदत्तो अस्मि
युज्यस्ते सप्तपदः सखास्मि । अ० ५.११.१०

१-१५. इन्द्रस्य गृहोऽसि, शर्मासि, वर्मासि, वरूथमसि । तं त्वा प्र पद्ये । अ० ५.६.११ से १४

१-१६. नाम नाम्ना जोहवीति० । अ० १०.७.३१

१-१७. पञ्चस्वन्तः पुरुष आ विवेश० । यजु० २३.५१ और ५२

२. जीवात्मा का स्वरूप

अग्नि से अग्नि - अथर्ववेद में वर्णन किया गया है कि जीवात्मा अजन्मा और अनादि (अज) है और यह परमात्मा के तेजोमय रूप से प्रादुर्भूत हुआ है । यह ज्ञानवान् (विप्र) और चेतन (विपश्चित्) है । सभी यज्ञ और शुभकार्य उसी के लिए किए जाते हैं।[१] एक अन्य मन्त्र में भी यही भाव दिया गया है कि अग्नि से अग्नि उद्‌भूत हुई अर्थात् ज्योतिर्मय परमात्मा से ज्योतिर्मय जीवात्मा प्रकट हुआ ।[२] आगे कहा गया है कि इस ज्योतिर्मय जीवात्मा से तेजोमय लोकों को प्राप्त करें अर्थात् इससे हम मोक्ष, स्वर्ग, दिव्य लोकों एवं तेजोमय परमात्मा का साक्षात्कार करें ।

अग्नि में अग्नि - यजुर्वेद और अथर्ववेद का कथन है कि अग्नि में अग्नि प्रविष्ट है ।[३] इसका अभिप्राय है कि जीवात्मा और परमात्मा आग्नेय तत्त्व हैं । परमात्मा जीवात्मा से सूक्ष्मतर है, अत: वह सूक्ष्म जीव में भी अग्नि के तुल्य व्याप्त है । साथ ही यह भी कहा गया है कि दोनों समन्वित होकर गति करते हैं । इसका अभिप्राय है कि जीवात्मा की प्रत्येक गतिविधि को परमात्मा साक्षी के रूप में देखता हुआ उसके साथ विचरण करता है।

जीवात्मा ज्योतिरूप - अथर्ववेद के एक मंत्र में उत्तम बात कही गई है कि यह अज (अजन्मा) जीवात्मा अग्नि (तेजोमय) है, यह ज्योतिरूप या ज्योतिर्मय है । इसको श्रद्धा से परमात्मा को समर्पण करना चाहिए । इस प्रकार ज्योति से ज्योति मिल जाती है । इस समर्पण का फल यह होता है कि वह परमात्मा जीवात्मा के अज्ञानरूपी अन्धकार को दूर करके उसे ज्योतिर्मय बना देता है ।[४]

जीवात्मा अनादि और अमर है - सभी वेदों में जीवात्मा को अमृत (न मरने वाला), अमर्त्य (अमर) और अज (जन्म न लेने वाला, अनादि) कहा गया है । यजुर्वेद में कहा गया है कि यह जीवात्मा प्राणवायु के रूप में है । यह अमर है । यह स्थूल शरीर नश्वर है और भस्मान्त (भस्म के रूप में शेष रहने वाला) है ।[५] ऋग्वेद और यजुर्वेद में कहा गया है कि मरणशील मनुष्यों में यह अमर जीवात्मा (अग्नि) विद्यमान है । यह ज्ञानवान् (सुमेधा:) और सतत क्रियाशील (अरति) है ।[६] जीवात्मा को कवि अर्थात् क्रान्तदर्शी और चेतन भी कहा गया है ।[७] इसी प्रकार अन्य मन्त्रों में भी जीवात्मा को अमर्त्य (अमर), अमृत (अमर) और ऋतावन् (पवित्र) कहा गया है ।[८]

२-१. अजो ह्यग्नेरजनिष्ट शोकाद् विप्रो० । अ० ९.५.१३

२-२. अग्नेरग्निरधि सं बभूविथ० । अ० ९.५.६

२-३. अग्नावग्निश्चरति प्रविष्टः० । यजु० ५.४ । अ० ४.३९.९

२-४. अजो अग्निरजमु ज्योतिराहुः० । अ० ९.५.७

२-५. वायुरनिलममृतम्० । यजु० ४०.१५

२-६. मर्तेष्वग्निरमृतो नि धायि । ऋग्० ७.४.४ । यजु० १२.२४

२-७. ऋग्० ८.८४.२

२-८. ऋग्० ४.२.१ । यजु० २८.३

ऋग्वेद में कहा गया है कि इस जीवात्मा (अग्नि) को कोई मार नहीं सकता है, यह अवध्य है ।[९] इसी भाव को गीता में कहा गया है – **'नायं हन्ति न हन्यते'**[१०] अर्थात् यह जीवात्मा न किसी को मारता है और न किसी के द्वारा मारा जाता है ।

यजुर्वेद का कथन है कि यह अग्नि (जीवात्मा) दिव्य शक्ति है और इसका संबन्ध आकाशीय दिव्य शक्तियों से है । यह जीवात्मारूपी अग्नि अमर है, क्योंकि इसमें नैसर्गिक दिव्य शक्ति है ।[११]

जीवात्मा अजेय है – ऋग्वेद में कहा गया है कि यह जीवात्मा (इन्द्र) अजेय है। यह कभी पराजित नहीं होता । यह अमर है, इसकी कभी मृत्यु नहीं होती ।[१२] यह चेतन है। यह ज्ञानेन्द्रियों से काम लेने के कारण यज्ञकर्ता (होता) है । यह शरीर का रक्षक है, अतः पिता है ।[१३]

आत्मा हिरण्मय ज्योति – आत्मा को हिरण्मय (सुनहरी) ज्योति बताते हुए कहा गया है कि यह अग्नि में सुनहरी लकीर की तरह विद्यमान है ।[१४] इसका अभिप्राय है कि जीवात्मारूपी अग्नि में जो ज्वाला तेज या कान्ति है, यह आत्मा के तेज के कारण है। यह ज्योति प्राण आदि में सोने की पतली लकीर की तरह विद्यमान रहती है ।

आत्मा हृदयरूपी गुफा में है – ऋग्वेद का कथन है कि आत्मा एक गुप्त ज्योति है। यह हृदयरूपी गुफा में अज्ञेय के रूप में विद्यमान है । उसको ज्ञानी और सत्यनिष्ठ विद्वान् ही प्राप्त कर पाते हैं ।[१५] नाभि से १२ अंगुल ऊपर हृदय के अन्दर जीवात्मा का निवास माना जाता है । यह ज्योतिर्मय है । योगी तत्त्वदृष्टि से इस ज्योति का साक्षात्कार करते हैं । इसको ही आत्म-साक्षात्कार कहते हैं ।

जीवात्मा अमर है । यह मनुष्य के शरीर के साथ चलता है । जीवात्मा में निजी शक्ति है, अतः वह कर्मों के अनुसार नए शरीर धारण करता है ।[१६] अथर्ववेद में एक रोचक बात कही गई है कि परमात्मा वृद्ध है और जीवात्मा युवक है । जीवात्मा परमात्मा के नियन्त्रण में है । परमात्मा जीव का संहार करता है । इसको आलंकारिक भाषा में कहा गया है कि एक वृद्ध सत्ता एक युवक को निगल जाती है ।[१७]

२-९. नकिर्यं घ्नन्ति हन्ति यः । ऋग्० ८.८४.९

२-१०.गीता २.१९

२-११.अग्निरमृतो अभवद् वयोभिः० । यजु० १२.२५

२-१२.अहमिन्द्रो न परा जिग्ये० । ऋग्० १०.४८.५

२-१३.होताऽजनिष्ट चेतनः पिता० । ऋग्० २.५.१

२-१४.हिरण्ययो वेतसो मध्य आसाम् । यजु० १३.३४; १७.९३

२-१५.गूढं ज्योतिः पितरो० । गुहा हितं गुह्यम्० । ऋग्० ७.७६.४; १०.१४८.२

२-१६.जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिः० । अ० ९.१०.८

२-१७.युवानं सन्तं पलितो जगार । अ० ९.१०.९

ऋग्वेद और अथर्ववेद में आत्मा को अशरीर एवं अस्थि आदि से रहित बताते हुए कहा गया है कि यह अस्थि आदि से रहित आत्मा अस्थि-चर्म आदि से युक्त शरीर को धारण किए हुए है ।[१८] शरीर की सत्ता आत्मा की सत्ता पर निर्भर है । जब तक आत्मा है, तब तक ही यह शरीर है, अन्यथा यह मिट्टी के तुल्य शवरूप है ।

जीवात्मा के दो सहायक - यजुर्वेद के १५ मंत्रों में जीवात्मा (इन्द्र) के सहायक के रूप में अश्विनी और सरस्वती का उल्लेख है । अश्विनी प्राण और अपान शक्ति हैं । प्राण और अपान सदा साथ चलते हैं, अतः इन्हें 'अश्विनौ' (दो अश्विनी कुमार) कहा जाता है । सरस्वती से बुद्धि का ग्रहण है । ये दोनों जीवात्मा को क्या सहायता देते हैं, इसका बहुत विस्तार से वर्णन किया गया है ।[१९] दोनों यह सहायता देते हैं :-

१. अश्विनी की सहायता - ये दोनों इष् (पोषण, अन्न), प्राणतत्त्व, ऊर्जा, सर्वरोगनाशन, तेजस्विता, आरोग्य, शुक्र (वीर्य), सोम (सोमीय तत्त्व, आत्मिक शान्ति) देते हैं ।

२. सरस्वती की सहायता - यह माधुर्य, ज्ञान, सद्बुद्धि, विचार-शुद्धि, चिन्तन, मनन, मार्ग-निर्देशन, पोषण, शान्ति-सद्भाव, सोमीय रस, इन्द्रिय (ज्ञानेन्द्रियों में चेतना और पुष्टि), कामधेनु के तुल्य मनोरथों की पूर्ति और आनन्द देती है ।

३. जीवात्मा के गुण-कर्म

जीवात्मा स्वतन्त्र, चेतन एवं प्रेरक - अथर्ववेद के एक मंत्र में जीवात्मा के इन गुण-कर्मों का वर्णन किया गया है । जीवात्मा चेतन और प्राणशक्ति-संपन्न है (अनत्) । यह स्थिर है । इसके कारण ही जीवन में स्थिरता है (ध्रुवम्) । यह जीव को प्रेरणा देता है और गतिशील बनाता है (एजत्) । यह तीव्र गतिवाला है । इसमें क्रियाशीलता और कर्मठता है ।[१] चेतनता के आधार पर मनुष्य में विद्या, बुद्धि, कुशलता और चिन्तनशक्ति है । प्रेरकता से क्रियाशीलता है । स्थिरता से दीर्घायुष्य है । इससे ज्ञात होता है कि जीवात्मा कर्म करने में स्वतन्त्र है और कर्मफल भोगने में परतन्त्र है । महर्षि पाणिनि ने '**स्वतन्त्रः कर्ता**' (अष्टा० १.४.५४) सूत्र के द्वारा जीवात्मा को कर्म करने में स्वतन्त्र बताया है ।

ऋग्वेद में भी जीवात्मा के प्रेरकत्व का वर्णन करते हुए कहा गया है कि जीवात्मा ही मनुष्य में कर्तृत्व की शक्ति प्रदान करता है, वह प्रेरक है । वही मनुष्य के अन्दर विद्यमान दुर्गुणों, दुर्व्यसनों और पाप-भावनाओं को नष्ट करता है ।[२]

जीवात्मा परमात्मा का निवास-स्थान- ऋग्वेद के एक मंत्र में जीवात्मा के

२-१८. ऋग्० १.१६४.४ । अ० ९.९.४

२-१९. यजु० २०.५५ से ६९

३-१. अनच्छये तुरगातु जीवमेजद् ध्रुवम्०। अ० ९.१०.८

३-२. य एक इत् नर्यपांसि कर्ता० । ऋग्० ८.९६.१९

गुण-धर्मों का विस्तार से वर्णन किया गया है ।[3] इसमें कहा गया है कि जीवात्मा परमात्मा का पुत्र है । यह परमात्मा का निवास-स्थान है । यह ओजस्विता और तेजस्विता देता है। यह शरीर के अन्दर स्फूर्ति, गति, चेष्टा एवं कान्ति देता है । यह परमात्मा का उत्तम स्वरूप है । यह पवित्रता और पुष्टि देता है । इससे ज्ञात होता है कि मन की पवित्रता, तेजस्विता, कर्मठता, स्फूर्ति, गति, चेष्टा आदि क्रियाएं, ज्ञान, प्रतिभा आदि जीवात्मा के अस्तित्व के कारण ही मानव में दृष्टिगोचर होती हैं । मंत्र में 'वासः' (वस्त्र) के द्वारा यह भी संकेत किया गया है कि मानव का शरीर एक वस्त्र के तुल्य है । जब यह पुराना हो जाता है तो यह चोला बदल कर नया चोला पहन लेता है, यही इसका पुनर्जन्म है । यही भाव गीता में **'वासांसि जीर्णानि०'** श्लोक के द्वारा दिया गया है ।[4]

जीवात्मा अजेय है, मित्र है - अथर्ववेद में कहा गया है कि आत्मा अजेय है । इसको कोई हरा नहीं सकता है ।[5] आत्मा की शक्ति अपरिमेय है, अतः उसे कोई हरा नहीं सकता । ऋग्वेद का कथन है कि देवों ने मनुष्यों के शरीर में जीवात्मा (अग्नि) को एक मित्र के तुल्य रखा है ।[6] जिस प्रकार मित्र अपने मित्र का हित-चिन्तक होता है, उसी प्रकार आत्मा मनुष्य का हित-चिन्तक, मार्गदर्शक और सहायक है ।

आत्मा शक्ति का स्रोत - अथर्ववेद के एक पूरे सूक्त में आत्मा को रक्षक, कवच और शक्ति का स्रोत बताते हुए सभी दिशाओं से शत्रुओं आदि से बचाने की उससे प्रार्थना की गई है ।[7] वस्तुतः आत्मबल और मनोबल मनुष्य का सबसे बड़ा रक्षक है ।

४. शरीर देवपुरी

शरीर में सभी देव- अथर्ववेद के एक महत्त्वपूर्ण मंत्र में कहा गया है कि यह शरीर देवों की नगरी अयोध्या है । इसमें ८ चक्र (मूलाधार चक्र आदि) और ९ द्वार (आँख, नाक आदि) हैं । इसमें एक चेतन आत्मा (यक्ष) रहता है । उसको ब्रह्मवेत्ता ही जान पाते हैं ।[1] इसमें एक सुवर्ण का कोश (ज्योतिर्मय आत्मा) है । वह त्रिकोण के रूप में शरीर में प्रतिष्ठित है ।[2] यह देवपुरी तेजोमय है । यह सदा हरी-भरी या आनन्दमय है, यश से परिपूर्ण है । इस अयोध्यारूपी नगरी में ब्रह्म का निवास है ।[3] मूलाधार आदि चक्रों का विवरण अन्यत्र दिया गया है । मंत्र में अयोध्या का अर्थ है- अजेय, कठिनाई से जीतने

३-३. आत्मा पितुस्तनूर्वासः० । ऋग्० ८.३.२४

३-४. वासांसि जीर्णानि० । गीता २.२२

३-५. अयुतो य आत्मा । अ० १९.५१.१

३-६. ऋग्० २.४.३

३-७. अ० ५.१०.१ से ८

४-१. अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या । अ० १०.२.३१

४-२. तस्मिन् हिरण्यये कोशे० । अ० १०.२.३२

४-३. पुरं हिरण्ययीं ब्रह्मा० । अ० १०.२.३३

योग्य । योगी आदि ही उच्च साधना के द्वारा इस शरीर पर विजय प्राप्त करते हैं । अथर्ववेद के एक अन्य मंत्र में भी शरीर को अमृत से परिपूर्ण स्वर्णमयी नगरी कहा गया है और इसमें देवों का निवास बताया गया है ।[४]

शरीर में देवों के प्रतिनिधि - अथर्ववेद में कुछ मंत्रों में बताया गया है कि इस शरीर में विभिन्न देवों के ये प्रतिनिधि हैं- नेत्र सूर्य के प्रतिनिधि हैं, कान आकाश के, प्राण और अपान वायु के, शरीर पृथिवी का, वाणी सरस्वती का और मन ज्ञान का ।[५]

शरीर में देव-दानव दोनों हैं - एक अन्य सूक्त में वर्णन किया गया है कि शरीर में जहां देवों का निवास है, वहीं दानव, अशुभ और अप्रिय तत्त्वों का भी निवास है ।[६] एक ओर सद्‌गुणों, सद्‌भावों और सात्त्विक वृत्तियों का प्रवेश हुआ, तो दूसरी ओर पापवृत्तियों, दुर्गुणों और दुर्व्यसनों का प्रवेश हुआ है । सद्‌गुणों आदि में इनका उल्लेख है- आनन्द, आमोद, प्रमोद सत्य, यज्ञ, यश, बल, क्षात्र तेज, समृद्धि, ऐश्वर्य, दान, श्रद्धा, उत्साह, हास्य, ओजस्विता, ज्ञान, विद्या आदि । दूसरी ओर निद्रा, आलस्य, पाप, बुढ़ापा, गंजापन, चोरी, दुराचार, कुटिलता, दरिद्रता, कृपणता, अविद्या, भूख, प्यास, तृष्णा, निन्दा, दुःख, कष्ट, मूर्खता आदि दुर्गुण प्रविष्ट हुए । इस प्रकार शरीर में पाप-पुण्य, सद्‌भाव-दुर्भाव आदि दैवी और आसुरी वृत्तियों का सदा देवासुर-संग्राम होता रहता है ।

शरीर में ब्रह्म - अथर्ववेद में वर्णन किया गया है कि सारे देवों के साथ ही शरीर में ब्रह्म ने भी प्रवेश किया । इससे साथ ही चारों वेद और ज्ञान-विज्ञान ने भी प्रवेश किया।[७] इस शरीर में सारे देवता इसी प्रकार एकत्र हैं, जैसे-गोशाला में गाय-बैल आदि । अतएव विद्वान् लोग इस पुरुष को ब्रह्म या ब्रह्म की नगरी कहते हैं ।[८]

शरीर देवों का पात्र है - अथर्ववेद में एक विचित्र रूपक दिया गया है । इसमें शरीर को एक चमचा माना गया है । इस शरीररूपी चमचे के द्वारा देवता बाह्य विषयों के रस का पान करते हैं । यह चमचा देवों को बहुत प्रिय है । परमात्मा ने यह शरीररूपी चमचा जीवात्मा को दिया है । जीवात्मा इस शरीररूपी चमचे से अपने पुण्यों का सुफल भोगता है । इस शरीररूपी चमचे में आनन्द और ऐश्वर्य की धारा बहती रहती है ।[९] इसका अभिप्राय यह है कि शरीर के माध्यम से ज्ञानेन्द्रियां-रूपी देवता बाह्य जगत् के पदार्थों को ग्रहण करते हैं और जीवात्मा तक पहुंचाते हैं । जीवात्मा के उपभोग का साधन होने के कारण शरीर को चमचा कहा गया है । जीवात्मा में आनन्द और ऐश्वर्य है, अतः कहा गया है कि इस चमचे में आनन्द और ऐश्वर्य की धारा निरन्तर बहती रहती है ।

४-४. पुरं देवानाम् अमृतं हिरण्यम्० । अ० ५.२८.११

४-५. अ० ५.९.७; ५.१०.८

४-६. अथर्व० १०.२.९ और १० । ११.८.१८ से २५

४-७. शरीरं ब्रह्म प्राविशद् ऋचः सामाथो यजुः । अ० ११.८.२३

४-८. तस्माद् वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते । अ० ११.८.३२

४-९. अयं यज्ञमसो देवपानः० । अथर्व० ११.३.५३-५४

जीवात्मा (अज) के विषय में कहा गया है कि जब वह तप और साधना के द्वारा तपाया जाता है, तब वह पापों से मुक्त होता है और स्वर्ग को प्राप्त करता है ।[१०] एक अन्य मंत्र में कहा गया है कि यह जीवात्मा (अज) पापरूपी अन्धकार को पार करके ही मोक्ष का अधिकारी होता है ।[११]

यह आत्मा निष्काम, अजर, अमर और स्वयंभू है । यह आनन्दरूपी रस से परिपूर्ण है । जो मनुष्य इस आत्मा का ज्ञान प्राप्त कर लेता है, उसे मृत्यु का कोई भय नहीं होता है और वह निर्भय हो जाता है ।[१२] इससे ज्ञात होता है कि मानव-जीवन का लक्ष्य है- तत्त्वज्ञान, ब्रह्मज्ञान और आत्मा का साक्षात्कार । जीवात्मा सत् और चित् है, परन्तु उसमें आनन्द नहीं है । यह आनन्द उसे परमात्मा के दर्शन, ज्ञान और साक्षात्कार से प्राप्त होता है । तभी जीव जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त होता है । यजुर्वेद का कथन है कि जीवात्मा ही स्वर्ग और मुक्ति का साधन है । साधना और पुरुषार्थ से स्वर्ग और मुक्ति प्राप्त होती है।[१३]

शरीर नश्वर है - ऋग्वेद और यजुर्वेद में अनेक स्थलों पर शरीर की नश्वरता का उल्लेख किया गया है । यजुर्वेद में स्पष्ट उल्लेख है कि शरीर नश्वर है और अन्त्येष्टि के बाद केवल भस्म (राख) बच जाती है । इसलिए मनुष्य को सदा कर्म करते समय उचित और अनुचित कर्म का ध्यान रखना चाहिए, क्योंकि किए हुए कर्म ही आत्मा के साथ जाते हैं।[१४] ऋग्वेद आदि में बताया गया है कि यह शरीर नश्वर है ।[१५] यजुर्वेद के एक मंत्र में संसार को अश्वत्थ (अस्थायी, कल न रहने वाला) बताकर मानव-जीवन को पेड़ के पत्ते पर रहने के तुल्य अस्थिर और नश्वर कहा गया है ।[१६]

पंचौदन अज - अथर्ववेद में ३८ मंत्रों में पंचौदन अज का वर्णन है ।[१७] यह पंचौदन अज क्या है ? यहां अज (अजन्मा, अनादि) से अभिप्राय है-जीवात्मा । अजन्मा और अनादि होने से जीवात्मा को अज कहां गया है । यह जीवात्मा पंचतत्त्वों (भूमि, जल, अग्नि, वायु और आकाश) का उपभोग करता है । पंचतत्त्व योग्य वस्तुएं हैं, अतः इन्हें रूपक का आश्रय लेकर ओदन या अन्न कहा गया है । इस प्रकार पंचौदन (५ अन्न वाला) अज (अजन्मा अनादि) का अर्थ जीवात्मा है । इस सूक्त में जीवात्मा को तेजोमय या

४-१०.अ० ९.५.१८

४-११.अ० ९.५.१

४-१२.तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योः० । अ० १०.८.४४

४-१३.यजु० १८.५१

४-१४.भस्मान्तं शरीरम्० । यजु० ४०.१५

४-१५.ऋग्० १.१६३.११ । यजु० २९.२२

४-१६.अश्वत्थे....पर्णे वो वसतिष्कृता । यजु० ३५.४

४-१७.अथर्व० ९.५.१ से ३८

ज्योतिर्मय बताया गया है ।[१८] इस सूक्त में वर्णन किया गया है कि किस प्रकार जीव अपने आपको संयमी और तपस्वी बताकर तथा ईश्वरार्पण करके मुक्त हो सकता है ।

इस सूक्त में वर्णन किया गया है कि जीवात्मा में कर्तृत्व है, इसमें संयम और नियन्त्रण की शक्ति है, इसमें शरीर के अवयवों को पुष्ट करने की शक्ति है, इसमें उन्नति, उदय और उत्थान की शक्ति है और सब प्रकार के शत्रुओं अर्थात् पाप, दुर्भावना, दुर्गुण, दुर्व्यसन आदि को नष्ट करने की शक्ति है ।[१९] एक मंत्र में पंचौदन अज को ग्रीष्म ऋतु बताया गया है ।[२०] इसका अभिप्राय यह है कि इस जीवात्मा को जितना साधना के द्वारा तपाया और पकाया जाएगा, उतना ही उत्कृष्ट होगा । एक मंत्र में पंचौदन अज का अभिप्राय पंचतत्त्वों का उपभोक्ता जीवात्मा को बताया गया है और कहा गया है कि वह पांच प्रकार का पराक्रम करे अर्थात् पांचों ज्ञानेन्द्रियों को संयम में रखकर मोक्ष प्राप्त करे ।[२१] अन्त में कहा गया है कि जीवात्मा अपने आपको और पांचों ज्ञानेन्द्रियों को तपाकर ईश्वरार्पण करे।[२२] ऐसी साधना से जीव मोक्ष का अधिकारी होता है ।

५. पुनर्जन्म-सिद्धान्त

जीवन और मरण - वेदों में पुनर्जन्म सिद्धान्त का अनेक मंत्रों में प्रतिपादन किया गया है । अथर्ववेद का कथन है कि जो जन्म लेता है उसकी मृत्यु अवश्य होती है । जन्म के साथ ही मृत्यु मनुष्य को अपने पाशों से बांध लेती है ।[१] इसको ही दूसरे शब्दों में गीता में कहा गया है कि जो जन्म लेता है ; उसकी मृत्यु अवश्यंभावी है और जो मरता है, उसका जन्म भी अवश्य होता है । यह जन्म-मरण का एक चक्र है ।[२] न्यायदर्शन में गोतम मुनि ने भी जन्म-मरण के चक्र का उल्लेख करते हुए कहा है कि जीवन के बाद मरण होता है और मृत्यु के बाद पुनर्जन्म होता है ।[३] इस सूत्र में पुनर्जन्म के लिए 'पुनरुत्पत्ति' शब्द का प्रयोग किया गया है ।

पुनर्जन्म - वेदों में अनेक मंत्रों में पुनर्जन्म का वर्णन किया गया है । ऋग्वेद के एक सूक्त में पुनर्जन्म का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि हे ईश्वर ! हमारा पुनर्जन्म होने पर हमें नेत्र, प्राण और सभी प्रकार के भोग देना । हम प्रतिदिन उदय होते हुए सूर्य के दर्शन

४-१८. अजमु ज्योतिराहुः । अ० ९.५.७

४-१९. अ० ९.५.३२ से ३६

४-२०. अ० ९.५.३१

४-२१. पंचौदनः पंचधा विक्रमताम्० । अ० ९.५.८

४-२२. अ० ९.५.३७-३८

५-१. यस्त्वा मृत्युः० । अ० ३.११.८

५-२. जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च । गीता २.२७

५-३. पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः । न्याय० १.१.१९

करें और सुख से जीवन व्यतीत करें ।[४] पृथिवी हमें पुनः प्राणशक्ति दे, द्युलोक और अन्तरिक्ष हमें जीवनशक्ति दें, सोम देवता हमें नवीन शरीर दे और पूषा देवता हमें सुखकर मार्ग बतावे, जिससे हम सुखपूर्वक जीवित रहें ।[५] हे प्राणों के नियन्त्रक ईश ! हमें पुनः मन और मनन करने की शक्ति देना, हमें दीर्घायुष्य देना, हम सूर्य के प्रकाश में रहें और घृत आदि से हमारा शरीर पुष्ट हो ।[६] यास्क के निरुक्त में भी इस मंत्र का उल्लेख किया गया है ।[७]

यजुर्वेद में पुनर्जन्म-सिद्धान्त का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि हमें दूसरा जन्म लेने पर नवीन आत्मा, प्राण, आयु, चक्षु और कान प्राप्त हों । जीवन का रक्षक परमात्मा है । वह हमें दुर्गुणों और दुर्व्यसनों से मुक्त रखे ।[८]

इसी प्रकार अथर्ववेद में भी पुनर्जन्म का वर्णन करते हुए कहा गया है कि हमें पुनर्जन्म में नवीन आत्मा, ज्ञान, ब्रह्मज्ञान, धन और शारीरिक पुष्टता प्राप्त हो ।[९] एक अन्य मंत्र में भी इसी प्रकार का भाव प्रकट किया गया है कि हमें पुनः नवीन आत्मा, प्राण और चक्षु आदि इन्द्रियां प्राप्त हों । हमारे अच्छे और बुरे कर्मों को देखने वाला परमात्मा हमारे शरीर के अन्दर ही विद्यमान है ।[१०]

ऋग्वेद और अथर्ववेद में एक मंत्र आया है, जिसमें कहा गया है कि यह आत्मा अमर है । यह नश्वर शरीर के साथ संबद्ध होकर अपने कर्मों के अनुसार उत्तम और निकृष्ट शरीर धारण करता है । शरीर और आत्मा दोनों के गुण-धर्म पृथक् हैं । एक नश्वर है, दूसरा अजर-अमर एवं अविनाशी । इनमें एक शरीर तो दिखाई देता है और उसको हम जानते हैं, परन्तु दूसरे आत्मा को न हम देख पाते हैं और न जानते हैं ।[११]

यजुर्वेद और अथर्ववेद में एक मंत्र में वर्णन किया गया है कि आत्मा अमर है । वह अदृश्यरूप में गर्भ में भी विद्यमान रहता है । वही जीवात्मा के रूप में नाना योनियों में जाता है और जन्म लेता है ।[१२]

ऋग्वेद और अथर्ववेद के एक मंत्र में स्पष्ट उल्लेख है कि मरने के बाद भी जीवात्मा नहीं मरता और वह कर्मों के अनुसार विभिन्न योनियों में विचरण करता है । वह कर्मों के अनुसार जन्म लेता है ।[१३]

५-४. पुनः प्राणमिह नो धेहि भोगम्० । ऋग्० १०.५९.६
५-५. पुनर्नो असुं पृथिवी ददातु० । ऋग्० १०.५९.७
५-६. असुनीते मनो अस्मासु धारय० । ऋग्० १०.५९.५
५-७. निरुक्त १०.४०
५-८. पुनर्मनः पुनरायुः० । यजु० ४.१५
५-९. पुनरात्मा द्रविणम्० । अ० ७.६७.१
५-१०.पुनः प्राणः पुनरात्मा० । अ० ६.५३.२
५-११.अपाङ् प्राङेति स्वधया गृहीतो० । ऋग्० १.१६४.३८ । अ० ९.१०.१६
५-१२.प्रजापतिश्चरति गर्भे० । यजु० ३१.१९ । अ० १०.८.१३
५-१३.जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिः० । ऋग् १.१६४.३० । अ० ९.१०.८

आचार्य यास्क ने निरुक्त में पुनर्जन्म-सिद्धान्त का समर्थन करते हुए तीन श्लोक दिए हैं। इनमें कहा गया है कि 'मेरी मृत्यु हुई और मेरा पुनर्जन्म हुआ। इस जन्म के बाद फिर मेरी मृत्यु हुई। इस प्रकार मैंने सहस्रों योनियों में जन्म लिया। इन योनियों में मैंने अनेक प्रकार के भोजन किए। अनेक माताओं के स्तनों का दूध पिया। इन योनियों में मैंने अनेक माता-पिता और मित्र देखे। गर्भ में सिर नीचे और पैर ऊपर रखते हुए अनेक कष्ट भोगे हैं।'[१४]

गर्भोपनिषद् में भी यह सन्दर्भ आया है। उसमें कहा गया है कि गर्भस्थ जीव पूर्वजन्म के शुभ और अशुभ कर्मों को स्मरण करता है और शुभ एवं अशुभ कर्मों का फल भोगता है। गर्भस्थ जीव परमात्मा से प्रार्थना करता है कि हे ईश्वर ! मुझे गर्भ के कष्टों से मुक्त करो। मैं जन्म लेकर तुम्हारा ध्यान करूँगा और संसार के कष्टों से मुक्त होऊँगा।[१५]

महर्षि पतंजलि ने भी योगदर्शन में पुनर्जन्म सिद्धान्त का समर्थन किया है। उन्होंने अविद्या आदि पांच क्लेश बताए हैं। इनमें एक 'अभिनिवेश' नामक क्लेश है। इसका अभिप्राय यह है कि संसार में विद्वान् और मूर्ख सभी को जन्म से ही यह स्वाभाविक इच्छा रहती है कि मेरी मृत्यु न हो, मेरा अभाव न हो। यदि उसने पहले मृत्यु का संकट नहीं देखा होता तो उसे मृत्यु का भय नहीं होता। मूर्ख के तुल्य विद्वान् को भी मृत्यु का भय सताना यह सिद्ध करता है कि उसने पहले मृत्यु का संकट देख रखा है, अतः वह इस जीवन में मृत्यु से भयभीत रहता है और अमरत्व की इच्छा करता है।[१६] यह भय वस्तुतः पूर्वजन्म के संस्कारों के आधार पर होता है। पूर्वजन्म के संस्कारों का इस जीवन में अनुभव होना पुनर्जन्म सिद्धान्त को स्वीकार करना है।

यजुर्वेद में मानव की अन्त में दो गति होने का उल्लेख है। इनमें एक गति देवों, ज्ञानियों, विद्वानों और सत्कर्मियों की है, जो उत्तम कर्म करते हैं। इनकी उत्तम गति होती है। ये उच्च कुल में जन्म लेते हैं, उच्च प्रतिभा आदि से युक्त होते हैं और उच्च शील आदि से युक्त होते हैं। इसको देवमार्ग या दैवी गति कहते हैं। इसके विपरीत जो ज्ञान-विज्ञान से रहित हैं, दुर्गुणों दुर्व्यसनों आदि में फंसे हैं, उनकी अधम गति होती है। वे नीच योनियों में जन्म लेते हैं, अनेक कष्ट रोग आदि से ग्रस्त होते हैं।[१७]

गीता में भी अनेक स्थलों पर पुनर्जन्म सिद्धान्त का उल्लेख मिलता है। **'वासांसि जीर्णानि०'** श्लोक के द्वारा स्पष्ट किया गया है कि आत्मा अमर है। वह पुराने

५-१४ (क) मृतश्चाहं पुनर्जातो०। (ख) आहारा विविधा भुक्ताः०।
(ग) अवाङ्मुखः पीड्यमानः०। निरुक्त १३.१९

५-१५. पूर्वजातिं स्मरति। शुभाशुभं कर्म विन्दति०। गर्भ उप० २ से ४

५-१६. स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः। योग० २.९

५-१७. द्वे सृती अशृणवम्०। यजु० १९.४७

वस्त्र के तुल्य पुराना शरीर छोड़कर नए वस्त्र के तुल्य नया शरीर धारण कर लेता है और नया जीवन प्रारम्भ करता है ।[१८] जन्म और मृत्यु शरीर का होता है, आत्मा अजर-अमर है। वस्त्र-परिवर्तन, चोला-परिवर्तन या शरीर-परिवर्तन ही नवीन जन्म या पुनर्जन्म है ।

गीता में श्रीकृष्ण का अर्जुन से कथन है कि हे अर्जुन ! मेरे और तुम्हारे अनेक जन्म हो चुके हैं । मैं योगदृष्टि से उन सभी जन्मों को जानता हूँ । योगदृष्टि के अभाव के कारण तुम उन जन्मों को नहीं जानते हो ।[१९] श्रीकृष्ण का यह कथन पुनर्जन्म-सिद्धान्त का प्रतिपादक है ।

इसी प्रकार एक अन्य श्लोक में कहा गया है कि साधना का मार्ग बहुत कठिन है। मनुष्य अनेक जन्मों की साधना के पश्चात् किसी पवित्र कुल में जन्म लेता है । अपने पूर्व संस्कारों के आधार पर वह फिर उच्च साधना में लगता है और अपनी साधना में सफल होकर मुक्त हो जाता है ।[२०] यही भाव अन्यत्र भी दिया गया है कि अनेक जन्मों की साधना के पश्चात् ज्ञानी और योगी व्यक्ति परमात्मा को प्राप्त करते हैं और उसका साक्षात्कार करते हैं ।[२१]

पुनर्जन्म-सिद्धान्त, एक समीक्षा- आचार्य भर्तृहरि ने अपने मौलिक ग्रन्थ वाक्यपदीय में प्रतिभा-सिद्धान्त का समर्थन करते हुए कुछ विशेष युक्तियाँ दी हैं, जिनसे पुनर्जन्म-सिद्धान्त का समर्थन होता है ।[२२] उन्होंने कहा है कि मनुष्यों, पशु-पक्षियों आदि में प्रतिभा के रूप में पूर्वजन्म के संस्कार विद्यमान रहते हैं । ये पूर्वजन्म के संस्कार ही न केवल मनुष्य को, अपितु पशु-पक्षियों आदि को भी विभिन्न समयों एवं परिस्थितियों में कुछ विशेष क्रिया करने के लिए लिए प्रवृत्त करते हैं । उदाहरण के रूप में उन्होंने प्रस्तुत किया है कि वसन्त मास में कौन कोयल को मधुर स्वर देता है और मधुर गान के लिए प्रेरित करता है ? गौरेया आदि पक्षियों को सुन्दर घोंसला बनाना आदि कौन सिखाता है ? मकड़ी को जाला बनाना किसने सिखाया है ? बन्दर को कूदना, गाय का मांसाहार न करना, सिंह का मांसाहारी होना, कुत्ते का जन्मसिद्ध स्वामिभक्त होना, गाय आदि पशुओं का जन्म से ही पानी में तैरने की योग्यता रखना आदि ऐसे कार्य हैं, जो यह सिद्ध करते हैं कि पशु-पक्षियों आदि में भी जातीय गुण और वंश-परम्परागत गुण जन्म से ही आते हैं ।

५-१८. वासांसि जीर्णानि यथा विहाय० । गीता २.२२

५-१९. बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन । गीता ४.५

५-२०. अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् । गीता ६.४१ से ४५

५-२१. बहूनां जन्मनामन्ते० । गीता ७.१९

५-२२. (क) स्वरवृत्तिं विकुरुते मधौ पुंस्कोकिलस्य कः । जन्त्वादयः कुलायादिकरणे केन शिक्षिताः।।
(ख) आहार -प्रीत्यभिद्वेष-प्लवनादि-क्रियासु कः । जात्यन्वय-प्रसिद्धासु प्रयोक्ता मृग-पक्षिणाम्।।
वाक्य० २. १४९-१५०

प्रत्येक प्राणी के आहार, व्यवहार, प्रेम, द्वेष, चलना-फिरना, कूदना और ध्वनि आदि में अन्तर है । यह इस बात को सिद्ध करता है कि पुनर्जन्म-सिद्धान्त के कारण प्रत्येक प्राणी अपने विशिष्ट संस्कारों के कारण ऐसा करता है ।

पुनर्जन्म-सिद्धान्त के लिए निम्नलिखित तथ्य विचारणीय हैं -

१. पहले कर्म होता है, उसके बाद उसका फल । पहले कारण होता है, फिर कार्य। मनुष्य जीवन में विसंगतियां हैं, अतः उनका कोई कारण होना चाहिए ।

२. कोई धनी, कोई निर्धन परिवार में जन्म लेता है । किसी को जन्मजात सुविधाएं प्राप्त हैं, किसी को नहीं । इससे ज्ञात होता है कि मनुष्यों के पूर्वजन्म के कर्मों के कारण इस जन्म में उन्हें सुविधाएं या असुविधाएं प्राप्त हुई हैं ।

३. कुछ व्यक्तियों में जन्मजात प्रतिभा, योग्यता, दक्षता आदि विशिष्ट होती है, यह पूर्वजन्म के विशिष्ट संस्कारों को सिद्ध करती है ।

४. पूर्वजन्म के कर्म ही संस्कार रूप में लिंग शरीर में विद्यमान रहते हैं । वे ही प्रारब्ध या भाग्य कहे जाते हैं । उनके आधार पर ही मनुष्य में विशिष्ट प्रतिभा, योग्यता, दक्षता आदि गुण आते हैं ।

५. पूर्वजन्म के विशिष्ट संस्कार ही किसी को वैज्ञानिक, कवि, साहित्यकार, योगी या धर्मात्मा बनाते हैं । पूर्वजन्म के संस्कार उसकी विशिष्ट रुचि के द्योतक हैं ।

६. पूर्वजन्म के संस्कारों के आधार पर ही सात्त्विक, राजस और तामस प्रवृत्ति के व्यक्ति होते हैं । जन्म से साधुता, शिष्टता, सुशीलता सात्त्विक संस्कार के द्योतक हैं । शौर्य, वीरता, साहसिकता, योद्धा-प्रवृत्ति राजस संस्कार के सूचक हैं । इसी प्रकार दुराचार, अन्याय, क्रूरता, दुर्व्यसनों में आसक्ति तामस संस्कारों के द्योतक हैं ।

७. संगीत, विज्ञान, आविष्कार, गणित, साधना आदि में जन्मसिद्ध विशिष्ट अभिरुचि पूर्वजन्म के संस्कारों के द्योतक हैं ।

८. भाग्य का अत्यन्त अनुकूल या प्रतिकूल होना बहुत कुछ पूर्वकृत कर्मों का ही फल होता है ।

९. साहसिकता, वीरता, क्रूरता, कायरता, प्रतिभा-संपन्नता आदि गुण-दोषों का आधार भी पूर्वकृत कर्म ही होते हैं ।

१०. पूर्वजन्म की बातों को बताने वाले बालकों का जन्म पुनर्जन्म-सिद्धान्त को पुष्ट करता है ।

११. कुछ वंश- परम्परागत गुण-दोष अगली पीढ़ी तक चलते हैं । जैसे-क्षत्रिय परिवार में वीरता, साहसिकता, ब्राह्मण में धार्मिकता, पूजा-पाठ आदि । कोयल में स्वर-माधुर्य, मोर में नाचना और कुत्ते में स्वामिभक्ति आदि गुण सिद्ध करते हैं कि जन्म-मरण और पुनर्जन्म का चक्र चलता रहता है ।

१२. कुछ आनुवंशिक रोग, जैसे दमा, मधुमेह, मिरगी (अपस्मार), कुष्ठ आदि रोग सिद्ध करते हैं कि पुनर्जन्म होता है और ये रोग वंश-परम्परा में चलते रहते हैं ।

इस प्रकार यह पुनर्जन्म-सिद्धान्त दार्शनिक, सैद्धान्तिक और वैज्ञानिक दृष्टि से पुष्ट है और ग्राह्य है ।

६. कर्म-मीमांसा

वेदों में अनेक स्थलों पर कर्म-सिद्धान्त का विवेचन हुआ है । कर्म-सिद्धान्त का मूल मंत्र है -'जो जैसा करता है, उसे वैसा फल मिलता है' । मनुष्य को अपने अच्छे और बुरे कर्मों का शुभ और अशुभ फल मिलता है ।

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ।

गीता में इसको स्पष्ट किया गया है कि मनुष्य जो भी कर्म करता है, उसका वह कर्म या पुरुषार्थ कभी नष्ट नहीं होता है । उसके कर्म-फल में कोई विघ्न नहीं आता है । यदि वह अच्छे कर्म करता है तो उसका अच्छा फल मिलेगा । उसका थोड़ा सा भी पवित्र और उदारता का कार्य बड़े संकटों से उसे बचाता है ।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ।। गीता २.४०

इसी भाव को भर्तृहरि ने नीतिशतक में कहा है कि कर्म सबसे बड़ी शक्ति है । परमात्मा भी कर्म-विधान को नहीं तोड़ सकता है । जो जैसा करेगा, उसको वैसा फल भोगना पड़ेगा ।

नमस्तत् कर्मभ्यो विधिरपि न येभ्यः प्रभवति । नीति०

ऋग्वेद का कथन है कि जो आलसी, प्रमादी, अकर्मण्य और नास्तिक होता है, वह अपने कर्मों से ही मारा जाता है ।[१] अथर्ववेद का भी कथन है कि पापी आज जीवित है, कल नहीं रहेगा ।[२]

अथर्ववेद में कहा गया है कि सृष्टि की उत्पत्ति के मूल में कर्म और तप हैं । कर्म से तप की उत्पत्ति हुई और तप से सृष्टि का प्रादुर्भाव हुआ ।[३] अतः कर्म की स्थिति सबसे ऊपर है । जहाँ कर्म है, वहाँ गति है, वहाँ जीवन है, वहाँ दुःखों का अभाव है । कर्म और गति का साक्षात् संबन्ध है । अतएव कहा गया है कि कर्म और गति-प्रगति परस्पर संबद्ध हैं । ओत-प्रोत हैं ।[४] इससे ज्ञात होता है कि जहां कर्म है, वहां सुख है, जहाँ अकर्मण्यता है, वहां दुःख एवं अभाव है ।

६-१. स्वैः ष एवैर्मुमुरत्० । ऋग्० ८.९७.२
६-२. अद्य जीवानि मा श्वः । अ० ५.१८.२
६-३. तपश्चैवास्तां कर्म च ...तपो ह जज्ञे कर्मणः० । अ० ११.८.६
६-४. ओता आपः कर्मणि० । अ० ६.२३.२

यजुर्वेद में स्पष्ट निर्देश है कि मनुष्य कर्म करते हुए ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करे। साथ ही यह भी निर्देश है कि यदि वह निष्काम भाव से या कर्तव्य की भावना से कर्म करता है तो वह कर्मों के बन्धन में नहीं पड़ेगा ।[५] इसका अभिप्राय यह है कि यदि मनुष्य सकाम भाव से या किसी फल-विशेष की इच्छा से काम करता है तो वह कर्मों के बन्धन में पड़ेगा। सुखी जीवन व्यतीत करने के लिए कर्म करना अनिवार्य है । कर्म ही जीवन, उन्नति, प्रगति और विकास है । जहाँ कर्म-हीनता है, अकर्मण्यता है, वहाँ दु:ख, क्लेश, अभाव और विपत्तियां हैं । अतएव ऋग्वेद में अकर्मण्य, कामचोर या निकम्मे को दस्यु, चोर, दास या अधम कहकर उसकी निन्दा की गई है । साथ ही कहा गया है कि जो निषिद्ध कर्म, निन्दित कर्म या कुकर्म करता है । वह मनुष्य कहलाने के योग्य नहीं है । राजा का कर्तव्य है कि ऐसे असामाजिक तत्त्व को मृत्युदंड दे ।[६]

यजुर्वेद के उक्त मंत्र का ही भाव लेकर गीता के प्रसिद्ध श्लोक में कहा गया है कि मनुष्य का कर्तव्य है कि सदा कर्म करे और कर्मफल में आसक्ति न रखे ।[७] गीता में स्पष्ट किया गया है कि जीवित रहने के लिए और जीवन-निर्वाह के लिए कर्म करना अनिवार्य है । जो कर्म नहीं करेगा, उसका जीवन-निर्वाह भी कठिन हो जाएगा ।[८]

कुकर्म या दुष्कर्म करने वाले की सदा दुर्गति होती है । अतएव अथर्ववेद में कहा गया है कि पाप कर्म करने वाले को पाप लगता है और कुवचन या गाली देने वाले को गाली देने का दंड भुगतना पड़ता है ।[९] ऋग्वेद में भी कहा गया है कि कुकर्म करने वाले, आलसी और प्रमादी का पतन होता है । कोई देवता या सज्जन पुरुष उसका साथ नहीं देता।[१०]

दूसरी ओर सत्कर्म करने वाले की सदा उन्नति होती है । उसका जीवन सदा सुखमय होता है । उसकी दुर्गति नहीं होती ।[११] वे उत्तम कुलों में जन्म लेते हैं और सदा उन्नति की ओर अग्रसर होते हैं ।[१२] ऋग्वेद का कथन है कि सत्कर्म करने वालों के शुभ कर्म समाज की उन्नति में सहायक होते हैं और शान्ति की स्थापना में उपयोगी सिद्ध होते हैं ।[१३]

६-५. कुर्वन् एवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समाः । यजु० ४०.२

६-६. अकर्मा दस्युः० । ऋग् ० १०.२२.८

६-७. कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन । गीता २.४७

६-८. नियतं कुरु कर्म त्वं० । गीता ३.८

६-९. अघमस्तु-अघकृते, शपथः शपथीयते । अ० १०.१.५

६-१०. न देवासः कवत्नवे । ऋग् ० ७.३२.९

६-११. नहि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति । गीता ६.४०

६-१२. गीता ६.४१-४२

६-१३. शं नः सुकृतां सुकृतानि सन्तु । ऋग्० ७.३५.४

अथर्ववेद के एक सूक्त में वरुण देवता का वर्णन है ।[१४] इस सूक्त में कहा गया है कि वरुण देवता के दूत सारे संसार में फैले हुए हैं । संसार में जो कुछ हो रहा है, उसको वह देख रहा है । उसके पास मनुष्यों के पलक मारने की संख्या तक की गणना (रिकार्ड) है । मनुष्य जो कुछ भी करता है, सच या झूठ, सत्य या असत्य का व्यवहार, वह सब कुछ देखता है । उसको कोई धोखा नहीं दे सकता । उसके नियम अत्यन्त कठोर हैं । उनको कोई तोड़ नहीं सकता है ।[१५] उसके तीन प्रकार के सात पाश (बन्धन, बेड़ियां) हैं । इनसे वह सबको बांधकर रखता है । ये तीन प्रकार के पाश हैं -सात्त्विक, राजस और तामस । मनुष्य सात्त्विक, राजस या तामस अर्थात् उत्तम मध्यम और अधम जो भी कर्म करता है, उसको उसी प्रकार का फल देता है । उत्तम को उत्तम, मध्यम को सामान्य और निकृष्ट को अति कठोर । साथ ही यह भी स्पष्ट किया है कि सत्यवादी और सत्कर्मी इन पाशों के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं और असत्यवादी को कठोर दंड भुगतना पड़ता है ।[१६]

अथर्ववेद में यही बात रुद्रदेवता के विषय में भी कही गई है कि रुद्र के गण पाश (बेड़ियाँ) लेकर पापियों को बन्धन में डालने के लिए सब जगह फैले हुए हैं । ये क्षण भर के लिए भी अपनी ड्यूटी से नहीं हटते और अत्यन्त सक्रिय हैं । ये पापियों को तुरन्त दंड देते हैं ।[१७] इससे स्पष्ट है कि ईश्वरीय कर्म-विधान अत्यन्त कठोर है । कोई भी कृत कर्म के फल से बच नहीं सकता है । जो जैसा करेगा, वैसा फल भोगेगा ।

अथर्ववेद में रोचक तथ्य दिया गया है कि यम के यहाँ कर्मफल का इतना शुद्ध हिसाब है कि नाप-तोलकर जैसा कर्म किया है, वैसा उतना ही फल मिलेगा, न कम, न अधिक । आठ मंत्रों में इसी हिसाब का उल्लेख है ।[१८] यम के इस कर्मफल के हिसाब के लिए 'मात्रा से नापना' प्रयोग है और कहा गया है कि इतना शुद्ध हिसाब और कोई नहीं रख सकता है ।

अथर्ववेद में ही कहा गया है कि जो कुकर्म करता है, वह पाप का भागी होता है ।[१९] मंत्र में कुकर्म के लिए 'अपकाम' शब्द का प्रयोग हुआ है। यह शब्द दुर्भाव, अशुभ चिन्तन, अनिष्ट कर्म का चिन्तन आदि का भी बोधक है । अत: इसका अभिप्राय है कि मन में कोई भी दुर्भावना लाना या किसी का अशुभ सोचना भी पाप का कारण है और इसके लिए मनुष्य को दंड मिलता है । अथर्ववेद में इसीलिए कृत और अकृत अर्थात् किए गए और मन से सोचे गए सभी पापकर्मों से शान्ति की प्रार्थना की गई

६-१४.अथर्व० ४.१६.१ से ९

६-१५.न स मुच्यातै वरुणस्य राज्ञः । अ० ४.१६.४ और ५

६-१६.ये ते पाशा वरुण सप्त सप्त त्रेधा० । अ० ४.१६.६

६-१७.तस्य स्पशो न नि मिषन्ति भूर्णयः० । अ० ५.६.३

६-१८.इमां मात्रां मिमीमहे० । अ० १८.२.३८ से ४५

६-१९.पापमार्छतु-अपकामस्य कर्ता । अ० २.१२.५

है ।[20] मनुष्य के मन में जो भी शुभ या अशुभ विचार उठते हैं, उनका तदनुसार ही सुफल या कुफल मिलता है । यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है ।

कर्म के भेद- सामान्यतया कर्म के दो भेद हैं - शुभ-अशुभ, सुकर्म-कुकर्म, पाप-पुण्य, अच्छे-बुरे । योगदर्शन में इनको पुण्य और अपुण्य (धर्म-अधर्म या शुभ-अशुभ) कहा गया है ।[21] जिनका फल सुखद होता है, उन्हें शुभ कर्म या पुण्य कर्म कहते हैं और जिनका फल दुःखद होता है, उन्हें अशुभ या अपुण्य कहते हैं । काल की दृष्टि से कर्म के ये भेद किए जाते हैं -१. कृत एवं संचित, २. अकृत, ३. क्रियमाण, ४. करिष्यमाण।

१. कृत एवं संचित- कृत वे कर्म हैं, जिन्हें हम कर चुके हैं और जिनका फल हमें मिलेगा । कुछ कर्म ऐसे हैं, जिन्हें हम पूर्वजन्म में कर चुके हैं, इनको ही हम भाग्य, नियति, प्रारब्ध या पूर्वजन्मकृत कहते हैं । इनका फल हमको कुछ मिल चुका है, मिल रहा है या मिलेगा । प्रारब्ध शब्द के मूल में प्रारम्भ है अर्थात् हमने यह काम कर रखा है । नियति का संबन्ध नियत से है, ऐसा हमने किया है, अतः इसका ऐसा ही फल होगा, जैसे-परीक्षा का फल नियत है । कृत का ही एक भेद संचित कर्म हैं । ये संचित कर्म सुरक्षित भंडार की तरह संचित या सुरक्षित रहते हैं । ये संकट आदि के समय अपना फल दिखाते हैं और व्यक्ति की प्राणरक्षा आदि कार्य करते हैं । इन कर्मों को अदृष्ट कर्म भी कहते हैं ।

२. अकृत - अकृत वे कर्म हैं, जो हमने स्थूल रूप में या शरीर से नहीं किए हैं, अपितु मन या विचार के द्वारा किए हैं । जैसे-किसी का मन से अच्छा या बुरा चिन्तन, किसी स्त्री को दुर्भावना से देखना, किसी को मन से शाप देना आदि । ये अकृत कर्म भी भावों के अनुसार शुभ या अशुभ फल देते हैं । यह स्मरण रखें कि कोई भी कृत या अकृत कर्म बिना फल दिए नहीं रहता । प्रत्येक कर्म का फल अवश्य मिलेगा ।

३. क्रियमाण- क्रियमाण वे कर्म हैं, जो हम प्रतिदिन कर रहे हैं । इनका फल तुरन्त या भविष्य में मिलेगा ।

४. करिष्यमाण- करिष्यमाण वे कर्म हैं, जिन्हें हम भविष्य में करेगें या शीघ्र करने जा रहे हैं । इन कर्मों का फल कर्मानुसार भविष्य में मिलेगा ।

कर्मफल के भेद- योगदर्शन ने कर्मफल को दो भागों में बांटा है - १. दृष्ट जन्म-वेदनीय, २. अदृष्टजन्म-वेदनीय ।[22]

१. दृष्टजन्म-वेदनीय - दृष्टजन्म वेदनीय का भाव है कि जिन कर्मों का फल हम इस जन्म में भोग चुके हैं, भोग रहे हैं या भोगेंगे । अधिकांश कर्मफल दृष्टजन्म-वेदनीय होतें हैं अर्थात् उन कर्मों का फल हम इसी जन्म में भोग लेते हैं ।

६-२०. शं नो अस्तु कृताकृतम् । अ० १९.९.२

६-२१. पुण्यापुण्यहेतुत्वात् । योग० २.१४

६-२२. कर्माशयोदृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः । योग० २.१२

२. अदृष्टजन्म-वेदनीय- अदृष्टजन्म-वेदनीय वे कर्मफल हैं, जिन्हें हम इस जन्म में नहीं, अपितु आगामी जन्मों में भोगेंगे। सामान्यतया ७० या ७५ प्रतिशत कर्मों का फल अच्छा या बुरा इसी जन्म में मिल जाता है। जो कर्मफल शेष रहते हैं, वे आगामी अन्य जन्मों में भोगने पड़ते हैं।[२३]

इसी आधार पर आगामी जन्म में हमारे कर्मों का फल तीन रूप में प्राप्त होता है- १. जाति (जन्म), २. आयु, ३. भोग।

१. जाति या जन्म - यहां जाति का अर्थ जन्म है। मनुष्य का कर्मों के अनुसार विभिन्न योनियों में जन्म होता है। मनुष्य, पक्षी, देव आदि योनियों में मनुष्य का जन्म अपने कर्मों के अनुसार होता है। उस जन्म में उसें कर्मानुसार सुख-दुःख आदि प्राप्त होते हैं। कुछ कर्मों के भोग के लिए उसे पशु-पक्षी आदि की योनि में जाना पड़ता है और फिर शेष कर्मों के भोग के लिए मनुष्य योनि में जन्म लेना पड़ता है।

२. आयु- पूर्वजन्म के कर्मों के अनुसार आयु का निर्धारण होता है। इस जन्म के कर्म भी आयु को घटाने या बढ़ाने में सहायक होते हैं।

३. भोग- मनुष्य को अपने कर्मों के अनुसार इस जन्म में और अगले जन्म में सांसारिक भोग प्राप्त होते हैं। पूर्वजन्म के कर्गों का ही फल है कि कोई धनी और कोई निर्धन परिवार में जंन्म लेता है। कोई प्रतिभासम्पन्न होता है, कोई मूर्ख। किसी को मधुर कंठ मिलता है, किसी को नहीं।

काल की दृष्टि से कर्मफल को तीन भागों में बांटा जा सकता है।

१. सद्यःफलप्रद- कर्म का तुरन्त फल मिलना। जैसे-पेड़ से गिरना, सिर फटना और खून का बहना। विष खाना और मृत्यु। पढ़ना और विद्वान् होना, व्यापार करना और धनी होना।

२. विलम्बित- कुछ समय बाद कर्म का फल मिलना। निरन्तर अपथ्य खाना और कुछ मास बाद पेट के रोग होना। सत्संगति और कुसंगति का प्रभाव कभी-कभी बहुत समय बाद होता है।

३. अन्य जन्म-वेदनीय - कुछ कर्म ऐसे हैं, जिनका फल इस जन्म में नहीं मिल पाता है। ऐसे कर्म संस्कार या वासना के रूप में सूक्ष्म शरीर के साथ रहते हैं और अगले जन्म में शुभ या अशुभ फल के रूप में इन कर्मों का फल देते हैं। ऐसे कर्म ही प्रारब्ध या नियति कहे जाते हैं।

कर्मफल-विषयक सुभाषित

संस्कृत साहित्य में कर्मफल-विषयक अनेक सुभाषित प्रचलित हैं। उनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण सुभाषित यहाँ दिए जा रहे हैं।

६-२३. सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः। योग० २.१३

१. स्वकर्मसूत्रग्रथितो हि लोकः ।

यह सारा संसार अपने कर्मों के फल से बंधा हुआ है ।

२. भद्रकृत् प्राप्नुयाद् भद्रम् , अभद्रं चाप्यभद्रकृत् । (कथासरित्सागर)

अच्छा करने वाले को अच्छा फल मिलता है और बुरा करने वाले को बुरा ।

३. कर्म कः स्वकृतमत्र न भुङ्क्ते । (नैषधीयचरित)

किसको अपने कर्मों का फल नहीं भोगना पड़ता ?

४. कर्मानुगो गच्छति जीव एकः । (भागवत पुराण)

जीव अपने कर्मों के अनुसार जन्म पाता है ।

५. कर्मायत्तं फलं पुंसाम् ।

मनुष्य को अपने कर्म के अनुसार फल मिलता है ।

६. आत्मकृतानां हि दोषाणां नियतमनुभवितव्यं फलमात्मनैव । (कादम्बरी)

अपने किए हुए कर्मों का फल स्वयं को ही भुगतना पड़ता है ।

७. जन्मान्तरकृतं हि कर्म फलमुपनयति पुरुषस्येह जन्मनि । (कादम्बरी)

पूर्वजन्म के किए हुए कर्मों का फल मनुष्य को इस जन्म में भोगना पड़ता है ।

८. चित्रा गतिः कर्मणाम् ।

कर्मों की गति विचित्र है ।

९. प्राचीनकर्म बलवन्मुनयो वदन्ति । (महाभारत)

पुराने किए कर्म बहुत प्रबल होते हैं और वे अवश्य फल देते हैं ।

१०. भद्रमभद्रं वा कृतमात्मनि कल्प्यते । (कथासरित्सागर)

अच्छा या बुरा जो भी कर्म किया है, वह स्वयं को भोगना पड़ता है ।

***

अध्याय - ७

प्रकृति

१. प्रकृति का स्वरूप

प्रकृति क्या है ? संसार में दो प्रकार के तत्त्व हैं- १. चेतन, २. अचेतन । चेतन उन्हें कहते हैं, जिनमें चेतना है, ज्ञान है, कर्म करने की क्षमता है और सोचने-समझने की शक्ति है । अचेतन वे तत्त्व हैं, जिनमें चेतना और ज्ञान नहीं है । चेतन तत्त्वों में परमात्मा और जीवात्मा की गणना है । इन दोनों में चेतना है, ज्ञान है और मनन-चिन्तन की शक्ति है। अचेतन में प्रकृति की गणना है । इसमें चेतना और ज्ञान नहीं है । यह पृथिवी जल आदि पंचतत्त्वों का संघात या समूह है । पृथिवी जल आदि में स्वयं चिन्तन-मनन, स्वयं सोचने-विचारने की क्षमता नहीं है । पंचतत्त्व (पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश) भोग्य हैं, उपयोग में लाने के योग्य पदार्थ हैं । सभी उपभोग्य वस्तुओं का कोई उपभोक्ता होता है । इस संसार में जीवात्मा उपभोक्ता है और प्रकृति तथा सभी प्राकृतिक वस्तुएं उपभोग्य हैं ।

ऋग्वेद, अथर्ववेद और निरुक्त के एक मंत्र में इस विषय को बहुत सुन्दर ढंग से समझाते हुए कहा गया है कि एक वृक्ष पर दो पक्षी बैठे हुए हैं । ये दोनों पक्षी साथ रहते हैं और मित्र हैं । इनमें से एक स्वादिष्ट फलों को खाता है और दूसरा कुछ न खाता हुआ केवल साक्षी रूप में रहकर प्रकाशित होता है ।[१]

इस मंत्र में प्रकृति वृक्ष है । इस पर जीवात्मा और परमात्मा रूपी दो पक्षी बैठे हैं। एक पक्षी जीवात्मा है, यह प्रकृतिरूपी वृक्ष के फलों का स्वाद लेता है । कर्म करता है और फल भोगता है । दूसरा पक्षी परमात्मा है । यह न कर्म करता है और न फल भोगता है । यह केवल साक्षी है और ज्योतिर्मय रूप में प्रकाशित होता है ।

प्रकृति अनादि है - श्वेताश्वतर उपनिषद् और गीता में प्रकृति को अनादि बताया गया है । श्वेताश्वतर उपनिषद् में ईश्वर, जीव और प्रकृति इन तीनों के गुण-धर्मों का विवेचन करते हुए प्रकृति को अज अर्थात् अजन्मा और अनादि कहा गया है । साथ ही इसे त्रिगुणात्मक भी कहा गया है । इसमें सत्त्व गुण के लिए शुक्ल शब्द, रजोगुण के लिए लोहित (लाल) शब्द और तमोगुण के लिए कृष्ण (काला) शब्द का प्रयोग किया गया है। प्रकृति का अन्य गुण बताते हुए कहा गया है कि यह सृष्टि का कारण है । यह नाना प्रकार की प्रजाओं या जीव-जातियों को उत्पन्न करती है । इस मंत्र में प्रकृति के साथ ही जीवात्मा और परमात्मा को भी अज अर्थात् अनादि कहा गया है । जीवात्मा के लिए कहा गया है

१-१. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया० । ऋग्० १.१६४.२० । अथर्व० ९.९.२० । निरुक्त १४.३०

कि यह कर्मों का भोग करता हुआ शरीर में निवास करता है । परमात्मा के लिए कहा गया है कि वह सभी प्रकार के भोगों आदि से विरक्त है अर्थात् वह न कर्म करता है और न कर्मफल को भोगता है । वह केवल साक्षी रूप में विद्यमान है ।[२]

गीता में भी यही बात दूसरे शब्दों में कही गई है कि प्रकृति और पुरुष (जीवात्मा और परमात्मा) दोनों अनादि हैं । सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीन गुणों से युक्त संपूर्ण पदार्थों को तथा राग-द्वेषादि विकारों को प्रकृति से उत्पन्न समझना चाहिए ।[३] साथ ही यह भी स्पष्ट किया गया है कि कार्य तत्त्व और करण तत्त्वों का उपादान कारण प्रकृति है । कार्यतत्त्व १० हैं - ५ महाभूत (पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश) और इनके ५ गुण (गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द) । करण तत्त्व १३ हैं- ३ अन्तःकरण (बुद्धि, अहंकार, मन), ५ ज्ञानेन्द्रिय (आंख, नाक, कान, त्वचा और जीभ) और ५ कर्मेन्द्रिय (वाणी, हाथ, पैर, मलेन्द्रिय और मूत्रेन्द्रिय) । जीवात्मा सुख-दुःख के भोगने में कारण है।[४] जीवात्मा सत्त्व, रजस् और तमस् गुणों से युक्त पदार्थों का भोग करता है और इन गुणों के कारण ही वह अच्छी और बुरी विविध योनियों में जन्म लेता है ।[५] इसका अभिप्राय यह है कि जीवात्मा त्रिगुणात्मक पदार्थों के भोग के कारण ही जन्म-मरण के बन्धन में पड़ता है और उसका पुनर्जन्म होता है । परमात्मा साक्षी और मार्गदर्शक के रूप में मानव-शरीर में रहता है ।[६]

प्रकृति का स्वरूप और सृष्टि - महर्षि कपिल ने सांख्यदर्शन में प्रकृति का स्वरूप बताया है कि सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीन गुणों की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है, अर्थात् सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण जब समान मात्रा में मिलकर एक समूह बनाते हैं, तब उस अवस्था को प्रकृति या 'मूल प्रकृति' कहते हैं । प्रकृति जड़ है, इसमें चेतनता नहीं है । इसमें जब चेतन पुरुष की छाया या प्रतिबिम्ब पड़ता है, तब इसमें चेतनता आती है । इस चेतनता के आते ही प्रकृति से सर्वप्रथम महत्तत्त्व (बुद्धि) की उत्पत्ति होती है । महत् तत्त्व से अहंकार की, अहंकार जब सत्त्वगुण-प्रधान होता है तो उससे ५ ज्ञानेन्द्रियां (नेत्र आदि), ५ कर्मेन्द्रियां (हाथ-पैर आदि) और मन, ये ११ तत्त्व उत्पन्न होते हैं । अहंकार जब तमोगुण-प्रधान होता है तो उससे ५ तन्मात्राएं अर्थात् ५ महाभूतों पृथिवी आदि के सूक्ष्म-रूप शब्द-तन्मात्रा, रूपतन्मात्रा आदि उत्पन्न होते हैं । तन्मात्रा पांच महाभूतों के सूक्ष्मरूप हैं । इनमें ५ महाभूतों के गुण-धर्म हैं । इनसे ५ महाभूत पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश उत्पन्न होते हैं । प्रकृति के अतिरिक्त दूसरी सत्ता पुरुष है । इसके

१-२. अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां० । श्वेताश्व० उप० ४.५

१-३. प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि । गीता १३.१९

१-४. कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते । गीता १३.२०

१-५. पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान् । गीता १३.२१

१-६. गीता १३.२२

दो रूप हैं - १. परम पुरुष, परमात्मा, २. पुरुष, जीवात्मा । ये दोनों अनादि और चेतन तत्त्व हैं । इस प्रकार सांख्य दर्शन में २५ तत्त्व माने गये हैं ।[८] सांख्य दर्शन में इन २५ तत्त्वों को ४ भागों में बांटा गया है -

१. प्रकृति - जो केवल कारण है, किसी का कार्य नहीं । इसमें प्रकृति या मूल प्रकृति है । इसको ही प्रधान और अव्यक्त भी कहते हैं ।

२. प्रकृति-विकृति - जो कारण और कार्य दोनों है । यह किसी का उत्पादक होने से कारण (प्रकृति) होता है और किसी से उत्पन्न होने के कारण विकृति या कार्य होता है। इसमें ७ तत्त्व हैं - महत् तत्त्व, अहंकार और ५ तन्मात्राएं (शब्द तन्मात्रा आदि) ।

३. विकृति- जो केवल कार्य है, किसी का कारण नहीं । ये १६ हैं- ५ ज्ञानेन्द्रियां, ५ कर्मेन्द्रियां, १ मन और ५ महाभूत (पृथिवी, जल आदि) ।

४. न प्रकृति, न विकृति - जो न किसी का कारण है और न किसी का कार्य । यह एक तत्त्व है -पुरुष ।

इस प्रकार सांख्यदर्शन के २५ तत्त्व ये है:-

१. प्रकृति-	१	(मूल प्रकृति, प्रकृति)
२. प्रकृति-विकृति-	७	(महत् तत्त्व आदि)
३. विकृति-	१६	(५ ज्ञानेन्द्रिय, ५ कर्मेन्द्रिय, ५ भूत, मन)
४. न प्रकृति, न विकृति-	१	पुरुष (परमात्मा, जीवात्मा)
योग	२५	

२. प्रकृति की सत्ता

सांख्यदर्शन में इस बात पर भी विचार किया गया है कि प्रकृति को मानने की क्या आवश्यकता है ? सृष्टि की अव्यक्त (अप्रकट) अवस्था को प्रकृति या मूल प्रकृति कहते हैं । इस अव्यक्त प्रकृति की सत्ता की सिद्धि के लिए ये युक्तियां दी गई हैं :-

१. संसार के सभी पदार्थ परिमित, सीमित और परतंत्र हैं, अत: इनका मूल कारण अपरिमित और स्वतंत्र होना चाहिए ।

२. संसार के सभी पदार्थों में सत्त्व आदि तीन गुणों की सत्ता है । प्रत्येक पदार्थ सुख, दु:ख या मोह उत्पन्न करने वाले हैं । अत: इनके मूल कारण में त्रिगुण की सत्ता होनी चाहिए ।

१-७. सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृति:, प्रकृतेर्महान्० । सांख्य० १.६१

१-८. मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्या: प्रकृति-विकृतय: सप्त ।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृति: पुरुष: । साख्यकारिका ३

३. कारण में जो शक्ति होती है, वही कार्य में भी आती है । जिसमें जो शक्ति नहीं होती है, उससे उस प्रकार का कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता है । जैसे- तिल से ही तेल होगा, रेत से नहीं । अतः ज्ञात होता है कि प्रकृति में त्रिगुण, अविवेक आदि गुण हैं, वही उसके कार्य महत् तत्त्व आदि में आते हैं ।

४. कारण और कार्य की पृथक् सत्ता होना । अव्यक्त या अप्रकट स्वरूप उपादान कारण होता है और व्यक्त या प्रकट रूप कार्य । मिट्टी घड़े का उपादान कारण है । मिट्टी का घड़ा बनना व्यक्त रूप है । इसी प्रकार व्यक्त जगत् का कारण कोई अव्यक्त होना चाहिए । यह ही अव्यक्त रूप मूल प्रकृति है ।

५. देखा जाता है उत्पत्ति काल में कारण से कार्य उत्पन्न होता है और विनाश के समय वह अपने कारण में लीन हो जाता है । जैसे-पंच तत्त्वों से शरीररूपी कार्य हुआ, यह शरीर नष्ट होने पर अपने मूल रूप पंचतत्त्वों में लीन हो जाता है । इससे ज्ञात होता है कि सृष्टि जिस मूल कारण अव्यक्त प्रकृति से उत्पन्न हुई है, प्रलय काल में उसी अव्यक्त प्रकृति में लीन हो जाती है । अतः ज्ञात होता है कि प्रकृति या मूल प्रकृति अपरिमित, स्वतंत्र और अव्यक्त सत्ता है ।[९]

३. प्रकृति के गुण-धर्म

सांख्यदर्शन में बताया गया है कि प्रकृति अव्यक्त है, अतः उसमें ये गुण हैं-१. इसका कोई कारण नहीं है, यह अनादि है, २. यह नित्य है । ३. यह सर्वव्यापक है । ४. यह क्रिया या चेष्टा से रहित है । ५. यह एक है । ६. इसको किसी के आश्रय की आवश्यकता नहीं है, ७. यह निरवयव अर्थात् अवयवों से रहित है । ८. यह स्वतंत्र है । ९. यह अव्यक्त अर्थात् अप्रकट रूप में है ।[१०]

प्रकृति को अव्यक्त होने से 'अव्यक्त,' सृष्टि का प्रधान कारण होने से 'प्रधान' और संसार का कारण या जनक होने से 'प्रकृति' कहते हैं ।

तीन गुणों के कार्य - सत्त्व, रजस् और तमस् ये तीन गुण हैं । सारा संसार त्रिगुणात्मक है । इन तीन गुणों के क्या-क्या गुण हैं, इसका भी विवेचन हुआ है ।

१. सत्त्व गुण -सत्त्व गुण की मुख्य विशेषता है कि इसमें लघुता या हल्कापन होता है । यह प्रकाशक है अर्थात् इसमें आग्नेय गुण तेजस्विता आदि गुण हैं, जिससे यह प्रकाश देता है । जैसे - अग्नि में प्रकाश करना और ऊपर को जाना गुण, वायु में बहना या प्रवाहित होना गुण ।[११] सत्त्व में प्रीति, प्रसन्नता, आह्लादकता आदि गुण हैं । सत्त्व गुण में प्रकाश देने की शक्ति है ।[१२]

२-९. भेदानां परिणामात्० । सां० का० १५ और १६

३-१०. हेतुमद्० विपरीतमव्यक्तम् । सां० का० १०

३-११. सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टम् उपष्टम्भकं चलं च रजः । गुरु वरणकमेव तमः० । सां० का० १३

३-१२. प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः । सां० का० १२

२. रजोगुण- रजोगुण में प्रेरकता है । यह कार्य करने की प्रेरणा देता है । यह उत्साह, साहस, स्फूर्ति और गति देता है । यह कार्यों में प्रवृत्त करता है । कार्यों को करने में अभिरुचि देना रजोगुण का कार्य है । इसके साथ ही इसमें गति और चंचलता का गुण है । अस्थिरता, चंचलता, अन्यमनस्कता और विक्षोभ आदि का कारण रजोगुण है । अधिक चंचलता आदि के कारण ही रजोगुण दुःख का कारण होता है ।

३. तमोगुण - तमोगुण में गुरुत्व या भारीपन है । सत्त्वगुण में लघुता या हल्कापन है, ठीक उसके विपरीत तमोगुण में भारीपन है । इस भारीपन के कारण तमोगुण आलस्य, प्रमाद, अकर्मण्यता, निद्रा आदि देता है । यह रजोगुण की चंचलता को रोकता है और किसी कार्य में प्रवृत्ति को रोकता है । यह आवरण का काम देता है । यह बुद्धि पर अज्ञान का आवरण डालता है, अतः बुद्धि मन्द हो जाती है । इस आवरण के कारण तमोगुण मोह, माया, अज्ञान, विषाद, खेद आदि अधम वृत्तियों को जन्म देता है । रजोगुण में प्रवृत्ति, चेष्टा, गति आदि हैं । तमोगुण सभी प्रकार की प्रवृत्तियों को रोकने का काम करता है । इस प्रकार सत्त्व और रजस् की प्रवृत्तियों को रोकने के कारण यह नियामक या नियन्त्रणकर्ता है । तमोगुण में स्थिरता है, अतः पृथिवी में स्थिरता है । इस स्थिरता और गुरुता के कारण तमोगुण निद्रा आलस्य प्रमाद अकर्मण्यता आदि दुर्गुणों को जन्म देता है। अतएव इसको विषादात्मक या मोहात्मक कहा गया है ।

यहां प्रश्न उठाया गया है कि यदि सत्त्व रजस् और तमस् के गुण सर्वथा एक-दूसरे के विपरीत हैं, तो ये एक जगह मिलकर कैसे रहते हैं ? इसको एक उदाहरण के द्वारा समझाया गया है कि जैसे-दीपक में तेल, बत्ती और अग्नि ये तीनों रहते हैं । आग रुई का शत्रु है । बिना तेल के दीपक जल नहीं सकता है । रुई को माध्यम बनाकर आग तेल का उपयोग करती है और दीपक जलता है । लक्ष्य प्रकाश देना है, अतः परस्पर विरोधी तत्त्व भी मिल जाते हैं । शरीर में वात (वायु), पित्त (अग्नि) और कफ (जल) ये परस्पर विरोधी हैं, परन्तु शरीर-धारण के लिए ये तीनों मिलकर शरीर में रहते हैं । इसी प्रकार संसार में सत्त्व, रजस् और तमस् ये तीनों धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूपी पुरुषार्थ को सिद्ध करने के लिए परस्पर मिलकर रहते हैं ।[१३] इन तीनों के अनुपात में अन्तर होता है। अतः सात्त्विक व्यक्ति में सत्त्वगुण की मात्रा बहुत अधिक होती है, रजस् और तमस् की कम । इस प्रकार इन गुणों की मात्रा में अन्तर होने से ही व्यक्ति सात्त्विक, राजस और तामसी वृत्ति वाला होता है । रजोगुणी में रजोगुण बहुत अधिक मात्रा में होगा, सत्त्व और तमस् कम मात्रा में । तमोगुणी में तमोगुण प्रबल होगा, सत्त्व और रजस् कम । प्रत्येक व्यक्ति में ये तीनों गुण अवश्य रहते हैं । किसी भी गुण का अभाव नहीं होता है । केवल मात्रा में अन्तर होता है ।

३-१३.प्रदीपवत चार्थतो वृत्तिः । सां० का० १३

द्वैतवाद - सांख्यदर्शन द्वैतमत का समर्थक है । यह प्रकृति और पुरुष दो तत्त्वों को मानता है । प्रकृति जड़ है, पुरुष चेतन है । पुरुष की चेतन शक्ति का प्रतिबिम्ब जड़ प्रकृति में पड़ता है, इसको 'चिच्छायापत्ति' (चेतन की छाया का पड़ना) कहते हैं । इस चेतन की छाया पड़ने से प्रकृति में चेष्टा प्रारम्भ हो जाती है और सृष्टि का विकास होता है।

४. प्रकृति और पुरुष का संबन्ध

सांख्यदर्शन में प्रकृति और पुरुष के सम्बन्ध में 'पंग्वन्धन्याय' को अपनाया गया है । इस न्याय का अभिप्राय है कि एक व्यक्ति पंगु (लंगड़ा) है, चल नहीं सकता है । दूसरा व्यक्ति अंधा है, वह देख नहीं सकता है । दोनों को अपना काम सिद्ध करना है, अतः दोनों समझौता करते हैं । अंधा चल सकता है, अतः वह नीचे रहता है और पंगु को अपने कंधे पर बैठा लेता है । पंगु देख सकता है, अतः वह मार्ग बताता है । इस प्रकार अंधे की सहायता से दोनों अपने गन्तव्य स्थान को पहुंच जाते हैं ।

प्रस्तुत प्रसंग में पुरुष पंगु है । उसमें कर्तृत्व नहीं है, गति नहीं है, अतः वह चल नहीं सकता है । प्रकृति में चेतनता नहीं है, देखने की शक्ति नहीं है, अतः वह मार्ग नहीं जानती है । दोनों के अपने-अपने लक्ष्य हैं । पुरुष को कैवल्य या मुक्ति चाहिए और प्रकृति को कोई मार्गदर्शक चाहिए । यदि प्रकृति और पुरुष दोनों एक दूसरे का सहयोग करते हैं तो भोग्यरूपी प्रकृति पुरुष को भोग के साथ ही अपवर्ग या मोक्ष तक पहुंचा देगी । इसी प्रकार पुरुष की सहायता से प्रकृति पुरुष (परम पुरुष, परमात्मा) का दर्शन कर लेती है । परिणाम यह होता है कि प्रकृति और पुरुष के संयोग से यह सृष्टि प्रारम्भ हो जाती है । महत् तत्त्व से लेकर पंचभूतों तक की सृष्टि होती है और यह भोग्य जगत् तैयार हो जाता है । प्रकृति भोग्य है और पुरुष इसका भोक्ता अर्थात् उपभोक्ता या उपभोग करने वाला है ।[14]

पुरुष की सत्ता - सांख्यदर्शन में यह भी विचार किया गया है कि पुरुष को मानने की क्या आवश्यकता है ? पुरुष को मानने की आवश्यकता के लिए ये तर्क दिए गए हैं[15] -

१. संघात-परार्थत्वात् - महत् तत्त्व से लेकर पंचभूतों तक सारे तत्त्व भोग्य हैं। जैसे - वस्त्र, भवन, शयन, आसन आदि । ये वस्तुएं भोग्य हैं, अतः इनका कोई भोक्ता होना चाहिए । यह भोक्ता या उपभोक्ता पुरुष है ।

२. त्रिगुणादि- विपर्ययात् - प्रकृति त्रिगुणात्मक है । इसमें तीन गुणों का समूह है। एक ऐसी भी सत्ता मानने की आवश्यकता है, जिसमें ये तीन गुण न हों, जो त्रिगुणातीत हो। ऐसी त्रिगुणातीत सत्ता पुरुष है । इसमें सत्त्व आदि तीन गुणों का अभाव है ।

४-१४. पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य । सां० का० २१

४-१५. संघातपरार्थत्वात् ० । सां० का० १७

३. **अधिष्ठानात्** – भोग्य वस्तुएं तभी सक्रिय होती हैं, जब इनका कोई संचालक या नियामक होता है । जैसे – रथ दूसरे स्थान पर तभी जा सकेगा, जब इसको सारथि आदि कोई नियामक इसे चलाएगा । प्रकृति जड़ है । इसको गति देने के लिए एक अधिष्ठाता या स्वामी की आवश्यकता है । यह गतिदाता ही चेतन पुरुष है ।

४. **भोक्तृभावात्** – प्रकृति भोग्य है । प्रकृति ही सारे भोगों को देने वाली है, साथ ही यह मोक्ष की भी साधन है । योगदर्शन में स्पष्ट किया गया है कि प्रकृति या दृश्य जगत् भोग और अपवर्ग (मोक्ष) का साधन है ।[१६] भोग्य वस्तु प्रकृति के लिए कोई भोक्ता या उपभोक्ता चाहिए । यह उपभोक्ता ही पुरुष है ।

५. **कैवल्यार्थं प्रवृत्तेः** – संसार में ऐसे भी ज्ञानी मनुष्य विद्यमान हैं, जो संसार को दुःखमय मानते हैं । संसार में सुख और शान्ति नहीं है । संसार में आनन्द का अभाव है । अतः ज्ञानी व्यक्ति दुःखों से छुटकारा पाने एवं आनन्द की प्राप्ति के लिए मुक्ति का मार्ग अपनाते हैं । वे भौतिक सुखों को छोड़कर योग एवं साधना का मार्ग स्वीकार करते हैं और आनन्द प्राप्त करते हैं । यह प्रकृति से विरक्ति सिद्ध करता है कि त्रिगुणमयी प्रकृति से भिन्न कोई सत्ता है, जहां शान्ति और आनन्द है । यह आनन्दमयी सत्ता ही पुरुष है ।

५. अन्तःकरण के गुण-धर्म

अन्तःकरण में तीन तत्त्व आते हैं । ये हैं – १. बुद्धि, २. अहंकार, ३. मन ।[१७]

१. बुद्धि – बुद्धि का कार्य है – निश्चयात्मक ज्ञान ।[१८] कर्तव्य-अकर्तव्य, ग्राह्य-अग्राह्य, त्याज्य-उपादेय, लाभकर-हानिकर आदि कर्तव्यों में एक को चुनना और उसको अपनाना बुद्धि का कार्य है । इन्द्रियों से प्राप्त ज्ञान को मन बुद्धि के पास पहुंचाता है । बुद्धि का कार्य होता है – उस पर अपना निर्णय देना । यह करना है और यह नहीं करना है । बुद्धि अपना निर्णय मन को देती है और मन तदनुसार इन्द्रियों को उस कार्य के लिए प्रेरित करता है।

सांख्यकारिका में बुद्धि के सात्त्विक और तामस रूपों का वर्णन किया गया है । सात्त्विक बुद्धि में धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य, ये चार गुण होते हैं ।[१९]

(क) धर्म – लौकिक उन्नति और मोक्ष प्राप्ति धर्म है । यज्ञ दान आदि कर्मों से उत्पन्न धर्म लौकिक उन्नति का साधन है । योग-साधना से उत्पन्न धर्म मोक्ष का साधन होता है । धर्म की ओर प्रवृत्ति सात्त्विक बुद्धि का कार्य है ।

४-१६. भोगापवर्गार्थं दृश्यम् । योग० २.१८
५-१७. अन्तःकरणं त्रिविधम्० । सां० का० ३३
५-१८. अध्यवसायो बुद्धिः० । सां० का० २३
५-१९. धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम् ।
सात्त्विकमेतद् रूपम्० । सां० कारिका २३

(ख) ज्ञान - प्रकृति और पुरुष को पृथक् समझना ज्ञान है । भौतिक जगत् और परमात्मा दो पृथक् तत्त्व हैं । भौतिक जगत् बाह्य सुखों की सामग्री देता है, परन्तु यह दुःख और सुख का साधन है । सात्त्विक बुद्धि से यदि भौतिक जगत् का उपयोग किया जाता है तो संसार सुख का कारण होता है और यदि बुद्धि तामस है तो जगत् दुःख का कारण होता है ।

(ग) वैराग्य - भौतिक विषयों के प्रति आसक्ति की भावना का त्याग । भौतिक विषय दुःख के कारण हैं, अतः इनसे विरक्त होना वैराग्य है ।

(घ) ऐश्वर्य - सात्त्विक बुद्धि ऐश्वर्य देने वाली है । इससे ही दिव्य सिद्धियां प्राप्त होती हैं । सिद्धियां ८ हैं - **१. अणिमा** - अपने शरीर को अतिसूक्ष्म बना लेना । **२. लघिमा** - अपने शरीर को अत्यन्त हल्का बना लेना । **३. गरिमा** - अपने शरीर को बहुत गुरु या भारी बना लेना । **४. महिमा** - अपने शरीर को महान् या बृहद् आकार का बना लेना । **५. प्राप्ति** - इच्छा के अनुसार अपने मनोरथों को प्राप्त कर लेना । **६. प्राकाम्य**- अपनी कामना के अनुसार काम कर सकना । जो चाहना वह कर सकना । **७. वशित्व**- वशीकरण विद्या प्राप्त करना । जीवों को अपने वश में कर लेना । **८. ईशित्व**- भौतिक जगत् पर अधिकार होना । अपनी इच्छा के अनुसार वर्षा आदि करा सकना ।

तमोगुणी बुद्धि इसके विपरीत होती है । उसमें धर्म, ज्ञान आदि के स्थान पर अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य या आसक्ति और ऐश्वर्य का अभाव होता है ।

गीता में बुद्धि के सात्त्विक, राजस और तामस भेदों को अधिक सुन्दर ढंग से समझाया गया है । इनके विशिष्ट गुण ये हैं -

(क) सात्त्विक बुद्धि - सात्त्विक बुद्धि प्रवृत्ति मार्ग (आसक्ति को छोड़कर अपने कर्तव्यों को करना) और निवृत्ति मार्ग (संसार को दुःखमय समझकर उससे विरक्त होना) को ठीक-ठीक समझाती है । वह कर्तव्य और अकर्तव्य या गुण-दोष को यथावत् बताकर कर्तव्य को करने की और अकर्तव्य को छोड़ने का निर्देश देती है । वह भय के कारणों से बचाती है और अभय के मार्ग पर ले जाती है । वह बन्धन के कारणों को और मोक्ष के मार्ग को बताती है ।[२०]

(ख) राजस बुद्धि - राजस बुद्धि धर्म और अधर्म, कर्तव्य और अकर्तव्य को ठीक-ठीक नहीं समझ पाती, अतः वह यथासमय मनुष्य को उचित निर्देश नहीं दे पाती है।[२१]

(ग) तामस बुद्धि - तामस बुद्धि अधर्म को धर्म और अकर्तव्य को कर्तव्य समझती है । इष्ट और अनिष्ट को ठीक न समझ सकने के कारण उल्टे मार्ग या कुमार्ग पर ले जाती है ।[२२]

५-२०.प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च ..... बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी । गीता १८.३०

५-२१.यया धर्ममधर्मं च ....बुद्धिः सा पार्थ राजसी । गीता १८.३१

५-२२.अधर्मं धर्ममिति.....बुद्धिः सा पार्थ तामसी । गीता १८.३२

२. अहंकार - अहंकार 'अहम्' मैं, मेरा, ममता आदि की भावना उत्पन्न करता है। अहंकार ही विषयों में आसक्ति का हेतु होता है, अतः सांसारिक बन्धनों का कारण होता है। ' मैं हूँ ' ' यह मेरा है ' आदि बुद्धि ही अभिमान का कारण है, अतः अहंकार को अभिमान भी कहते हैं।[२३] यह 'अहम्' की भावना और अभिमान जब तक रहेगा, तब तक परमात्मा और मनुष्य (जीवात्मा) में द्वैत बुद्धि जीव में बनी रहेगी। जब यह अहंकार नष्ट हो जाता है, तब जीव परमात्मा से एकत्व की अनुभूति करता है। अतएव योग-साधना की सफलता के लिए अहंकार को समूल नष्ट करना आवश्यक होता है।

अहंकार से दो प्रकार की सृष्टि होती है। १. जब इसमें सत्त्वगुण प्रधान होता है तो इससे ५ ज्ञानेन्द्रियां, ५ कर्मेन्द्रियां और मन अर्थात् ११ तत्त्वों की उत्पत्ति होती है। जब इसमें तमोगुण प्रधान होता है तो इससे ५ महाभूतों के सूक्ष्मरूप ५ तन्मात्राएं (शब्द तन्मात्रा, रूप तन्मात्रा आदि) उत्पन्न होती हैं। इनसे ही ५ पृथिवी आदि महाभूतों की उत्पत्ति होती है।

३. मन- मन की गणना ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों में है।[२४] यह संकल्प-विकल्प करता है, अतः ज्ञानेन्द्रिय है। नेत्र आदि ज्ञानेन्द्रियों से जो ज्ञान प्राप्त होता है, उसकी अच्छाई - बुराई, उपादेयता-हेयता, उपयोगिता-अनुपयोगिता आदि का विवेचन मन करता है। यह मन का संकल्प - विकल्पात्मक कार्य है, अतः इसकी गणना ज्ञानेन्द्रिय में है। यह कर्मेन्द्रिय भी है। यह हाथ आदि की तरह आदान-प्रदान का भी कार्य करता है। ज्ञानेन्द्रियाँ बाह्य विषयों को देखकर जो ज्ञान प्राप्त करती हैं, उसे वे मन को भेजती हैं। मन अपनी टिप्पणी के साथ उस प्राप्त हुए ज्ञान को बुद्धि के पास भेजता है। निर्णय लेना और आदेश देना बुद्धि का कार्य है। बुद्धि प्रत्येक विषय पर सोच विचार- कर निर्णय देती है कि यह करना है, यह किस प्रकार और कब करना है आदि। इसी प्रकार जो वस्तु अनुपयोगी या अनुपादेय है, उसके विषय में निर्णय देती है कि इसे नहीं करना है, नहीं लेना है आदि। बुद्धि अपने आदेश मन को भेजती है। मन तदनुसार कर्मेन्द्रियों से उसी प्रकार कार्य कराता है। मन ज्ञानेन्द्रियों से बाह्य विषयों के बारे में ज्ञान प्राप्त करता है, यह आदान (लेना, ग्रहण करना) है। इसके पश्चात् यह बुद्धि के आदेशों को कर्मेन्द्रियों तक पहुँचाता है, यह प्रदान (देना, भेजने का कार्य) है। आदान और प्रदान के गुण मन में हैं, अतः यह कर्मेन्द्रिय भी है।

वस्तुतः मन की स्थिति किसी कार्यालय में हेड क्लर्क (प्रधान करणिक) के तुल्य है। वह सारी फाइलें एकत्र करता है, उन पर टिप्पणी (नोट) लगाता है और आवश्यक आदेश के लिए व्यवस्थापक के पास भेजता है। व्यवस्थापक उस पर निर्णय लेता है और

५-२३. अभिमानोऽहंकारः०। सां० का० २४

५-२४. उभयात्मकमन्त्र मनः,
संकल्पकमिन्द्रियं च साधर्म्यात्। सां० का० २७

आदेश करता है । हेड क्लर्क तदनुसार संबद्ध व्यक्तियों को आदेश पहुंचाता है और कार्य कराता है । जिस प्रकार हेड क्लर्क को निर्णय लेने का अधिकार नहीं है, उसी प्रकार मन को भी निर्णय लेने का अधिकार नहीं है । वह बुद्धि के आदेशानुसार कार्य करता और करवाता है ।

मन बहुत चंचल है ।[२५] योगवासिष्ठ आदि में मन को 'मर्कटचंचलम्' बन्दर की तरह चंचल बताया गया है । साथ ही मन में महान् शक्ति है । यदि इसको रोक लिया जाय या एकाग्र कर लिया जाय तो इससे महान् दिव्य शक्तियां प्राप्त की जा सकती हैं । योगदर्शन और गीता में अभ्यास और वैराग्य की भावना को मन को एकाग्र करने की एक प्रमुख विधि बताया गया है ।[२६] इस विधि से मन एकाग्र होता है ।

६. सूक्ष्म शरीर, लिंग शरीर

प्रकृति का संबन्ध शरीर से है । शरीर का संबन्ध जीवन और मरण से है । जीव मर कर अगले जन्म में किस रूप में जाता है ? जब इस प्रश्न पर विचार किया जाता है तो सूक्ष्म शरीर या लिंग शरीर को जानने की आवश्यकता होती है । यह लिंग शरीर ही है, जो अगले जन्म में जाता है । जिस प्रकार चित्र के लिए एक आधार की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार सूक्ष्म शरीर के लिए भी आधार की आवश्यकता होती है । इसके लिए आधाररूप लिंग शरीर की सत्ता मानी जाती है । जैसे- छाया के लिए पेड़ आदि की सत्ता मानी जाती है, उसी प्रकार मन आदि सूक्ष्म तत्त्वों के लिए लिंग शरीर की सत्ता मानी जाती है ।[१] यह लिंग शरीर ही पूर्वजन्म के संस्कारों से युक्त होता है और यही नया जन्म लेता है। मनुष्य के जीवन भर किए गए कर्म वासना या संस्कार के रूप में सुरक्षित रहते हैं और मृत्यु के बाद ये सूक्ष्म शरीर के साथ संस्कार रूप में जाते हैं ।[२] जैसे- फूल हाथ में लेने पर उसकी गंध हाथ में आ जाती है । फूल फेंक देने पर भी वह गंध हाथ में कुछ समय बनी रहती है । इसी प्रकार वासना या संस्कार भी मरने के बाद सूक्ष्म शरीर में बने रहते हैं । इनके कारण ही मनुष्य का विविध योनियों में जन्म होता है ।

सूक्ष्म शरीर में कितने तत्त्व होते हैं, इस पर भी विचार किया गया है । इनकी संख्या १८ बताई गई है । ये १८ तत्त्व हैं - महत् तत्त्व (बुद्धि), अहंकार, १० इन्द्रियां (५ ज्ञानेन्द्रियां, ५ कर्मेन्द्रियां), मन और ५ तन्मात्राएं (शब्द, रूप, रस आदि तन्मात्राएं)।[३] इस प्रकार ये १८ तत्त्व लिंग शरीर के साथ रहते हैं और इनके आधार पर ही मनुष्य का उच्च या निम्न योनियों में जन्म होता है ।

५-२५. चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम् । गीता ६.३४

५-२६. अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते । गीता ६.३५

६-१. चित्रं यथाऽऽश्रयमृते० । सां० का० ४१

६-२. संसरति...भावैरधिवासितं लिंगम् । सां० का० ४०

६-३. महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम् , संसरति । सां० का० ४०

७. गीता में प्रकृति का स्वरूप

गीता में प्रकृति के स्वरूप का अनेक प्रकार से वर्णन मिलता है । इसमें प्रकृति के संबन्ध में कुछ महत्त्वपूर्ण बातें कही गई हैं । इन पर ही यहां प्रकाश डाला जा रहा है ।

प्रकृति का कर्तृत्व - संसार में जो कुछ हो रहा है, वह सब प्रकृति का कार्य है। प्रकृति में सत्त्व, रजस् और तमस् ये तीन गुण मूल रूप में विद्यमान हैं । ये गुण केवल मनुष्य ही नहीं, अपितु जीव-जगत् को निरन्तर कुछ न कुछ करने के लिए बाध्य करते हैं। यही कारण है कि मनुष्य, चाहे या न चाहे, कुछ न कुछ भला या बुरा सदा करता रहता है। इसको ही गीता में कहा गया है कि कोई भी मनुष्य क्षण भर के लिए भी बिना कुछ काम किए नहीं रह सकता है । प्रकृति के सत्त्व आदि गुण उसे चैन से नहीं बैठने देते हैं । वे उसे कुछ न कुछ कर्म करने के लिए बाध्य करते हैं ।[१]

प्रकृति बहुत प्रबल है । मनुष्य पूर्वजन्म में जो कुछ करता है, वह मृत्यु के बाद संस्कार या वासना के रूप में सूक्ष्म शरीर में विद्यमान रहता है । नया जन्म होने पर वे पुराने संस्कार प्रारब्ध, नियति, संस्कार, वासना या स्वभाव के रूप में नए शरीर में आ जाते हैं, अतः मनुष्य '**स्वतंत्रः कर्ता**' (अष्टा० १.४.५४) के अनुसार स्वतंत्र होने पर भी अपने पुराने कर्मों के फल-स्वरूप अपना सात्त्विक, राजस या तामस स्वरूप बना लेता है और तदनुसार कार्य करता है । यह स्वभाव ही उसे अच्छे या बुरे कर्मों में लगाता है । प्रत्येक जीव के साथ 'अहंकार' भी है । यह अहंकार तत्त्व ही प्रत्येक कार्य में मैं, मेरा, अपना-पराया भाव, स्वार्थ आदि को जोड़ देता है । अतएव मनुष्य कर्मों के बन्धन में फंसता है । इसको ही गीता में कहा गया है कि सभी प्रकार के कर्म वस्तुतः प्रकृति के गुणों के द्वारा किए जाते हैं, परन्तु अज्ञानी व्यक्ति अहंकार से ग्रस्त होने के कारण ' मैं कर्ता हूँ ' ऐसा समझता है ।[२] सामान्य व्यक्ति प्रकृति के गुणों से मोहित होने के कारण इन गुणों और कर्मों में आसक्त हो जाते हैं ।[३] वस्तुतः ये गुण और कर्म ही आसक्ति के कारण बन्धन के कारण होते हैं । विद्वान् व्यक्ति यह समझता है कि जीवात्मा इन गुणों और कर्मों से असंबद्ध या निर्लेप है । ये सब कार्य गुणों के कार्य हैं और इनका सम्बन्ध प्रकृति से है, न कि जीवात्मा से, अतः वह इन गुणों एवं कर्मों में लिप्त नहीं होता है । यही कारण है कि विद्वान् व्यक्ति अनासक्त होने से कर्म-बन्धन में नहीं पड़ता ।[४]

७-१. कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः । गीता ३.५

७-२. प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ।। गीता ३.२७

७-३. प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु । गीता ३.२९

७-४. तत्त्ववित् तु..गुणा गुणेषु वर्तन्ते इति मत्वा न सज्जते । गीता ३.२८

प्रकृति और स्वभाव - प्रकृति जन्म-जन्मान्तरों तक साथ रहती है । पूर्वजन्म के कर्म ही संस्कार या स्वभाव के रूप में अगले जन्म में आते हैं । अत: गीता का कथन है कि मनुष्य अपने स्वभाव से उत्पन्न कर्मों से सदा बंधा रहता है ।[५] अतएव श्रीकृष्ण ने गीता की समाप्ति पर अर्जुन से कहा है कि यदि तू यह समझता है कि मैं युद्ध नहीं करूंगा, तो तेरा यह विचार व्यर्थ है, क्योंकि प्रकृति या स्वभाव तुझे यह युद्ध करने के लिए विवश करेगा । प्रकृति की आज्ञा तू नहीं टाल सकेगा ।[६]

प्रकृति और पुरुष - गीता के अध्याय १३ में क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का विवेचन हुआ है। इसमें क्षेत्र प्रकृति है और क्षेत्रज्ञ पुरुष या जीवात्मा है । क्षेत्र में प्रकृति के विभिन्न तत्त्व और गुणों का वर्णन है । क्षेत्र में प्रकृति के सारे तत्त्व मूल प्रकृति, महत् तत्त्व (बुद्धि), अहंकार, १० इन्द्रियां, मन, ५ तन्मात्रा और ५ महाभूत सभी लिए गए हैं । साथ ही इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, शरीर, चेतना, धैर्य आदि को भी लिया गया है ।[७] क्षेत्रज्ञ में पुरुष (परमात्मा और जीवात्मा) को लिया गया है । परमात्मा के विषय में कहा गया है कि वह चर-अचर में बाहर और भीतर सर्वत्र विद्यमान है, वह सूक्ष्म है, वह सबका पालक है और ज्योतिर्मय है । वह सब जीवों के हृदय में विद्यमान है ।[८] पुरुष (परमात्मा, जीवात्मा) और प्रकृति ये दोनों अनादि हैं ।[९] प्रकृति महत् तत्त्व (बुद्धि) से लेकर अहंकार, १० इन्द्रियां, मन, ५ तन्मात्रा, ५ महाभूत तक सब तत्त्वों को उत्पन्न करती है । दूसरी ओर पुरुष (जीवात्मा) सुख-दुःखों को भोगने में कारण है ।[१०] जीवात्मा अपने नित्य स्वरूप में रहते हुए भी प्रकृति के सत्त्व रजस् और तमस् गुणों का भोग करता है । ये गुण ही जीवात्मा को भोग भोगने के लिए विभिन्न योनियों में ले जाते हैं ।[११] जो तत्त्वज्ञानी पुरुष सारे कर्मों को प्रकृति के द्वारा किया जाता हुआ देखता है और आत्मा को निर्लेप, अकर्ता एवं साक्षी रूप में देखता है, उसको ही ब्रह्मज्ञ एवं तत्त्ववेत्ता समझना चाहिए । परमात्मा को अकर्ता और साक्षी के रूप में समझना ही तत्त्वज्ञान है ।[१२]

७-५. स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा । गीता १८.६०
७-६. प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति । गीता १८.५९
७-७. महाभूतानि० । इच्छा द्वेषः सुखं दुःखम्० । गीता १३.५-६
७-८. हृदि सर्वस्य विष्ठितम् । गीता १३.१७
७-९. प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि । गीता १३.१९
७-१०. कार्यकरण० पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते । गीता १३.२०
७-११. पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान् । गीता १३.२१
७-१२. प्रकृत्यैव च कर्माणि० । गीता १३.२९

अध्याय ८

एकेश्वरवाद और त्रैतवाद

(एकदेवतावाद और बहुदेवतावाद)

१. देवतावाद

तत्त्व एक या अनेक – वेदों में एकेश्वरवाद और त्रैतवाद से संबद्ध पर्याप्त सामग्री उपलब्ध होती है । एकेश्वरवाद का अभिप्राय है कि मूलसत्ता एक ही है और वह ईश्वर ही है । त्रैतवाद का अभिप्राय है कि मूलसत्ता एक न होकर तीन है । ये तीन मौलिक सत्ताएं हैं – १. ईश्वर, २. जीवात्मा, ३. प्रकृति । एकदेवतावाद का अर्थ है कि मूलरूप में केवल एक ही देवता है । इसको ही Monotheism (मोनोथीज़्म) कहते हैं । मूलरूप में एक ही देवता है और केवल वही उपासना के योग्य है । त्रैतवाद का अभिप्राय है कि अनादि तत्त्व तीन हैं – ईश्वर, जीव और प्रकृति । ईश्वर साक्षी-रूप है । वह सृष्टि का निमित्त कारण है । वह न कर्म करता है और न कर्मफल का भोक्ता है । उसके ईक्षण (मानसिक संकल्प) से सृष्टि की रचना हुई । ईश्वर में तीन गुण हैं – सत् (अस्तित्व, सत्ता), चित् (चेतना, ज्ञान) और आनन्द (सात्त्विक सुख) । अतएव ईश्वर को सच्चिदानन्द कहा जाता है । त्रैतवाद के अनुसार जीवात्मा भी अनादि है । इसमें सत् और चित् ये दो गुण हैं । इसमें सत् अर्थात् सत्ता या अस्तित्व है और साथ ही चित् अर्थात् चेतना या ज्ञान है । यह अपनी बुद्धि के अनुसार कर्म करता है और कर्मफल-सिद्धान्त के अनुसार अपने किए हुए कर्मों का फल भोगता है। इसमें आनन्द नहीं है । यह आनन्द की प्राप्ति के लिए ईश्वरोपासना आदि कार्य करता है । ईश्वर और जीव दोनों अमूर्त हैं । ये सूक्ष्म रूप वाले हैं, अतः इनका भौतिक रूप नहीं है । प्रकृति में मूर्तिमत्ता है, स्थूलता है और अस्तित्व है । प्रकृति ही सृष्टि का उपादान कारण है। इसमें ५ महाभूत आकाश आदि हैं । इनसे ही पूरी सृष्टि का विकास हुआ है । प्रकृति में केवल एक गुण है – सत् या सत्ता । इसमें चित् (चेतना) और आनन्द गुण नहीं हैं । प्रकृति भोग्य है अर्थात् उपभोग की वस्तु है । जीवात्मा भोक्ता अर्थात् उपभोग करने वाला है । इन दोनों का भोक्ता और भोग्य संबन्ध है । प्रकृति जड़ है, अतः वह न कर्म करती है और न कर्मफल को भोगती है । इसका पाप-पुण्य आदि से कोई संबन्ध नहीं है। पाप-पुण्य आदि का संबन्ध केवल जीवात्मा से है ।

देवता एक या अनेक – देवताओं की सत्ता को सभी मानते हैं । विवाद का विषय यह है कि केवल एक देवता की उपासना या पूजा करनी चाहिए या अनेक की । एक देवतावाद का मन्तव्य है कि केवल एक देवता है, वही उपास्य है । अन्य देवता उसके ही विभिन्न नाम और रूप हैं । वे उस एक देवता से भिन्न नहीं हैं । वे एक महावृक्ष की विभिन्न

शाखाओं के तुल्य हैं । इसको एकेश्वरवाद या एकदेवतावाद (Monotheism) कहते हैं। बहुदेवतावाद को अनेक देववाद (Polytheism) भी कहते हैं । इस वाद का मन्तव्य है कि अनेक देवता हैं । इनका स्वतंत्र अस्तित्व है । इनके अलग-अलग नाम-रूप हैं । इनकी उपासना का पृथक्-पृथक् फल है । इनमें महत्त्व आदि की दृष्टि से कोई उच्च है, कोई मध्यम और कोई निम्न कोटि का । इनकी उपासना का फल भी विभिन्न है । इनमें कुछ विरोधी गुण वाले भी हैं । जैसे - सरस्वती ज्ञान की देवी हैं और लक्ष्मी धन की । दोनों का ३६ जैसा सम्बन्ध है । ज्ञानी के पास लक्ष्मी नहीं और लक्ष्मीपति के पास विद्या (सरस्वती) नहीं । इस बहुदेवतावाद के कारण ही अनेक देवी-देवताओं की उपासना प्रारम्भ हुई । कुछ स्थानों पर इन मतभेदों के कारण पारस्परिक कटुता, द्वेष आदि के भाव भी उत्पन्न हुए हैं ।

२. देवों का स्वरूप

देवता क्या हैं ? - यह ध्यान रखना चाहिए कि देव और देवता शब्द एकार्थक हैं। देव शब्द से स्वार्थ में तल् (त) प्रत्यय और स्त्रीलिंग में टाप् (आ) करने पर देवता शब्द बनता है ।[1] देव या देवता क्या हैं ? देव किसको और क्यों कहते हैं ? इसकी बहुत सुन्दर व्याख्या आचार्य यास्क ने निरुक्त में की है । यास्क का कथन है -

देवो दानाद् वा, दीपनाद् वा, द्योतनाद् वा, द्युस्थानो भवतीति वा।

निरुक्त ७.१५

इन चार गुणों में से कोई एक या अधिक गुण वाले को देव कहते हैं -

१. दान- किसी प्रकार का कोई लोकोपकारी कार्य करना या दान देना ।

२. दीपन- प्रकाश देना, प्रकाशित करना या ज्योति देना ।

३. द्योतन - स्वयं प्रकाशयुक्त होना और गूढ रहस्यों या तत्त्वों को प्रकाशित करना।

४. द्युस्थान - द्युलोक में स्थित होना ।

यजुर्वेद के एक मन्त्र में कुछ देवों के ये नाम दिए हैं - अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा, वसुगण, रुद्र, आदित्य, मरुत् , विश्वेदेव, बृहस्पति, इन्द्र और वरुण ।[2]

उपर्युक्त चार गुणों के आधार पर कुछ देवों को इस प्रकार रख सकते हैं ।

१. दान, दाता - लोकोपकारी देव । जैसे - अग्नि ऊष्मा देता है । वायु श्वास और प्राणशक्ति देता है । वरुण जल का देवता है । यह जीवनी शक्ति देता है । इन्द्र आत्मा है । यह चेतना देता है, आत्मिक बल देता है । वसु पृथिवी आदि ८ वसु आश्रय और स्थिति देते हैं । ११ रुद्र प्राण आदि शक्ति के स्रोत हैं । १२ आदित्य प्रकाश देते हैं ।

२-१. देवात् तल् । अष्टा० ५.४.२७

२-२. अग्निर्देवता, वातो देवता, सूर्यो देवता० । यजु० १४.२०

२. दीपन - प्रकाश देना । सूर्य, अग्नि, चन्द्रमा आदि, ये प्रकाश देते हैं ।

३. द्योतन - अव्यक्त को व्यक्त करना । बृहस्पति ज्ञान का देवता है । यह अव्यक्त को व्यक्त करता है । सरस्वती विद्या की अधिष्ठात्री देवी है । यह ज्ञान का प्रकाश देती है। वागृदेवी ज्ञान की देवी है । यह ज्ञान देती है, अज्ञात और अव्यक्त तत्त्वों का बोध कराती है । श्रद्धा सात्त्विक भावना जागृत करती है ।

४. द्युस्थान - आकाशीय तत्त्व होना । जैसे - सूर्य, चन्द्रमा, विद्युत् , नक्षत्र, ग्रह आदि।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि देवता होने के लिए आवश्यक है कि उसमें कोई लोकोपयोगी एवं लोक-हितकारी गुण हो । वह दान, उपकार, प्रकाश, ज्ञान, आत्मशक्ति, मनोबल आदि कोई भी गुण देकर मानव का किसी प्रकार का हित करता हो ।

देवों का स्वरूप - अथर्ववेद का कथन है कि देवता अमर हैं और मनुष्य मरणशील है, अतः यम मनुष्यों के शरीर को नष्ट करता है, देवों के नहीं ।[३] देवों की उन्नति अमृत के कारण होती है, अतः वे अमृत चाहते हैं ।[४]

ब्राह्मण ग्रन्थों में देवों के विषय में अधिक विस्तृत वर्णन मिलता है । शतपथ ब्राह्मण में देवों को अमर बताया गया है ।[५] शतपथ में रोचक तथ्य दिया गया है कि देवता भी पहले मरणशील थे । इन्होंने जब ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया, तब ये अमर हुए ।[६] तैत्तिरीय संहिता आदि में कहा गया है कि यज्ञ, तप और विभिन्न व्रतों के अनुष्ठान के बाद ही देवता अमर हुए हैं ।[७] देवता सदा जागते हैं ।[८] ये कभी नहीं सोते ।[९] इसका अभिप्राय है कि अग्नि, वायु, प्राण, सूर्य आदि देवता सदा क्रियाशील हैं । ये कभी विश्राम नहीं करते हैं । देवता सदा सत्यप्रिय, सत्यनिष्ठ और सत्यकर्मा होते हैं ।[१०]

तैत्तिरीय ब्राह्मण का कथन है कि सारे देव ज्योतिर्मय और प्रकाशयुक्त हैं ।[११] इसका अभिप्राय है कि देवों में तेजस्विता और प्रकाशता का गुण मुख्यरूप से होता है । शतपथ और गोपथ ब्राह्मणों में देवों की एक अन्य विशेषता बताई गई है कि ये प्रत्यक्ष भौतिक विषयों के प्रति सर्वथा अनासक्त होते हैं और ब्रह्मज्ञान आदि परोक्ष विषयों के प्रेमी

२-३. देवेभ्यः कमवृणीत० । अ० १८.३.४१
२-४. देवा अमृतेनोदक्रामन् । अ० १९.१९.१०
२-५. अमृता देवाः । शत० २.१.३.४
२-६. मर्त्या ह वा अग्रे देवा आसुः० । शत० ११.२.३.६
२-७. तैत्ति० सं० ७.४.२.१। तांड्य ब्रा० २२.११.२ और ३
२-८. जाग्रति देवाः । शत० २.१.४.७
२-९. न वै देवाः स्वपन्ति । शत० ३.२.२.२२
२-१०.सत्यमया उ देवाः । कौषी० ब्रा० २.८
२-११.सर्वे वै देवास्त्विषिमन्तः० । तैत्ति० ब्रा० ३.८.७.३

होते हैं ।[१२] देवों और मनुष्यों में मुख्य अन्तर यह है कि देवता सदा सत्यभाषी और सत्यप्रिय होते हैं । जो सत्य को छोड़ता है और असत्य को अपनाता है, वह मनुष्य होता है ।[१३] इसी आधार पर सत्यनिष्ठ और वेदज्ञ विद्वानों को देव कहा गया है ।[१४]

शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि अग्नि देवों का प्राण है ।[१५] इसका अभिप्राय यह है कि देवों में आग्नेय गुण, ज्योति, प्रकाश, सात्त्विक गुण आदि अवश्य होने चाहिएं, तभी वे देवता कहे जायेंगे । इसीलिए शतपथ ब्राह्मण में अन्यत्र कहा गया है कि तेजस्विता और प्रकाशकता के कारण ही सूर्य सारे देवों की आत्मा है ।[१६] सूर्य ज्योति, प्रकाश, प्राणशक्ति और जीवनी शक्ति देता है, अतः सारे देवों की आत्मा है ।

३. देवों के भेद

देवों के दो भेद- अथर्ववेद के एक मंत्र में देवों के दो भेदों का उल्लेख है - १. देव, २. साध्य ।[१] इसका अभिप्राय यह है कि देवों की भी दो कोटियां हैं- एक सिद्ध और दूसरे साध्य । जो ब्रह्मज्ञान, आत्मसाक्षात्कार, तत्त्वज्ञान प्राप्त कर चुके हैं, वे सिद्ध हैं, वे पूर्ण देवता हैं। वे ही उच्चकोटि के देव हैं । वे ही उपासना के योग्य हैं । अतएव इस मंत्र में 'इन्द्रज्येष्ठाः' कहकर इन्द्र को श्रेष्ठ देवता बताया गया है और यज्ञादि में उसका आह्वान किया गया है । जो साधना में संलग्न हैं, जिन्हें पूर्णता प्राप्त नहीं हुई है, वे साध्य देव हैं ।

देवों के चार भेद - अथर्ववेद के एक मन्त्र में देवों के चार भेदों का उल्लेख हैं।[२] ये हैं :-

१. प्रयाज - विशेष रूप से यज्ञ करने वाले । जो यज्ञ में मुख्य रूप से भाग लेते हैं और यज्ञ-विधि का संपादन करते हैं, वे प्रयाजदेव हैं । आध्यात्मिक दृष्टि से शरीर में भी यज्ञ-प्रक्रिया चल रही है । इस यज्ञ के प्रमुख संचालक देवता हैं - बुद्धि, मन और पांच ज्ञानेन्द्रियां, हृदय, वैश्वानर अग्नि आदि ।

२. अनुयाज - प्रयाज देवों के सहायकों को अनुयाज देव कहते हैं । ये प्रयाज देवों के अनुकूल या उनके निर्देशानुसार कार्य करते हैं । इनका भी स्वतंत्र अस्तित्व है ।

२-१२. परोक्षप्रिया इव हि देवा भवन्ति प्रत्यक्षद्विषः ।
गोपथ ब्रा० १.२.२१ । शत० ७.४.१.१०

२-१३. सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्याः । शत० १.१.१.४

२-१४(क) विद्वांसो हि देवाः । शत० ३.७.३.१०

(ख) ये ब्राह्मणाः शुश्रुवांसो ....ते मनुष्यदेवाः । शत० २.२.२.६

२-१५. अग्निरु देवानां प्राणः । शत० १०.१.४.१२

२-१६. सूर्यो वै सर्वेषां देवानाम् आत्मा । शत० १४.३.२.९

३-१. देवा उभये साध्याश्च । अ० ७.७९.२

३-२. प्रयाजाः, अनुयाजाः, हुतभागाः, अहुतादश्च देवाः । अ० १.३०.४

आध्यात्मिक दृष्टि से बुद्धि आदि के अनुकूल कर्म करने वाले पांच कर्मेन्द्रिय हाथ, पांव, वाणी आदि अनुयाज देव हैं ।

३. **हुतभाग** – हुत या हवन में डाले हुए द्रव्यों का भोग करने वाले देवों को हुतभाग देव कहते हैं । ये हवन में डाले हुए पदार्थों के सार भाग का उपभोग करते हैं । शरीर में होने वाले यज्ञ में भोजन हव्य है । वैश्वानर अग्नि पाचक अग्नि है । भोजन से जो रस, शक्ति आदि प्राप्त होती है, उसका उपभोग बुद्धि, मन, ज्ञानेन्द्रियां और कर्मेन्द्रियां करती हैं, अतः ये हुतभाग देव हैं ।

४. **अहुताद्** – इनको अहुतभाग भी कहते हैं । ये हुत द्रव्यों का भोग नहीं करते हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से शरीर में ५ प्राण अहुताद् हैं । ये हुत द्रव्यों का उपभोग नहीं करते हैं। प्राण देव न खाते हैं और न पीते हैं । ये शरीर में स्वयंसेवक की तरह रहते हैं और शरीर का पोषण करते हैं । ये आत्मिक शक्ति पर निर्भर रहते हैं । इनका भोज्य पदार्थों से साक्षात् कोई संबन्ध नहीं है ।

देवों का जन्म – अथर्ववेद में प्रश्न उठाया गया है कि देवों का जन्म कैसे होता है ? इन्द्र, सोम, अग्नि, त्वष्टा और धाता आदि का जन्म कहां से, कैसे हुआ है ?[3] इसका उत्तर दिया गया है कि देवों का जन्म अपनी मूल शक्तियों से हुआ है । इन्द्र शक्ति से इन्द्र का, सोम से सोम का, अग्नि से अग्नि का, त्वष्टा से त्वष्टा का और धाता से धाता का ।[4] इसका अभिप्राय है कि ईश्वर की अनन्त शक्तियां हैं और उन शक्तियों के पृथक्-पृथक् अनेक केन्द्र हैं । प्रत्येक शक्ति को अपने-अपने केन्द्र से ऊर्जा प्राप्त होती है । जैसे-इन्द्र विद्युत् शक्ति है । इसको अपने मूल केन्द्र से विद्युत् शक्ति प्राप्त होती है । अतः यह कहा जाएगा कि विद्युत् से ही विद्युत् का जन्म हुआ । सोम जलीय शक्ति है । इसका जन्म केन्द्रीय सोमतत्त्व से हुआ है । इसी प्रकार अग्नि का जन्म केन्द्रीय आग्नेय शक्ति से हुआ है । अतः कहा गया है कि अग्नि से अग्नि का जन्म हुआ । यह ऐसे ही है, जैसे दीप से दीपक को जलाना । इसी प्रकार त्वष्टा से त्वष्टा देव का और धाता से धाता देव का जन्म हुआ है ।

देवों का त्रिविध जन्म – अथर्ववेद का कथन है कि देवों का तीन प्रकार से जन्म होता है । अग्नि का भी तीन प्रकार से जन्म होता है ।[5] तीन प्रकार से जन्म का अभिप्राय है कि अग्नि, सोम, इन्द्र आदि देवों का आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तीन प्रकार से जन्म होता है । जैसे-आध्यात्मिक अग्नि जीवात्मा है, आधिदैविक अग्नि अन्तरिक्षस्थ

३-३. कुत इन्द्रः कुतः सोमः कुतो अग्निरजायत । अ० ११.८.८

३-४. इन्द्रादिन्द्रः सोमात् सोमो अग्नेरग्निरजायत । अ० ११.८.९

३-५, विद्मा ते अग्ने त्रेधा जनित्रम् ,
त्रेधा देवानां जनिमानि विद्म । अ० १३.३.२१

विद्युत् है और आधिभौतिक अग्नि पार्थिव अग्नि है । इसको ही अथर्ववेद में स्पष्ट किया गया है कि यह अग्नि ही तीन स्थानों पर तीन रूप में कार्य कर रही है ।[६] एक ही अग्नि द्युलोक में सूर्य के रूप में है । अन्तरिक्ष में विद्युत् के रूप में और पृथिवी पर सामान्य अग्नि के रूप में ।

यजुर्वेद और तैत्तिरीय संहिता में आकाशीय अग्नि (विद्युत्) की उत्पत्ति के विषय में कहा गया है कि यह पुरूरवा (मेघ) और उर्वशी (विद्युत्) के संपर्क या संघर्ष से उत्पन्न होती है ।[७] अत: मेघ को '**अग्ने: जनित्रम् असि**' (अग्नि के जनक हो) कहा गया है । इस मंत्र में '**वृषणौ स्थ:**' के द्वारा स्पष्ट किया गया है कि इस विद्युत् के उत्पादन दो शक्तियों अग्नि और सोम (धनात्मक और ऋणात्मक, Positive and Negative) का योगदान है ।

४. देवों के निवास-स्थान आदि

निवास-स्थान - अथर्ववेद में उल्लेख है कि देवता केवल द्युलोक में ही नहीं, अपितु द्युलोक, अन्तरिक्ष, पृथिवी, ओषधियों, पशुओं और जल में भी रहते हैं ।[१] इससे ज्ञात होता है कि देवता का अभिप्राय है दिव्य शक्तियां । वृक्ष-वनस्पतियों, जीवों, पशु-पक्षियों और जलचर मत्स्य आदि में भी दिव्य शक्तियां हैं । इन दिव्य शक्तियों को ही देव कहा गया है।

निरुक्त में आचार्य यास्क का कथन है कि मुख्यरूप से तीन ही देवता हैं - १. पृथिवी पर अग्नि, २. अन्तरिक्ष में वायु या इन्द्र, ३. द्युलोक में सूर्य ।[२] ये तीनों महान् शक्ति वाले देवता हैं । अन्य सभी देवता इनके अंग-प्रत्यंग हैं । इस प्रकार देवों के निवास-स्थान तीन हैं - भूलोक, अन्तरिक्ष और द्युलोक ।

देव शब्द दिव्य शक्ति या असाधारण शक्ति का भी सूचक है । ये दिव्य शक्तियां जिसमें या जहां पर भी होंगी, उसे देवता का स्थान दिया जाता है । जैसे - इन्द्र या शक्र शब्द। शक्र शब्द भी शक्तिमत्ता के कारण इन्द्र का नाम है । यास्क का कथन है कि इन्द्र शक्ति या ऊर्जा का प्रतीक है, अत: वेदों में जो भी शक्ति या सामर्थ्य का काम है, वह इन्द्र या शक्र का कार्य है ।[३] अथर्ववेद में इसी आधार पर इन्द्र (शक्र)आदि के विषय में कहा गया है कि इन्द्र (शक्र) आदि देव द्युलोक में भी हैं, अन्तरिक्ष में भी और पृथिवी पर भी।[४]

३-६. य एकमोज: त्रेधा विचक्रमे । अ० १.१२.१

३-७. अग्नेर्जनित्रमसि, वृषणौ स्थ:, उर्वशी असि, पुरूरवा असि । यजु० ५.२ । तैत्ति०सं० १.३.७.१

४-१. ये देवा दिवि ष्ठ ये पृथिव्यां ये अन्तरिक्षे० । अ० १.३०.३

४-२. तिस्र एव देवता इति नैरुक्ता: । अग्नि: पृथिवीस्थान: । वायुर्वा इन्द्रो वान्तरिक्षस्थान: । सूर्यो द्युस्थान: । निरुक्त ७.५

४-३. या च का च बलकृतिरिन्द्रकर्मैव तत् । निरुक्त ७.१०

४-४. ये देवा दिविषदो अन्तरिक्षसदश्च ये । पृथिव्यां शक्रा ये श्रिता:० । अ० ११.६.१२

कुछ देवता अमूर्त भी हैं और कुछ मूर्त भी । वेदों में कुछ देवों का वर्णन शरीरधारी पुरुष के तुल्य हुआ है और कुछ का अमूर्त के रूप में । निरुक्त में भी इस विषय पर विवेचन हुआ है और देवों के मूर्त और अमूर्त स्वरूप का वर्णन हुआ है ।[५] इन्द्र, मरुत् , अश्विनी आदि देवों का शरीरधारी के रूप में वर्णन हुआ है और अमूर्त के रूप में अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा, पृथिवी, जल, श्रद्धा, वाग्देवी (सरस्वती) आदि का । अथर्ववेद में भी तेजस्विता के आधार पर इन्द्र आदि देवों को देही (शरीरधारी) कहा गया है । ये तेजोमय शरीर को धारण करते हैं ।[६] इससे ज्ञात होता है कि दिव्य तेजधारी ऋषि, मुनि और विद्वानों को भी इसी आधार पर देव कहा जाता था । इन देवों के लिए भी कहा गया है कि ये यज्ञ में मधुर वस्तुएं खाते-पीते हैं ।[७]

देवदूतों के विषय में कहा गया है कि ये संसार में सदा विचरण करते रहते हैं । ये न कभी सोते हैं और न कभी विश्राम करते हैं । ये सदा कर्मठ रहते हैं ।[८] यहां देवदूतों से अभिप्राय ईश्वरीय शक्तियों से है, जो सदा सर्वत्र संसार के सभी शुभ एवं अशुभ कर्मों का निरीक्षण करती रहती हैं । वरुण देवता के दूतों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वरुण के दूत संसार में सर्वत्र फैले हुए हैं और ये प्रत्येक मनुष्य की सभी गतिविधियों का पूरा रिकार्ड रखते हैं । यहां तक कि प्रत्येक व्यक्ति ने कितने पलक मारे हैं, इसकी भी गणना उनके पास है ।[९]

दिशाएं, अधिपति और उनके बाण - अथर्ववेद में प्रत्येक दिशा से संबद्ध देवता या अधिपति का नाम दिया गया है । साथ ही उनके बाणों का भी उल्लेख है ।[१०] इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है -

दिशा-नाम	अधिपति	बाण
१. पूर्व	अग्नि	आदित्य (सूर्य)
२. दक्षिण	इन्द्र	पितरः (पितृगण)
३. पश्चिम	वरुण	अन्न
४. उत्तर	सोम	अशनि (विद्युत्)
५. ध्रुवा	विष्णु	वीरुध् (वनस्पतियाँ)
६. ऊर्ध्वा	बृहस्पति	वर्षा (वृष्टि)

४-५. पुरुषविधाः स्युरित्येकम् । अपुरुषविधाः स्युरित्यपरम् । निरुक्त ७. ६ और ७

४-६. यत् ते तनूषु-अनह्यन्त देवा द्युराजयो देहिनः । अ० १९.२०.३

४-७. देवान्.....जक्षिवांसः पपिवांसो मधूनि० । अ० ७.९७.३

४-८. न तिष्ठन्ति न निमिषन्त्येते देवानां स्पशः । अ० १८.१.९

४-९. अ० ४.१६.२ से ५

४-१०.अथर्व० ३.२७.१ से ६

एक अन्य सूक्त में इनके नाम आदि इस प्रकार दिए हैं [११]-

दिशा	देवता	बाण
१. पूर्व	हेति	अग्नि
२. दक्षिण	अविष्यु	कामदेव
३. पश्चिम	वैराज	आपः (जल)
४. उत्तर	प्रविध्यत्	वात (वायु)
५. ध्रुवा	निलिम्प	ओषधि (वनस्पतियां)
६. ऊर्ध्वा	अवस्वत्	बृहस्पति

दिशाएं, दिक्पाल एवं अधिपति - अथर्ववेद के अन्य दो सूक्तों में विभिन्न दिशाओं के ये दिक्पाल और अधिपति बताए गए हैं ।[१२]

(क) दिशा	दिक्पाल	(ख) दिशा/स्थान	अधिपति/देवता
१. पूर्व	इन्द्र	१. पूर्व	अग्नि
२. दक्षिण	धाता	२. दक्षिण	यम
३. पश्चिम	अदिति	३. पश्चिम	वरुण
४. उत्तर	सोम	४. उत्तर	सोम
		५. ध्रुवा	भूमि (पृथिवी)
		६. ऊर्ध्वा	सूर्य
		७. अन्तरिक्ष	वायु
		८.उपदिशाएँ	ब्रह्म

५. देवों की संख्या

देवों की संख्या - वेदों और ब्राह्मण ग्रन्थों में देवों की संख्या के विषय में पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है । इनमें देवों की संख्या १ से प्रारम्भ करके २, ३, १०, ३३, ३००, ३००० और ६००० तक दी गई है । मुख्यरूप से ३३ देवों का ही उल्लेख है । इसका ही संक्षिप्त विवरण यहां प्रस्तुत किया जा रहा है ।

एक देवता - मूल शक्ति या मूलदेवता एक है और वह ब्रह्म है । शतपथ ब्राह्मण में ३३ देवों का सार भाग प्रस्तुत करते हुए प्रश्न पूछा गया है कि केवल एक देवता का नाम बतावें ? इसके उत्तर में कहा गया है कि एक देवता ब्रह्म है ।[१]

४-११. अथर्व० ३.२६.१ से ६

४-१२. अथर्व० १८.३.२५ से २८ । अ० ४.४०.१ से ८

५-१. कतम एको देव इति ? स ब्रह्म त्यदित्याचक्षते । शत० १४.६.९.१०

शतपथ ब्राह्मण में ही एक अन्य स्थल पर यही प्रश्न उठाया गया कि केवल एक देवता का नाम बताइए ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया है कि एक देवता प्राणदेव है ।[२] इसका अभिप्राय यह है कि ब्रह्म और प्राण एक ही तत्त्व का नाम है । प्राण ऊर्जा शक्ति (Energy) है । ब्रह्म वस्तुतः सार्वभौम ऊर्जा या प्राण शक्ति (Universal Energy) है । विश्वव्यापी समष्टि ऊर्जा को ही ब्रह्म या प्राण कहते हैं ।

वेदों और उपनिषदों में इसी एक तत्त्व ब्रह्म का अनेक मन्त्रों में वर्णन है कि वह एक है, केवल एक है, अतः वह 'एकवृत्' (एकीकृत) कहा जाता है ।[३] वह दो, तीन, चार या दश नहीं है ।[४] अतएव ऋग्वेद में कहा गया है कि उस एकतत्त्व को ही विद्वान् इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, यम, वायु आदि नाम से पुकारते हैं ।[५] यजुर्वेद में भी कहा गया है कि उस ब्रह्म को ही अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र, ब्रह्म आदि कहा जाता है ।[६] यजुर्वेद में ही एक अन्य मन्त्र में कहा गया है कि द्युलोक और भूमि को उत्पन्न करने वाला वह एक ही देव है ।[७]

ऋग्वेद में कहा गया है कि उस एक ईश्वर से यह सृष्टि उत्पन्न हुई है । वही इसका स्वामी है ।[८] कठ उपनिषद् में कहा गया है कि वह ईश्वर एक है और सारे प्राणियों के अन्दर व्याप्त है । वह एक ही अनेक रूपों में विद्यमान है । आत्मा में विद्यमान उस ईश को जो देख लेता है, उसे स्थायी शान्ति प्राप्त होती है ।[९] माण्डूक्य उपनिषद् में उस एक परमात्मा को शान्त, शिव, अद्वैत और अनिर्वचनीय कहा गया है और उसी को उपास्य बताया गया है ।[१०]

दो देवता - शतपथ ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य से पूछा गया है कि दो देवता कौन से हैं ? इसका उत्तर उन्होंने दिया है कि अन्न और प्राण, ये ही दो देवता हैं ।[११] सारी सृष्टि को अन्न और प्राण की आवश्यकता है । यदि ये दोनों देवता न हों तो सारी सृष्टि नष्ट हो जाएगी।

५-२. कतम एको देव इति ? प्राण इति । शत० ११.६.३.१०
५-३. स एष एक एकवृदेक एव । अ० १३.४.१२
५-४. न द्वितीयो न तृतीयः...दशमो नाप्युच्यते । अ० १३.५.१६-१८
५-५. एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति० । ऋग्० १.१६४.४६
५-६. तदेवाग्निस्तदादित्यः......तद् ब्रह्म० । यजु० ३२.१
५-७. द्यावाभूमी जनयन् देव एकः । यजु० १७.१९
५-८. इयं विसृष्टिर्यत आबभूव० । ऋग्० १०.१२९.७
५-९. एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा० । कठ उप० ५.१२
५-१०.शान्तं शिवम् अद्वैतम् ....स आत्मा स विज्ञेयः । मांडू० उप० ७
५-११.कतमौ द्वौ देवाविति ? अन्नं चैव प्राणश्च । शत० १४.६.९.९

तीन देवता - शतपथ ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य से पुनः पूछा गया है कि तीन देवता कौन हैं ? इसके उत्तर में उन्होंने कहा है कि ये तीन लोक ही तीन देवता हैं । ये तीन लोक हैं - पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक ।[१२]

आचार्य यास्क ने इस विषय को और स्पष्ट करते हुए लिखा है कि देवों में तीन देवता ही मुख्य हैं । ये हैं - १. पृथिवी पर अग्नि, २. अन्तरिक्ष में वायु या इन्द्र (विद्युत्), ३. द्युलोक में सूर्य या आदित्य । ये महाभाग्यशाली देव हैं । इनके विभिन्न गुणों के कारण ही देवों के बहुत से नाम पड़ गए हैं ।[१३] इससे ज्ञात होता है कि ये तीन ही मुख्य देव हैं । अन्य देव इनके ही अंग-प्रत्यंग हैं ।

यजुर्वेद के रुद्राध्याय में रुद्र की स्तुति में देवों के हृदयस्वरूप देवों को नमस्कार किया गया है ।[१४] शतपथ ब्राह्मण में देवों के हृदय कौन हैं ? इसकी व्याख्या करते हुए स्पष्ट किया गया है कि अग्नि, वायु और आदित्य, ये तीन देवता ही देवों के हृदय हैं ।[१५] इससे स्पष्ट है कि वस्तुतः ये तीन देवता ही मुख्य देव हैं । अतएव यास्क का कथन सर्वथा उचित है कि अग्नि, वायु और सूर्य ये ही तीन देवता सबसे मुख्य हैं ।

दस देवता - अथर्ववेद में उल्लेख है कि प्रारम्भ में १० देवता इकट्ठे उत्पन्न हुए।[१६] दस देवों के नाम इस प्रकार दिए गए हैं - प्राण, अपान, चक्षु, श्रोत्र, अक्षिति और क्षिति अर्थात् अक्षय और क्षय होने वाली शक्तियां, व्यान, उदान, वाणी और मन ।[१७] इन दस देवों के नामों के परीक्षण से ज्ञात होता है कि इसमें ४ प्राण हैं, वाणी और मन तथा अक्षय एवं क्षय होने वाली शक्तियां । इस प्रकार इनमें प्राण शक्तियां, अन्तःकरण के प्रतिनिधि मन और वाणी, अक्षय शक्ति में बुद्धि आदि तथा क्षय शक्ति में कर्मेन्द्रियों आदि का संकेत है ।

३३ देव - वेदों आदि में सर्वत्र ३३ देवों का उल्लेख है । ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद में मुख्य रूप से ३३ देवों का उल्लेख है ।[१८] अथर्ववेद में उल्लेख है कि ये ३३ देवता तीन लोकों में विभक्त हैं और प्रत्येक लोक में ११-११ देव हैं । इस प्रकार द्युलोक में ११, अन्तरिक्ष में ११ और पृथिवी पर ११ ।[१९] इन ३३ देवों का आधार और निवास-

---

५-१२. कतमे ते त्रयो देवा इति ? इम एव त्रयो लोकाः । शत० १४.६.९.९

५-१३. तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः । अग्निः पृथिवीस्थानः । वायुर्वेन्द्रो वाऽन्तरिक्षस्थानः। सूर्यो द्युस्थानः । निरुक्त ७.५

५-१४. नमो.........देवानां हृदयेभ्यः । यजु० १६.४६

५-१५. अग्निर्वायुरादित्यः ....देवानां हृदयानि । शत० ९.१.१.२३

५-१६. दश साकमजायन्त देवा देवेभ्यः पुरा । अ० ११.८.३

५-१७. प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रम्० । अ० ११.८.४

५-१८ (क) ये त्रिंशति त्रयस्परो देवासो० । ऋग्० ८.२८.१

(ख) त्रयस्त्रिंशताऽस्तुवत० । यजु० १४.३१

(ग) यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवाः० । अथर्व० १०.७.२३, २७

५-१९. दिवि एकादश, अन्तरिक्षे एकादश, पृथिव्याम् एकादश. । अ० १९.२७.११ से १३

स्थान ब्रह्म या स्कम्भ ब्रह्म है ।[२०] इन ३३ देवों का काम है- उस ब्रह्मरूपी निधि की रक्षा करना ।[२१]

ब्राह्मण ग्रन्थों में इन ३३ देवों का बहुत विस्तार से वर्णन है । शतपथ ब्राह्मण में इन ३३ देवों की इस प्रकार गणना की है - ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, इन्द्र और प्रजापति।[२२] इन ३३ देवों में ८ वसु, ११ रुद्र और १२ आदित्य अर्थात् ३१ नामों पर सर्वसम्मति है । शेष दो नाम अर्थात् इन्द्र और प्रजापति के नाम पर मतभेद है । कुछ ब्राह्मणग्रन्थों में ये दो नाम पृथक् -पृथक् ढंग से दिए गए हैं जैसे- ये दो नाम हैं - (क) द्यावा-पृथिवी, (ख) प्रजापति और वषट्कार, (ग) वाक् और स्वर ।[२३]

(क) आठ वसु - शतपथ ब्राह्मण में ८ वसुओं के ये नाम दिए गए हैं -

१. अग्नि, २. पृथिवी, ३. वायु, ४. अन्तरिक्ष, ५. आदित्य, ६. द्युलोक, ७. चन्द्रमा, ८. नक्षत्र । इनको वसु कहने का कारण बताया गया है कि इनमें वसु (धन) है, ये सभी जीव-जगत् को आश्रय देते हैं, ये संसार के आधारभूत तत्त्व हैं ।[२४]

(ख) ग्यारह रुद्र - शतपथ ब्राह्मण में ११ रुद्रों के ये नाम दिए हैं :-

१. प्राण, २. अपान, ३. व्यान, ४. समान, ५. उदान (५ मुख्य प्राण), ६. नाग, ७. कूर्म, ८. कृकल, ९. देवदत्त, १०. धनंजय (५ उपप्राण), ११. आत्मा । इनको रुद्र कहने का कारण यह है कि ये प्राण जब मृत्यु के समय निकलते हैं, तो सबको रुला देते हैं । रुलाने के कारण ये रुद्र हैं ।[२५]

(ग) बारह आदित्य - शतपथ में ही १२ मासों के सूर्यों को पृथक् मानने के कारण १२ सूर्य (आदित्य) माने जाते हैं । इनको आदित्य कहने का अभिप्राय है कि ये सूर्य-किरणें जल आदि सभी वस्तुओं का रस खींच लेती हैं । इस आदान (लेना) के कारण इनका नाम आदित्य पड़ा ।[२६]

(घ) इन्द्र और प्रजापति - उपर्युक्त ३१ देवों के अतिरिक्त दो देव हैं - १. इन्द्र, २. प्रजापति । इन्द्र का अर्थ दिया है - विद्युत् । यह अन्तरिक्षस्थ देव है । प्रजापति कौन है? इसका उत्तर दिया गया है कि - यह यज्ञ प्रजापति है । यह यज्ञ-प्रक्रिया अर्थात् परमाणुओं में प्रतिक्षण विस्फोट होना ही संसार की रक्षा और प्रगति का कारण है, अतः यज्ञ प्रजापति देवता है ।[२७]

५-२०.अ० १०.७.१३

५-२१.यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवा निधिं रक्षन्ति० । अ० १०.७.२३

५-२२.अष्टौ वसवः, एकादश रुद्राः, द्वादशादित्याः० । शत० १४.६.९.३

५-२३.(क) शत० ४.५.७.२ । (ख) तांड्य ब्रा० ६.२.५ । ऐत० २.१८.३७ ।
(ग) गोपथ ब्रा० २.२.१३

५-२४.शत० १४.६.९.४

५-२५. शत० १४.६.९.५

५-२६.शत० १४.६.९.६

५-२७. शत० १४.६.९.७

देवों की संख्या सहस्रों - अथर्ववेद और शतपथ ब्राह्मण में उल्लेख है कि देवों की संक्षिप्त संख्या तीन है, परन्तु ये ही विस्तृत होकर ३००, ३००० और ६००० हो जाते हैं ।[२८] इसका अभिप्राय है कि अग्नि, वायु (इन्द्र), आदित्य ये तीन देव ही अपनी विभूतियों से विस्तृत होकर तीन सौ, तीन हजार या छह हजार देवता हो जाते हैं । अथर्ववेद में वर्णन है कि उस इन्द्र की अपनी महिमा के कारण सैकड़ों नहीं, अपितु करोड़ों रूप हो जाते हैं ।[२९]

३३ देव शरीर में - तांड्य ब्राह्मण में कहा गया है कि मनुष्य के शरीर में सभी देवों का निवास है ।[३०] शरीरविज्ञान की दृष्टि से देखने से ज्ञात होता है कि मेरुदंड (रीढ़ की हड्डी, Spinal Cord) में ३३ गोटियां (कशेरु, Vertebrae) हैं । ये सारे शरीर का संचालन और नियन्त्रण करती हैं । इनके आधार पर ही शरीर का स्वास्थ्य निर्भर है । शरीर में ये ही ३३ देवता हैं । जिनको प्रसन्न या स्वस्थ रखने पर मनुष्य दीर्घायु होता है ।

देवों के पांच वर्ग - गोपथ ब्राह्मण का कथन है कि देवों के ५ वर्ग हो गए । वे वसु, रुद्र आदि किसी विशिष्ट देवता से संबद्ध हो गए ।[३१] अतः ५ वर्ग ये बने :- १. अग्नि और वसु देवता, २. सोम और रुद्र देवता, ३. इन्द्र और मरुत् देवगण, ४. वरुण और आदित्य देवता, ५. बृहस्पति और विश्वेदेव-गण ।

देवों के दो भेद - ऐतरेय और कौषीतकि ब्राह्मणों में देवों के दो भेदों का उल्लेख है । ये दो भेद हैं- १. सोमपा, २. असोमपा ।[३२] दोनों में ३३-३३ देवता हैं । सोमपा ३३ देव हैं - ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, प्रजापति और इन्द्र या वषट्कार । सोमपान के अधिकारी देवों को सोमपा देव कहते हैं । जो सोमपान के अधिकारी नहीं हैं । वे असोमपा देव है । असोमपा ३३ देव हैं - ११ प्रयाज, ११ अनुयाज और ११ उपयाज देव ।

अग्नि और विष्णु - ऐतरेय ब्राह्मण का कथन है कि अग्नि पृथिवी स्थानीय है, अतः वह सबसे निम्न स्थानीय (अवम) है और विष्णु (सूर्य) द्यु-स्थानीय है, अतः वह सबसे ऊपर या उत्तम (परम) है । अन्य सारे देव इनके मध्य में आ जाते हैं ।[३३] सारे देवता पृथिवी और द्युलोक के मध्य में ही हैं, अतः वे सभी अग्नि और विष्णु के अन्तर्गत आ जाते हैं । पाश्चात्य विद्वानों ने अवम (निम्न) और परम (उच्च) शब्दों को लेकर यह भ्रान्ति फैलाई है कि भारतीय विष्णु को ही परम पूज्य और सर्वोत्तम देवता मानते थे और अग्नि की पूजा को निकृष्ट । परन्तु ये विचार भ्रान्तिपूर्ण हैं । इनका वास्तविक भाव ऊपर दिया गया है ।

५-२८.(क) देवाः.......त्रयस्त्रिंशत् त्रिशताः षट्सहस्राः । अ० ११.५.२

(ख) ते त्रयश्च त्री च शता, त्रयश्च त्री च सहस्रेति । शत० ११.६.३.४

५-२९.मघवन् ...यदि वासि न्यर्बुदम् । अ० १३.४. (४) ४५

५-३०.नरो वै देवानां ग्रामः । तांड्य ब्रा० ६.९.२

५-३१.पञ्चधा वै देवा व्युत्क्रामन् , अग्निर्वसुभिः, सोमो रुद्रैः० । गोपथ ब्रा० २.२.२

५-३२.सोमपाः, असोमपाः० । ऐत० ब्रा० २.१८ । कौषी०ब्रा० १२.६

५-३३.अग्निर्वै देवानाम् अवमो विष्णुः परमः० । ऐत० १.१

देव परोक्षप्रिय - गोपथ और शतपथ ब्राह्मणों में देवों की एक मुख्य विशेषता बताई गई है कि वे परोक्ष को पसन्द करते हैं, प्रत्यक्ष को नहीं ।[३४] इसका अभिप्राय यह है कि देवता प्रत्यक्ष दिखाई पड़ने वाले भौतिक विषयों की ओर आकृष्ट नहीं होते हैं, अपितु उन्हें दुःखदायी समझकर उनसे घृणा करते हैं और उन्हें हेय समझते हैं । इनके स्थान पर वे दिव्य वस्तुओं, आत्मिक शक्तियों, आत्मदर्शन आदि को स्थायी आनन्द देने वाला मानकर उनको पसन्द करते हैं और उनकी प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहते हैं ।

भूमा का महत्त्व - छान्दोग्य उपनिषद् में प्रश्न उठाया गया है कि वास्तविक सुख कहां है ? इसका उत्तर दिया गया है कि वास्तविक सुख या आनन्द महान् में है, अनन्त में है ।[३५] भूमा (भूमन्) का अर्थ है - महान् , अनन्त, विशाल, व्यापक । जो छोटा, थोड़ा या न्यून है, उसको पा लेने पर मनुष्य को वास्तविक आनन्द नहीं मिलता है । वह उससे अधिक की कामना करता है । वह मिलने पर फिर उससे अधिक की इच्छा करता है, अतः वह सुखी और प्रसन्न नहीं रहता है । इसलिए कहा गया है कि भूमा को जानो, भूमा ही सुख और आनन्द है । भूमा क्या है ? इसको स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि परमात्मा ही भूमा है । वह अमृत है । उसको जान लेने पर और उसका दर्शन कर लेने पर फिर कुछ और पाने या देखने की इच्छा नहीं रह जाती है । परमात्मा को जानना या उसका दर्शन आनन्द और अमृत के कुंड में स्नान करना है । इससे आत्मा को स्थायी आनन्द प्राप्त होता है ।

६. एकेश्वरवाद

मुख्य देवता एक ही है - ऋग्वेद और अथर्ववेद में स्पष्ट किया गया है कि यद्यपि देवों की संख्या विशाल है, तथापि मुख्य देवता एक ही है । 'एकं सद्०' कहकर यह तथ्य प्रकट किया है कि मूल तत्त्व या मूलसत्ता एक है । उस एक तत्त्व को ही विद्वान् पृथक्-पृथक् नामों से पुकारते हैं । कोई उसको इन्द्र कहता है, कोई मित्र, कोई वरुण, कोई अग्नि, कोई सुपर्ण, कोई यम और कोई मातरिश्वा अर्थात् वायु ।[१] इसी भाव को अथर्ववेद ने अन्यत्र भी प्रकट करते हुए कहा है कि वह मूलसत्ता एक ही है । उसका ही अनेक देवों के नाम से उल्लेख किया जाता है । वह पिता है, बन्धु है, सारे लोक उसमें ही लीन हो जाते हैं ।[२]

यजुर्वेद का कथन है कि उस एकतत्त्व या विराट् पुरुष को ही अग्नि, सूर्य, वायु, चन्द्र, शुक्र (वीर्य), आपः (जल), ब्रह्म और प्रजापति कहा जाता है ।[३] अथर्ववेद में बहुत

५-३४.परोक्षप्रिया इव हि देवाः... प्रत्यक्षद्विषः । गोपथ ब्रा० १.२.२१ । शत० ६.१.१.२

५-३५.यो वै भूमा तत् सुखं, नाल्पे सुखमस्ति० । छान्दो०उप० ७.२३

६-१. इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः.......
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति० । ऋग्० १.१६४.४६ । अ० ९.१०.२८

६-२. स नः पिता .....यो देवानां नामधा एक एव० । अ० २.१.३

६-३. तदेवाग्निस्तदादित्यः.....तद् ब्रह्म ....स प्रजापतिः । यजु० ३२.१

विस्तार से वर्णन किया गया है कि वह मूल तत्त्व एक ही है, दो, तीन, चार या दस आदि नहीं।[4] उसको 'एकवृत् एक:' कहते हैं, अर्थात् वह देवों की समष्टि है । उसके ही व्यष्टि रूप में अनेक नाम हैं ।[5] इस सूक्त में २० से अधिक देवों के नाम गिनाते हुए कहा गया है कि उसे ही अग्नि, सूर्य, यम, रुद्र, महादेव, धाता, विधाता, मित्र, वरुण, मृत्यु, श्रद्धा आदि कहा जाता है ।[6] अथर्ववेद के ही एक अन्य सूक्त में कहा गया है कि उस एकदेव के ही इन्द्र, महेन्द्र, लोक, प्रजापति, विष्णु आदि नाम हैं ।[7]

ऋग्वेद और अथर्ववेद में यही भाव अनेक मंत्रों में दिया गया है । ऋग्वेद में इसका विस्तृत वर्णन करते हुए कहा गया है कि वह एक तत्त्व ही विभिन्न सारे रूपों को अपनाता है । जैसे - एक अग्नि के नाना रूप हैं, जैसे - एक सूर्य सारे लोकों में प्रकाशित हो रहा है, जैसे - एक उषा सर्वत्र नाना रूपों में दिखाई देती है, उसी प्रकार यह एक तत्त्व या एक देवता सारे विभिन्न रूप धारण करता है ।[8]

अथर्ववेद में इस एक देवता या महासत्ता को केन्द्रीय शक्ति बताते हुए कहा गया है कि यह केन्द्रीय शक्ति है, अन्य सभी देव इस महाशक्ति के चारों ओर घूमते हैं ।[9] यही भाव कठ उपनिषद् में दिया गया है कि उस ब्रह्म या महासत्ता के प्रकाश से ही सारे देवता प्रकाशित हो रहे हैं ।[10]

कठ उपनिषद् के चार श्लोकों में इसकी व्याख्या करते हुए कहा गया है कि वह एक ईश्वर सारे प्राणियों के अन्दर विद्यमान है । वह अकेला होते हुए भी नाना रूपों को धारण करता है । उसका साक्षात्कार करके ही मनुष्य को आत्मिक शान्ति प्राप्त होती है ।[11] अग्नि, वायु और सूर्य का उदाहरण देकर बताया गया है कि जैसे-अग्नि आदि देखने को एक दीखते हैं, परन्तु ये ही अनेक स्थानों पर अपना रूप बदलकर नाना रूपों में प्रकट हो रहे हैं, उसी प्रकार वह एक परमात्मा नाना शक्ति का रूप धारण करके अनेक रूपों में दिखाई देता है ।[12]

६-४. न द्वितीयो न तृतीयः० । अ० १३.४.१६

६-५. स एष एक एकवृदेक एव । अ० १३.४.१२

६-६. सो अग्निः स उ सूर्यः० । अ० १३.४.१ से २८

६-७. त्वमिन्द्रः, त्वं महेन्द्रः० । अ० १७.१.१८

६-८. एकं वा इदं वि बभूव सर्वम् । ऋग्० ८.५८.२

६-९. एको विभुः ... तं वर्तनिरनु वावृत एकमित् पुरु । अ० ७.२१.१

६-१०. तमेव भान्तमनु भाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति । कठ० २.५.१५

६-११. एको वशी ..... एकं रूपं बहुधा यः करोति । कठ० २.५.१२

६-१२. अग्निर्यथैको .....रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव । कठ० २.५.९ से ११

यास्क और एकात्मवाद - निरुक्त में आचार्य यास्क का कथन है कि वह एक देवता महाशक्तिशाली है । उस एक देवता की ही अनेक देवों के नाम से स्तुति की जाती है । अन्य सभी देव उस महान् देव के अंग-प्रत्यंग हैं ।[१३] इसका अभिप्राय यह है कि मुख्य देवता एक ही है । उसको ही ईश्वर, अग्नि, इन्द्र, ब्रह्म आदि विभिन्न नामों से पुकारा जाता है । वह सर्वशक्तिमान् है । उसकी विभिन्न शक्तियों के नाम पर देवों के विभिन्न नाम हैं । जैसे-शक्ति के आधार पर इन्द्र, सोम्यता के आधार पर सोम, वृष्टिकर्ता के आधार पर मरुत्, ज्ञान के आधार पर बृहस्पति आदि । शतपथ ब्राह्मण में इसको और स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जैसे- एक तत्त्व को ही श्वास लेने के आधार पर प्राण, बोलने के आधार पर वाणी या वाक् , देखने के आधार पर चक्षु या नेत्र, सुनने के आधार पर श्रोत्र, मनन करने के आधार पर मन आदि कहते हैं । जो इनमें से एक -एक की उपासना करता है, वह पूर्ण तत्त्व को नहीं जान पाता, क्योंकि प्राण, चक्षु, मन आदि उसके एक अंग हैं । ये पूर्ण तत्त्व नहीं हैं । ये सब एक-एक अपूर्ण तत्त्व हैं । ये सब नाम विभिन्न कर्मों के आधार पर पड़े हैं और किसी एक अंग के बोधक हैं ।[१४]

एक ही देव उपास्य - शतपथ ब्राह्मण में ही आगे स्पष्ट किया गया है कि किस देवता की उपासना करें ? चक्षु, नेत्र, वाणी, मन आदि को उस आत्मा का एक कर्म करने के कारण 'कर्मदेवता' नाम दिया है । एक अंग की उपासना पूर्ण उपासना नहीं है, क्योंकि वह संपूर्ण का एक अंशमात्र है । अतः शतपथ ब्राह्मण ने स्पष्ट आदेश दिया है कि पूर्ण तत्त्व वह आत्मा या परमात्मा है । उसकी ही उपासना करनी चाहिए, क्योंकि सारे देवता उसमें एकीकृत या समष्टिरूप में विद्यमान हैं ।[१५] शतपथ में आगे स्पष्ट किया गया है कि जो अन्य देवों की उपासना करता है, वह अपूर्ण उपासना है । अतएव वह उपासक अज्ञानी या पशु है ।[१६] इसका अभिप्राय यह है कि उपासना पूर्णतत्त्व की करनी चाहिए । उससे ही सारे मनोरथ सिद्ध होगें । जैसे- पेड़ को सींचने के लिए उसके मूल (जड़) में पानी डालते हैं। वह पानी स्वयं पेड़ के सभी शाखा-प्रशाखाओं और पत्तों तक पहुंच जाता है । परमात्मा के अतिरिक्त किसी अन्य देवता की उपासना ऐसे ही है, जैसे-मूल को न सींचकर शाखा-प्रशाखा या पत्तों को सींचना । पेड़ को सींचने के लिए केवल पत्रों आदि को सींचना अज्ञानता का प्रतीक है । उसी प्रकार परमात्मा की उपासना न करके अन्य देवों की उपासना अपूर्ण और एकांगी है तथा उसका फल भी अपूर्ण प्राप्त होता है ।

६-१३.माहाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते ।
एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति । निरुक्त ७.४

६-१४.प्राणन् एव प्राणः, वदन् वाक्, मन्वानो मनः० । शत० १४.४.२.१७

६-१५.आत्मा-इत्येव उपासीत । अत्र ह्येते सर्व एकीभवन्ति । शत० १४.४.२.१८

६-१६.योऽन्यां देवतामुपास्ते, न स वेद, यथा पशुरेवं स देवानाम् । शत० १४.४.२.२२

७. त्रैतवाद

त्रैतवाद - त्रैतवाद क्या है ? त्रैतवाद का अर्थ है - तीन तत्त्वों को मौलिक पदार्थ मानना । यह सत्य है कि मूल तत्त्व एक है, परन्तु व्यवहार की दृष्टि से तीन तत्त्व मौलिक या अनादि हैं । ये हैं - ईश्वर (परमात्मा), जीव (जीवात्मा) और प्रकृति । ये तीनों अनादि हैं । इनके गुण-धर्मों में भिन्नता है । तीनों में सत् (सत्ता) तत्त्व विद्यमान है । सत् और चित् (चेतना) धर्म केवल दो में है । ये हैं -ईश्वर और जीव । सत् , चित् और आनन्द धर्म केवल ईश्वर में हैं, अतः वही सच्चिदानन्द है ।

यहां ध्यान देने योग्य बात यह है कि प्रकृति में केवल सत् (सत्ता) तत्त्व है । वह अनादि है, उसका अस्तित्त्व है और वह जड़रूप है । उसमें न चित् (चेतना) धर्म है और न आनन्द । अतएव वह अनादि होते हुए भी उपासना के योग्य नहीं है । इसके बाद जीव (जीवात्मा) है । इसमें केवल दो गुण हैं - सत् और चित् । इसमें सत्ता है, चेतनता है, पर आनन्दगुण नहीं है । यह अल्पज्ञ है, एकदेशी है, अल्पशक्ति वाला है और सभी प्रकार के कर्म करने वाला, अतः कर्मफल का भोक्ता है । यह अपूर्ण है । इसमें आनन्दगुण न होना बड़ी न्यूनता है । केवल ईश्वर में ही तीन गुण हैं - सत् , चित् और आनन्द, अतः वह सच्चिदानन्द-रूप है । अपनी अल्पज्ञता को दूर करने और आनन्द की प्राप्ति के लिए ही जीव परमात्मा की शरण में जाता है । ईश्वर के दर्शन और साक्षात्कार से जीव की अल्पज्ञता दूर होती है, उसकी शक्ति बढ़ती है और वह आनन्द प्राप्त करता है । यह है त्रैतवाद का यथार्थ स्वरूप ।

वेदों में त्रैतवाद - ऋग्वेद और अथर्ववेद के एक मंत्र में त्रैतवाद का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन है । मंत्र में रूपक अ़लंकार के द्वारा इस भाव को स्पष्ट किया गया है । इस संसार को एक वृक्ष बताते हुए कहा गया है कि - एक वृक्ष है, उस पर दो पक्षी बैठे हैं । ये दोनों पक्षी साथ रहते हैं और मित्र हैं । इनमें से एक पक्षी वृक्ष के मधुर फलों को खाता है और उनका उपभोग करता है । दूसरा पक्षी फल नहीं खाता । वह साक्षी के रूप में बैठा रहता है और केवल प्रकाश करता है ।[1]

इस मंत्र में प्रकृति को वृक्ष कहा गया है, क्योंकि वह जड़ है । इस पर बैठने वाले दो पक्षी ईश्वर और जीव हैं । इनमें से एक पक्षी जीवात्मा कर्म करता है, फल खाता है, संसार की सभी वस्तुओं का उपभोग करता है और अपने कर्मों का फल भोगता है । दूसरा पक्षी ईश्वर है । वह न कर्म करता है और न कर्मफल के बन्धन में पड़ता है । वह निर्लेप, शुद्ध बुद्ध और मुक्त है । वह केवल साक्षी है, ज्योतिर्मय है, अतः मार्गदर्शक है । वह सूर्य की तरह प्रकाश देता है और प्रेरणा का स्रोत है । इस मंत्र में स्पष्ट रूप से त्रैतवाद का समर्थन है ।

७-१. द्वा सुपर्णा सयुजा स़खाया० । ऋग्० १.१६४.२० । अ० ९.९.२०

इसी सूक्त में आगे एक मंत्र में कहा गया है कि इस वृक्ष पर अनेक पक्षी बैठते हैं और मधुर फल खाते हैं। इस वृक्ष की सबसे ऊँची चोटी पर अति मधुर फल लगे हैं। जो संसार के पिता ईश्वर को नहीं जानता, वह उस मधुर फल को नहीं प्राप्त कर सकता।[२] इसका अभिप्राय है कि जिसको आत्मज्ञान नहीं होता है, उसको अमृत या मोक्षरूपी अतिमधुर फल प्राप्त नहीं हो सकता है।

ऋग्वेद और अथर्ववेद के एक अन्य मंत्र में भी त्रैतवाद का प्रतिपादन मिलता है।[३] इसमें ईश्वर, जीव और प्रकृति इन तीन तत्त्वों को तीन भाई बताया गया है। इसमें कहा गया है कि इनमें सबसे बड़ा भाई बहुत वृद्ध हो गया है। मध्यम भाई खाने-पीने वाला है। तीसरे भाई की पीठ पर घी रहता है। यहाँ पर एक प्रजापालक देव है। उसके सात पुत्र हैं। इसका अभिप्राय है कि बड़ा वृद्ध भाई ईश्वर है। इस वृद्धता के आधार पर ही ईश्वर को पुराण पुरुष कहते हैं। दूसरा मध्यम भाई जीवात्मा है। यह संसार के विषयों का उपभोग करता है और विविध रसों का आस्वादन करता है। तीसरा भाई प्रकृति या संसार है। इसमें घी अर्थात् सुखद भौतिक तत्त्व हैं, जिनका उपभोग जीवात्मा करता है। यहाँ प्रजापालक देव ईश्वर है। उसके सात पुत्र हैं। ये सात पुत्र हैं - बुद्धि, मन और ५ ज्ञानेन्द्रियां।

यजुर्वेद के ४०वें अध्याय में भी त्रैतवाद का प्रतिपादन है। 'ईशावास्यमिदं सर्वम्० मंत्र में तीन तत्त्वों का वर्णन है।[४] ये हैं - १. ईश्वर - यह संसार में सर्वत्र व्याप्त है। २ जीवात्मा - कर्मफल का भोग करता है। ३. जगत् - इस जगत् या प्रकृति में ईश्वर व्याप्त है। इस प्रकार इन मंत्र में तीनों ईश्वर जीव और प्रकृति का वर्णन है। एक अन्य मंत्र में वर्णन है कि जो जीव सारे प्राणियों में आत्मा (परमात्मा) को देखता है और आत्मा (परमात्मा) में सब जीवों को देखता है, वह कभी सन्देह नहीं करता है और न दुःख पाता है।[५] इस मंत्र में ईश्वर और जीव की पृथक् सत्ता का वर्णन है।

ब्रह्म तीन तत्त्वों का समन्वय - श्वेताश्वतर उपनिषद् में इस विषय को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि ईश्वर, जीव और प्रकृति इन तीनों का समन्वित रूप ब्रह्म है। इनमें से दो ईश्वर और जीवात्मा अज (अजन्मा, अनादि) हैं। इन दोनों में भी अन्तर है। एक ईश्वर सर्वज्ञ है और दूसरा जीवात्मा अल्पज्ञ। तीसरा तत्त्व प्रकृति है। यह पुरुष के भोग के लिए है।[६] एक अन्य श्लोक में कहा गया है कि इन तीनों में से एक जीवात्मा भोक्ता है, प्रकृति भोग्य है और तीसरा ईश्वर केवल प्रेरक है। इन तीनों का समन्वित रूप ब्रह्म है।[७]

७-२. तन्नोन्नशद् यः पितरं न वेद। ऋग्० १.१६४.२२
७-३. अस्य वामस्य पलितस्य होतुः०। ऋग्० १.१६४.१। अ० ९.९.१
७-४. ईशा वास्यमिदं सर्वम्०। यजु० ४०.१
७-५. यस्तु सर्वाणि भूतानि०। यजु० ४०.६
७-६. ज्ञाज्ञौ द्वौ ....त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत्। श्वेता० १.९
७-७. भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं .....त्रिविधं ब्रह्ममेतत्। श्वेता० १.१२

८. बहुदेवतावाद

बहुदेवतावाद का मन्तव्य है कि देवता एक नहीं है, अपितु अनेक हैं । ये स्वतंत्र हैं। इनके नाम-रूप भिन्न हैं । इनके गुण-धर्म भी भिन्न हैं । इनकी उपासना का फल भी भिन्न है । ये पृथक्-पृथक् मनोरथों को पूर्ण करते हैं । इनमें कुछ में मित्रभाव है, कुछ में विरोध।

निरुक्त में इनको तीन भागों में बांटा गया है - **१. द्युस्थानीय**- द्युलोक में विद्यमान जैसे- सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र आदि । **२. अन्तरिक्ष-स्थानीय** - अन्तरिक्ष में विद्यमान । जैसे- विद्युत् , मेघ, पर्जन्य, मरुत् आदि । **३. पृथिवी-स्थानीय** - पृथिवी पर विद्यमान । जैसे- अग्नि, वृक्ष, वनस्पति, पर्वत, जातवेदस् , वैश्वानर आदि ।

मुख्य देवों के नाम - ऋग्वेद और अथर्ववेद के एक सूक्त में मुख्य देवों के नाम इस प्रकार गिनाए गए हैं[१] :- इन्द्र, अग्नि, वरुण, सोम, पूषन् , भग, अर्यमा (अर्यमन्), मित्र, धाता, वात (वायु), द्यावापृथिवी, अन्तरिक्ष, ओषधियां, विष्णु, वसुगण, आदित्य, रुद्र, त्वष्टा, सूर्य, दिशाएं, पर्वत, सिन्धु, जल (आपः), अदिति, मरुत् , वायु, सविता, उषस्, पर्जन्य, शंभु, विश्वेदेव, सरस्वती, ऋभुगण, अज एकपाद् , अहिर्बुध्न्य, समुद्र, अपांनपात् ।[२] अन्यत्र कुछ देवों के नाम ये दिए गए हैं :- अश्विनौ, ब्रह्मणस्पति, ब्रह्मा ।[३]

विभिन्न देवों के नाम - अथर्ववेद के एक सूक्त में बहुत विस्तार से देवों के नाम गिनाए गए हैं और इनसे प्रार्थना की गई है कि ये हमें सभी प्रकार के पापों से बचावें । इन मंत्रों में २६५ देवों के नाम दिए गए हैं ।[४]

देवों में वर्ण-व्यवस्था - शतपथ ब्राह्मण में एक रोचक प्रसंग दिया गया है । इसमें देवों में भी वर्ण-व्यवस्था का वर्णन है । इनमें से कुछ ब्राह्मण वर्ग में आते हैं, कुछ क्षत्रिय वर्ग में, कुछ वैश्य (विश्) वर्ग में और कुछ शूद्रवर्ग में ।

(क) ब्राह्मणवर्ग - ब्रह्म, विराट् , ईश्वर, प्रजापति आदि ।

(ख) क्षत्रियवर्ग - इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, पर्जन्य, यम, मृत्यु, ईशान ।[५]

(ग) वैश्यवर्ग - जो देवता समूह रूप में गिने जाते हैं, वे सभी वैश्यवर्ग में आते हैं । जैसे - ८ वसु (५ भूत आदि), रुद्र (११ प्राण आदि), आदित्य (१२ सूर्य), विश्वेदेव (देवों का समूह), मरुत्गण (मरुत् देवों का समूह)[६]

८-१. अग्निः पृथिवीस्थानः । वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः । सूर्यो द्युस्थानः । निरुक्त ७.५

८-२. ऋग्० ७.३५.१ से १५ । अ० १९.१०.१०

८-३. अथर्व० ३.१६.१ । ३.२०.२ से ७

८-४. अथर्व० ११.६.१ से २३

८-५. एतानि देवत्रा क्षत्राणि-इन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः० । शत० १४.४.२.२३

८-६. स विशम् असृजत । यान्येतानि देवजातानि गणश आख्यायन्ते । वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इति । शत० १४.४.२.२४

(घ) शूद्रवर्ग - शतपथ ब्राह्मण में शिल्पी वर्ग को शूद्र वर्ग में रखा गया है । जैसे- पूषा (पूषन्) देवता । यह पशुओं का रक्षक है । इस प्रकार के देवों में तक्षन् , त्वष्टा आदि की भी गणना होगी ।[७]

इस प्रकार वेदों में बहुदेवतावाद का भी दर्शन होता है ।

८-७. स शौद्रं वर्णम् असृजत पूषणम् । शत० १४.४.२.५५

अध्याय - ९

मनोविज्ञान

१. मनोविज्ञान का स्वरूप

मनोविज्ञान क्या है ? - मनोविज्ञान विज्ञान का एक महत्त्वपूर्ण अंग है । विज्ञान के अन्य विभिन्न अंग भौतिक जगत् के तत्त्वों का विश्लेषण करते हैं, परन्तु मनोविज्ञान मानव-शरीर के अन्दर विद्यमान मनस् तत्त्व का चिन्तन, मनन और विश्लेषण करता है । मनोविज्ञान को Psychology (साइकोलॉजी) कहा जाता है । Psychology शब्द Psycho (ग्रीक शब्द Psyche अर्थात् Spirit, Mind, आत्मा, मन) और Logy (ग्रीक शब्द Logia अर्थात् विज्ञान) शब्दों के मेल से बनता है । इसका अर्थ है - मन का विज्ञान या मन की विभिन्न गतिविधियों का विज्ञान । मन के समस्त क्रिया-कलाप का वैज्ञानिक अध्ययन और विश्लेषण इस विज्ञान का विषय है । वेद और भारतीय दर्शनों में भी मन की इन विशेषताओं और क्रियाकलाप का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

मनोविज्ञान का सम्बन्ध दर्शन और विज्ञान दोनों विधाओं से है । मन और मन की विविध चेष्टाओं का विवेचन एवं विश्लेषण, यह दर्शन का विषय है । मन के विविध क्रिया-कलाप का यन्त्रों के द्वारा सूक्ष्मतम निरीक्षण और परीक्षण तथा उन परीक्षणों के फलस्वरूप विविध निष्कर्ष निकालना आदि विज्ञान का विषय है । इस प्रकार मनोविज्ञान का दर्शनशास्त्र और विज्ञान दोनों विधाओं से सम्बन्ध है ।

मनोविज्ञान के विषय - वर्तमान मनोविज्ञान के अन्तर्गत सामान्यतया ये विषय लिए जाते हैं - स्नायु-तन्त्र (Nervous System), संवेदना (Sensation), प्रत्यक्षीकरण (Perception), ध्यान या अवधान (Attention), सीखना (Learning), स्मरण (Remembering), विस्मरण (Forgetting), कल्पना (Imagination), चिन्तन (Thinking), अनुभूति या भाव (Feeling), संवेग (Emotion), प्रेरणा (Motivation), चेतना (Consciousness), स्वप्न (Dream), बुद्धि (Intelligence), योग्यताएं या क्षमता (Aptitude), व्यक्तित्व (Personality), वंशानुक्रम एवं पर्यावरण या वातावरण (Heredity and environment), विफलता (Frustration) आदि ।

वेदों में मनोविज्ञान का बहुत विस्तृत विवेचन नहीं हुआ है । वेदों में जो विवेचन प्राप्त होता है, वह अधिकांशतः दार्शनिक और आध्यात्मिक है ।

२. वैदिक वाङ्मय में मनस्-तत्त्व

वेदों में मनोविज्ञान का जो संक्षिप्त विवेचन प्राप्त होता है, उसका कुछ विकसित रूप हमें ब्राह्मण ग्रन्थों और उपनिषदों में प्राप्त होता है। इनमें मन के गुण-कर्म, स्वरूप और क्रिया-कलाप की समीक्षा है। इसका ही संक्षिप्त विवरण यहां प्रस्तुत किया जा रहा है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में मन को संसार की सबसे बड़ी और महान् शक्ति ब्रह्म कहा गया है।[१] इसका अभिप्राय है कि मन सर्वोच्च सत्ता है और वही संसार का नियामक है। शतपथ ब्राह्मण में इसी बात को और स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि मन परम ब्रह्म है और संसार का सम्राट् अर्थात् सर्वोच्च नियन्ता है।[२] मन को सृष्टि का कर्ता-धर्ता बताते हुए, उसे ब्रह्मा कहा गया है।[३] इसी कर्तृत्व के आधार पर उसको प्रजापति या सृष्टि-निर्माता कहा गया है।[४] मन को यजुर्वेद और शतपथ ब्राह्मण में भरद्वाज ऋषि बताते हुए कहा गया है कि यह संसार का पालक है, पोषणकर्ता है (वाज-अन्न, शक्ति, भरद् -देने वाला)।[५]

मन महान् शक्ति है। मनन और चिन्तन मन का व्यापार है। कल्पना मन का कार्यक्षेत्र है। मनुष्य जैसी कल्पना करता है, जैसा चिन्तन करता है, वैसा ही उसका स्वरूप हो जाता है। मन सुख मानता है, तो सुख है और दुःख मानता है तो दुःख की अनुभूति होती है। अतः मन का ही व्यापार सुख-दुःख और संसार कहा जाता है। इसीलिए मन को 'सर्वम्' (सब कुछ) कहा गया है।[६] मन की शक्तियां अनन्त हैं, अतः उसे अनन्त और अपरिमित कहा गया है।[७] अपरिमित कहने का अभिप्राय है कि मन की शक्तियों की कोई सीमा नहीं है, वे असीम हैं और असंख्य शक्तियों से युक्त हैं। मन एक ज्योति है। वह दिव्य गुणों से युक्त है। वह मानव शरीर में एक देवता की तरह प्रतिष्ठित है, अतः उसे देव कहा गया है।[८]

मन में प्रेरणाशक्ति है, वह मानव को कर्म करने के लिए प्रेरित करता है। वह शक्ति और उत्साह का स्रोत है। वह आग्नेय तत्त्व है, उसमें अग्नि के गुण है, अतः उसे अग्नि कहा गया है।[९] वह मानव का प्रेरक है। उसमें प्रेरणा देने की शक्ति है, अतः उसे सविता

२-१. मनो ब्रह्म। गोपथ ब्रा० १.२.१०

२-२. मनो वै सम्राट्, परमं ब्रह्म। शत० १४.६.१०.१५

२-३. मन एव ब्रह्मा। गोपथ ब्रा० १.२.१० । २.५.४

२-४. मनो वै प्रजापतिः। तैत्ति०ब्रा० ३.७.१.२

२-५. मनो वै भरद्वाज ऋषिः। यजु० १३.५५ । शत० ८.१.१.९

२-६. मन एव सर्वम्। गोपथ ब्रा० १.५.१५

२-७ (क) अनन्तं वै मनः। शत० १४.६.१.११

(ख) मनो वा अपरिमितम्। कौषीतकि० २६.३

२-८. मनो देवः। गोपथ० १.२.११

२-९. मन एवाग्निः। शत० १०.१.२.३

अर्थात् प्रेरक और सूर्य कहा गया है ।[१०] मन कल्पनाओं और शक्तियों का अनन्त भण्डार है, वह अगाध और अथाह है, अतः उसे समुद्र कहा गया है ।[११] मन कल्पनाओं और विचारों का भण्डार है, अतः उसे एक महानदी मानते हुए वाणी को उसकी एक नहर कहा गया है, क्योंकि वाणी ही मन के विचारों को प्रकाशित और अभिव्यक्त करती है ।[१२]

ऐतरेय ब्राह्मण में मन को प्रजापति या ब्रह्म का एक विशिष्ट शरीर बताया गया है।[१३] इसका अभिप्राय यह है कि मानव-शरीर में मन ब्रह्म का प्रतिनिधि होकर शरीरधारी के रूप में प्रतिष्ठित है और वह सारे मानसिक व्यापारों का संचालन करता है । मन और वाणी का विशेष सम्बन्ध है । जो मन सोचता है, उसे वाणी प्रकट करती है । मन के भावों और विचारों को व्यक्त करने का एकमात्र साधन वाणी है । अतएव तांड्य ब्राह्मण में कहा गया है कि मन जो सोचता है, वाणी उस विचार को व्यक्त करती है ।[१४]

शतपथ ब्राह्मण का कथन है कि मन का प्राणों पर पूर्ण अधिकार है, अतः उसे प्राणों का स्वामी या अधिपति कहा जाता है । मन प्राणों को जो आदेश देता है, उसी प्रकार प्राण चलते हैं ।[१५] इसका अभिप्राय यह है कि मन के आदेशानुसार ही स्नायु-मंडल और रक्त-संचार प्रणाली का संचालन होता है । शतपथ ब्राह्मण ने महत्त्वपूर्ण बात कही है कि मन में ही आत्मा (जीवात्मा, चेतना) प्रतिष्ठित है, अर्थात् आत्मा के सब काम मन के द्वारा ही होते हैं ।[१६] एक अन्य महत्त्वपूर्ण बात कही है कि ज्ञानेन्द्रियों के सब काम मन के द्वारा ही किए जाते हैं । देखना, सुनना, सूंघना आदि काम मन के द्वारा ही होता है । इस प्रकार प्रत्यक्षीकरण का काम मन करता है ।[१७] अन्यमनस्क होने पर कहा जाता है कि मैंने यह बात नहीं सुनी, मैंने यह वस्तु नहीं देखी, इत्यादि ।

शतपथ ब्राह्मण में एक अन्य महत्त्वपूर्ण बात कही गई है कि ये सभी विभिन्न तत्त्व या कार्य मन के ही विभिन्न रूप हैं - काम (कामना, इच्छा), संकल्प (विचार, चिन्तन), विचिकित्सा (सन्देह, ऊहापोह), श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति (धैर्य), अधृति (अधीरता), ह्री (लज्जा), धी (ज्ञान), भी (भय, आशंका) आदि ।[१८]

२-१०. मनो वै सविता । शत० ६.३.१.१३

२-११. मनो वै समुद्रः । शत० ७.५.२.५२

२-१२. तस्य (मनसः) एषा कुल्या यद् वाक् । जैमि०उप०ब्रा० १.५८.३

२-१३. अपूर्वा (प्रजापतेस्तनूः) तन्मनः । ऐत० ५.२५

२-१४. यद् हि मनसाऽभिगच्छति तद् वाचा वदति । तांड्य० ११.१.३

२-१५. मनो वै प्राणानामधिपतिः । शत० १४.३.२.३

२-१६. मनसि हि- अयमात्मा प्रतिष्ठितः । शत० ६.७.१.२१

२-१७. मनसा ह्येव पश्यति, मनसा शृणोति । शत० १४.४.३.८

२-१८. कामः संकल्पो विचिकित्सा, श्रद्धाऽश्रद्धा, धृतिरधृतिः, ह्रीः, धीः, भीः, इत्येतत् सर्वं मन एव। शत० १४.४.३.९

इसी प्रकार उपनिषदों में भी मन के गुण-धर्मों का विस्तृत विवेचन मिलता है। बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि मन सम्राट् है, वह परम ब्रह्म है।[१९] इसका अभिप्राय है कि मन महान् शक्ति है। उसका संसार के सभी कार्यों पर पूर्ण अधिकार है। मन प्रकाशक है, वह ज्योतिरूप है।[२०] वह ज्ञानरूपी ज्योति का दाता है, अतः उसे ज्योति कहा जाता है।

मन चेतना-स्वरूप (Consciousness) है। मानव के चरित्र का निर्माण चेतना करती है। जैसी मन की प्रवृत्ति होती है, वैसा ही मनुष्य का स्वभाव और उसका व्यक्तित्व विकसित होता है। अतः उपनिषद् का कथन है कि मनुष्य मनोमय है।[२१] मनुष्य के मन का अध्ययन उसके व्यक्तित्व का अध्ययन है। उसकी इच्छाएं, उसके संकल्प, उसके व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं। अतः उपनिषद् ने पुरुष को काममय या इच्छा-स्वरूप कहा है।[२२]

मन का स्वरूप चेतनता है। अतः शरीर में मन को आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है।[२३] मन में कर्तृत्व और निर्मातृत्व गुण हैं, अतः वह आत्मा का प्रतिनिधि है। प्राणमय शरीर से मनोमय शरीर सूक्ष्म है, अतः मनोमय शरीर को सूक्ष्म आत्मा बताया गया है।[२४]

यह सारी सृष्टि एक महान् यज्ञ है। इस सृष्टिरूपी यज्ञ में मन ही ब्रह्मा है। वही इस सृष्टिचक्र का निर्देशक और नियामक है।[२५] मन की शक्तियां अनन्त हैं, अतः उसे अनन्त कहा गया है।[२६] परमात्मा की प्राप्ति का साधन भी मन है, अतः कठ उपनिषद् में कहा गया है कि मन से ही परमात्मा को प्राप्त किया जा सकता है। मन ही परमात्मा का साक्षात्कार करता है।[२७]

३. मन का स्वरूप

अथर्ववेद और मनोविज्ञान - वर्तमान मनोविज्ञान के अनुसार मनोविज्ञान में मन के स्वरूप और गुण-कर्मों का अध्ययन किया जाता है। इनके अन्तर्गत संवेदना, प्रेरणा, चिन्तन आदि विषय आते हैं। अथर्ववेद के एक मंत्र में सूत्ररूप में मनोविज्ञान के सभी विषयों का संकलन है। मंत्र है :-

---

२-१९. मनो वै सम्राट् परमं ब्रह्म। बृहदा० उप० ४.१.६
२-२०. मनो ज्योतिः। बृहदा०उप० ३.९.१०
२-२१. अयं पुरुषो मनोमयः। तैत्ति० उप० १.६.१। बृहदा० उप० ५.६.१
२-२२. अयं काममयः पुरुषः। बृहदा० ३.९.११
२-२३. मन एवास्य आत्मा। बृहदा० १.४.१७
२-२४. अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः। तैत्ति० उप० २.३
२-२५. मनो वै यज्ञस्य ब्रह्मा। बृहदा० ३.१.६
२-२६. अनन्तं वै मनः। बृहदा० ३.१.९
२-२७. मनसैवेदम् आप्तव्यम्। कठ० २.१.११

मनसे चेतसे धिय आकूतय उत चित्तये ।
मत्यै श्रुताय चक्षसे, विधेम हविषा वयम् ।। अथर्व० ६.४१.१

मंत्र में 'मनसे' 'चेतसे' आदि ८ विशेषणों से मन के स्वरूप और गुण-कर्मों का वर्णन है। इन आठ विशेषणों में मनोविज्ञान के प्रायः सभी विषय समाहित हो जाते हैं। इस मंत्र में '**मनसे**' (मन या चिन्तन के लिए) के द्वारा संवेदना (Sensation) और प्रेरणा (Motivation) का ग्रहण है। '**चेतसे**' (चेतना के लिए) के द्वारा चेतना (Consciousness) और चिन्तन (Thinking) अभिप्रेत है। '**धिये**' (धी के लिए) के द्वारा ध्यान या अवधान (Attention) अभिप्रेत है।'**आकूतये**' (ज्ञान के लिए) के द्वारा अनुभूति (Feeling) और संवेग (Emotion) का ग्रहण है। '**चित्तये**' (चित्त के कर्मों के लिए) के द्वारा चित्त के धर्म स्मरण (Remembering) और उसके अभावरूप में विस्मरण (Forgetting) का ग्रहण है। '**मत्यै**' (बुद्धि के लिए) के द्वारा बुद्धि (Intelligence) अभिप्रेत है।'**श्रुताय**' (अध्ययन के लिए) के द्वारा श्रवण, पठन एवं शिक्षण (Learning) का ग्रहण है।'**चक्षसे**' (दर्शन के लिए) के द्वारा चक्षु (नेत्र) के कार्य, दर्शन या प्रत्यक्षीकरण (Perception) अभिप्रेत है।

इस मंत्र से ज्ञात होता है कि वैदिक ऋषियों ने किस प्रकार सूत्र रूप में मंत्रों में विविध ज्ञान-विज्ञान का वर्णन किया है।

शिव-संकल्प-सूक्त - यजुर्वेद के ३४वें अध्याय के प्रारम्भिक ६ मंत्रों को 'शिवसंकल्प-सूक्त' कहा जाता है। इसमें प्रत्येक मंत्र के अन्त में 'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु' (मेरा मन शुभ विचारों से युक्त हो) यह सुभाषित दिया गया है। इन मंत्रों में मन के विषय में अनेक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्य दिए गए हैं।

मन दिव्य ज्योति है - प्रथम मंत्र में कहा गया है कि मन की गति अतितीव्र है, यह बहुत दूर तक जाता है। यह न केवल जागृत अवस्था में ही दूर तक जाता है, अपितु स्वप्न-अवस्था में भी उसी प्रकार दूर-दूर तक जाता है। यह ज्योतियों की ज्योति और प्रकाशों का प्रकाशक है। यह एक प्रकाश है, जो ज्ञान-विज्ञान के सभी तत्त्वों को प्रकाशित करता है। यह चेतना (Consciousness) का आधार है।[१]

मन मानव का प्रेरक है - द्वितीय मंत्र में बताया गया है कि मन प्रेरक तत्त्व है। यह विद्वानों आदि को यज्ञ एवं शास्त्रीय ज्ञान के लिए प्रवृत्त करता है। यह प्राणिमात्र के अन्दर विद्यमान एक पूज्य यक्ष है।[२] मंत्र में स्पष्ट किया गया है कि मन ही प्रेरणा (Motivation) का स्रोत है।

३-१. यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं, तदु सुप्तस्य तथैवेति।
दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं, तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ।। यजु० ३४.१

३-२. येन कर्माण्यपसो०
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां०। यजु० ३४.२

मन के तीन विशिष्ट गुण – तृतीय मंत्र में मन के तीन विशिष्ट गुणों का उल्लेख किया गया है । ये हैं – प्रज्ञान (जानने की शक्ति, Cognition), चेतस् (स्मरण करना, Recollection) और धृति (धारणा शक्ति, Power of retention) । साथ ही यह भी कहा गया है कि मन प्राणिमात्र के अन्दर विद्यमान एक अमर ज्योति है । इसके बिना जीव कोई काम नहीं कर सकता है ।[3]

मन त्रिकालदर्शी है – चतुर्थ मंत्र में बताया गया है कि मन त्रिकालदर्शी है । वर्तमान, भूत और भविष्य तीनों काल इसकी सीमा में आते हैं । मन से तीनों कालों का दर्शन होता है । मन तीनों कालों के विषय में चिन्तन और मनन कर सकता है ।[4]

मन ज्ञान का आधार है – पंचम मंत्र में कहा गया है कि मन में ही सारे वेद अर्थात् सारा ज्ञान-विज्ञान और बुद्धि (Intelligence) समाविष्ट है । मन में ही चित्त शक्ति (प्रज्ञाशक्ति, Cognition Faculty) विद्यमान है ।[5]

मन का निवास हृदय में है – षष्ठ मंत्र में कहा गया है कि मन का निवास हृदय में है । इसकी गति अतितीव्र है और इसमें असाधारण कार्यक्षमता है । यह एक सुयोग्य सारथि है, जो इन्द्रियरूपी घोड़ों को ठीक ढंग से नियन्त्रित रखता है ।[6]

मन अमर है – अथर्ववेद में कहा गया है कि मन अमर है, देवता भी अमर हैं । अतः हम अमर मन से अमर देवों के लिए यज्ञ करते हैं ।[7]

मन दैवी शक्ति है – ऋग्वेद में कहा गया है कि मन देवता है, दैवी शक्ति है । यह दैवी शक्ति कहां से उत्पन्न हुई है, यह विद्वान् ही बता सकते हैं ।[8]

मन की गति असीम है – ऋग्वेद और अथर्ववेद में बताया गया है कि मन की गति बहुत तीव्र है । इसकी कोई सीमा नहीं है । यह 'आशुमत्' बहुत तीव्रगामी है । वह क्षण भर में कभी द्युलोक, कभी अन्तरिक्ष और कभी पृथिवी पर विचरण करता है । यह भी कहा गया है कि मन की गति बहुमुखी है । यह चारों ओर जहां चाहे वहां जाता है ।[9]

३-३. यत् प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च,
यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु । यजु० ३४.३

३-४. येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्,
परिगृहीतममृतेन सर्वम् । यजु० ३४.४

३-५. यस्मिन् ऋचः साम यजूंषि.....,
यस्मिन् चित्तं सर्वमोतं प्रजानाम्० । यजु० ३४.५

३-६. सुषारथिरश्वानिव....वाजिन इव ।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठम्० । यजु० ३४.६

३-७. मनसाऽमर्त्येन । अथर्व० ७.५.३

३-८. देवं मनः कुतो अधि प्रजातम् । ऋग्० १.१६४.१८

३-९. (क) मनः.... आशुमत् । अथर्व० ६.१०५.१
(ख) मनो जगाम दूरकम् । ऋग्० १०.५८.२
(ग) मनो विष्वद्र्यग् वि चारीत् । ऋग् ० ७.२५.१

मन त्रिकालदर्शी है - ऋग्वेद का कथन है कि मन की गति वर्तमान, भूत और भविष्य सब जगह है । वह तीनों काल का साक्षात्कार कर लेता है ।[१०]

मन ज्ञान का अक्षय कोष है - समस्त ज्ञान और विज्ञान मन के अन्दर विद्यमान है । परमात्मा सारे ज्ञान के स्रोत वेदों को अपने मन में धारण किए हुए है ।[११]

मन के सहायक तत्त्व - अथर्ववेद का कथन है कि पांच ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से ही मन सभी कार्य करता है । मन एक ओर शुभ कार्य करता है तो दूसरी ओर यह अशुभ, घातक और भयंकर कार्यों को भी करता है ।[१२]

मन की उत्पत्ति वाक्तत्त्व से - अथर्ववेद में वाक्तत्त्व को वशा कहा गया है, क्योंकि वह सबको अपने वश में रखता है । उस वाक्तत्त्व से चित्त (मन, चेतना) की उत्पत्ति होती है।[१३] शतपथ ब्राह्मण में वाक्तत्त्व को मन से भी सूक्ष्म बताया गया है । तांड्य ब्राह्मण का कथन है कि वाक्तत्त्व समुद्र है अर्थात् वह समुद्र के तुल्य सर्वत्र व्याप्त है और मन उसका नेत्र है, अर्थात् वाक्तत्त्व या विचारों की अभिव्यक्ति का साधन मन है ।[१४]

मनोबल का नाशक तत्त्व ईर्ष्या - अथर्ववेद में कहा गया है कि मानसिक शक्ति या मनोबल को नष्ट करने वाला तत्त्व ईर्ष्या है । यह मन को पतन की ओर ले जाता है और उसकी शक्ति को क्षीण करता है ।[१५]

४. मन के गुण-कर्म

मन सूक्ष्म तत्त्वों का ज्ञाता - अथर्ववेद का कथन है कि मन ऋत के तन्तुओं को नापता है, अर्थात् उनकी गतिविधि का निरीक्षण करता है ।[१] ऋत के तन्तु क्या हैं ? मनुष्य के मस्तिष्क में सूक्ष्म ज्ञान-तन्तु हैं । इन सूक्ष्म ज्ञान-तन्तुओं का निरीक्षण, परीक्षण और तात्त्विक आकलन करना मन का काम है । इसी आकलन के आधार पर बुद्धि किसी विषय पर अपना निर्णय देती है । संसार में व्याप्त इन ऋत के तन्तुओं का ज्ञान ही तन्त्र-विद्या है ।

मन का कार्य है चिन्तन-मनन - अथर्ववेद में मन का कार्य बताया गया है - चिन्तन, मनन, संकल्प करना । मन्त्र में आगे कहा गया है कि मन का सम्बन्ध ज्ञानेन्द्रियों से है । अतः बुद्धि की प्राप्ति के लिए विद्वान् गुरु की शरण में जाते हैं ।[२] मन ज्ञानेन्द्रियों के

३-१०. ऋग्० १०.५८.१२

३-११. पतंगो वाचं मनसा बिभर्ति । ऋग्० १०.१७७.२

३-१२. यानि पञ्चेन्द्रियाणि मनःषष्ठानि । अथर्व० १९.९.५

३-१३. वशा....ततश्चित्तमजायत । अथर्व० १०.१०.१८

३-१४. वाग् वै समुद्रो मनः समुद्रस्य चक्षुः । तांड्य० ६.४.७

३-१५. मनस्कं पतयिष्णुकम्० । अ० ६.१८.३

४-१. ऋतस्य तन्तुं मनसा मिमानः । अथर्व० १३.३.१९

४-२. मनसा सं कल्पयति० । अथर्व० १२.४.३१

द्वारा ज्ञान का संग्रह करता है। वह मनन-चिन्तन के द्वारा विषयों को छांटता है और बुद्धि के पास निर्णय के लिए भेजता है। वह बुद्धि के निर्णय को कार्य-तन्तुओं के द्वारा कर्मेन्द्रियों तक पहुँचाता है और तदनुसार उनसे काम कराता है। इस प्रकार मन का दोनों ज्ञान-तन्तुओं और कर्म-तन्तुओं से सम्बन्ध है। यजुर्वेद में भी यही बात कही गई है कि मन के काम हैं - काम (कामना करना, इच्छा करना) और आकूति (संकल्प, विचार करना)।[३]

मन के गुण, ज्ञान और कर्म - ऋग्वेद में स्पष्ट किया गया है कि मन ज्ञानात्मक और क्रियात्मक अर्थात् कर्मशील दोनों है।[४] ज्ञान-तन्तुओं से संबद्ध होने के कारण ज्ञानात्मक है और क्रिया-तन्तुओं से संबद्ध होने से क्रियात्मक है। ज्ञानेन्द्रियां ज्ञान ग्रहण करती हैं और कर्मेन्द्रियां सभी प्रकार के कर्म करती हैं। मंत्र में ज्ञान के लिए दक्ष शब्द है और कर्म या क्रिया के लिए क्रतु शब्द।

मन हृदय का निर्देशक - ऋग्वेद का कथन है कि मन हृदय को निर्देश देता है कि उसे कब क्या करना है।[५] हर्ष-शोक, सुख-दुःख, राग-विराग आदि की अवस्थाओं में मन ही हृदय को निर्देश देता है कि हंसना या रोना, हर्ष, शोक, क्षोभ, चिन्ता आदि की स्थिति में क्या करना है। हृदय मन के निर्देशानुसार ही कार्य करता है।

मन में संजीवनी शक्ति - यजुर्वेद के एक मंत्र में मन के तीन गुणों का वर्णन है। ये हैं- १. **क्रत्वे** - क्रियाशक्ति कर्मठता, २. **दक्षाय** - ज्ञानशक्ति मनन एवं चिन्तन की शक्ति ३. **जीवसे** - संजीवनी शक्ति, जीवन-प्रदात्री शक्ति।[६] मन में वह जीवनी शक्ति है कि वह निर्जीव को सजीव और असमर्थ को समर्थ बना देती है। संकल्प मात्र से मानव में अपूर्व शक्ति का संचार हो जाता है और वह असंभव को संभव बना देती है।

मन के द्वारा वशीकरण - मन में आकर्षण की एक अपूर्व शक्ति है। यह समान हृदयों और विरोधी हृदयों को भी अपनी ओर आकृष्ट करने में समर्थ है। अथर्ववेद के दो मंत्रों में मन की इस आकर्षण शक्ति का विशेष रूप से उल्लेख है। राजाओं और महापुरुषों के लिए इस शक्ति की विशेष आवश्यकता होती है। इसी गुण से वे अन्य जनों को अपना भक्त बना पाते हैं और उन्हें अपने वश में करते हैं। मंत्र का कथन है कि मैं अपने मन से तुम्हारे हृदयों को अपने अनुकूल बनाता हूँ। तुम मेरे बताए मार्ग पर चलो।[७] दूसरे मंत्र में कहा गया है कि हम समान विचार वालों को और विपरीत विचारों वालों को भी अपने विचार के अनुकूल बनाते हैं।[८] इस वशीकरण विद्या के द्वारा ही हृदय-परिवर्तन किया जाता है।

४-३. मनसः काममाकूतिम्० । यजु० ३९.४

४-४. मनो दक्षमुत क्रतुम् । ऋग्० १०.२५.१

४-५. मनश्चिन्मे हृद आ प्रत्यवोचत्० । ऋग्० ८.१००.५

४-६. आ न एतु मनः पुनः, क्रत्वे दक्षाय जीवसे । यजु० ३.५४

४-७. अहं गृभ्णामि मनसा मनांसि० । अथर्व० ३.८.६

४-८. सं वो मनांसि सं व्रता० । अथर्व० ३.८.५

मन-से शुभ और अशुभ की सृष्टि - अथर्ववेद के एक मंत्र में मन को परमेष्ठी अर्थात् दैवी शक्तियों से सम्पन्न ब्रह्मा कहा गया है । इसकी शक्ति महान् है । यह शुभ-अशुभ, अच्छा-बुरा, पाप-पुण्य जो चाहे कर सकता है और सुखद या दुःखद सृष्टि उत्पन्न कर सकता है । जीवन को स्वर्ग या नरक बनाना मन का काम है । शुभ विचार, शुभ चिन्तन, सद्भाव जीवन को स्वर्ग बनाते हैं और दूसरी ओर दुर्भाव या दुर्विचार जीवन को नरक बनाते हैं । अतः मंत्र में कहा गया है कि जो मन घोर या दुःखमय सृष्टि उत्पन्न करता है, वही ज्ञान के द्वारा सुख-शान्ति-मय परिस्थिति उत्पन्न करे ।[९]

५. मनोबल (Determination)

ऋग्वेद और अथर्ववेद के अनेक मंत्रों में मनोबल का बहुत गुणगान किया गया है।

मनोबल विश्वविजयिनी शक्ति - ऋग्वेद का कथन है कि मनुष्य मनोबल के आधार पर ही विश्वविजय करता है । वह द्युलोक और पृथिवी पर सर्वत्र विजय प्राप्त करता है ।[१] अथर्ववेद का कथन है कि मनोबल में वह शक्ति है, जिसके आगे सारी दिशाएं झुक जाती हैं और सारी पृथिवी उसकी इच्छापूर्ति करती है ।[२]

मनोबल से व्यक्ति अजेय - ऋग्वेद का कथन है कि मनोबल से मनुष्य में दिव्य शक्ति आ जाती है । वह अनुभव करता है कि मैं अजेय हूँ, मैं कभी पराजित नहीं हो सकता । मैं मृत्यु से भी नहीं डरता हूँ ।[३]

मनोबल से अधृष्यता - मनोबल वह अलौकिक शक्ति है, जिससे मनुष्य अजेय हो जाता है । उसके दृढ़ निश्चय को कोई टाल नहीं सकता । अतः ऋग्वेद में कहा गया है कि दृढ़ निश्चय वाले व्यक्ति को युद्ध में कोई रोक नहीं सकता है । उसके निश्चय को पहाड़ भी नहीं रोक सकते हैं । उसके गर्जन से बहरे भी डर जाते हैं और सूर्य भी कांप जाता है।[४]

मनोबल सदा विजयी - अथर्ववेद में कहा गया है कि मनोबल (काम) अपनी शक्ति से प्रतिष्ठित है । उसे किसी दूसरे के सहयोग की आवश्यकता नहीं है। मनोबल मनुष्य का मित्र और बन्धु है । वह युद्धों में विजय दिलाता है । वह मनुष्य में ओज, शक्ति और स्फूर्ति देता है ।[५]

मनोबल से अभीष्ट-सिद्धि - ऋग्वेद का कथन है कि मनोबल मानव के अभीष्ट को पूरा करता है । वह जो चाहता है, वह उसे मिल जाता है । यहां तक कि

४-९. इदं यत् परमेष्ठिनं मनः० । अथर्व० १९.९.४
५-१. अभि द्यां महिना भुवम्० । ऋग्० १०.११९.८
५-२. मह्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रः० । अथर्व० ९.२.११
५-३. अहमिन्द्रो न परा जिग्ये० । ऋग्० १०.४८.५
५-४. न पर्वतासो यदहं मनस्ये० । ऋग्० १०.२७.५
५-५. त्वं काम सहसासि प्रतिष्ठितः० । अथर्व० १९.५२.२

परमात्मा भी उसकी इच्छा के अनुसार उसे दर्शन दे देता है ।[६] योगदर्शन में भी यही भाव दिया गया है कि तीव्र आकांक्षा से कार्य की सिद्धि और लक्ष्य की प्राप्ति शीघ्र होती है ।[७]

मनोबल से असंभव भी संभव - मनोबल वह आत्मिक शक्ति है, जो असंभव को संभव बना देती है, दुर्लभ को सुलभ और दुर्गम को सुगम । ऋग्वेद में इसका ही संकेत किया गया है कि मनोबल से पृथिवी या पहाड़ जैसी वस्तु को भी इधर से उधर हटाया जा सकता है ।[८] यद्यपि पृथिवी या पहाड़ को हटाना असंभव है, तथापि पहाड़ के तुल्य बड़े से बड़े विघ्न को मनोबल से हटाया जा सकता है । यही इसका अभिप्राय है ।

६. इच्छाशक्ति (Will-Power)

वेदों में इच्छाशक्ति के लिए काम और आकूति शब्दों का प्रयोग है । इच्छाशक्ति का अनेक प्रकार से महत्त्व बताया गया है और उसको अनेक रूपों में प्रस्तुत किया गया है ।

इच्छाशक्ति सौभाग्य की देवी - अथर्ववेद में कहा गया है कि इच्छाशक्ति सौभाग्य की देवी है । यह मन में रहती है । यह चित्त अर्थात् चिन्तन और विचार की जननी है । यह सभी मनोरथों को पूर्ण करती है ।[१]

इच्छाशक्ति ऐश्वर्यदात्री - इच्छाशक्ति के विषय में कहा गया है कि यह ऐश्वर्य देने वाली है ।[२] जीवन की सफलता एवं ऐश्वर्य की प्राप्ति इच्छाशक्ति पर निर्भर है । यदि उग्र इच्छाशक्ति है तो सफलता अवश्य प्राप्त होगी । इसीलिए संस्कृत का सुभाषित है कि कार्य की सफलता दृढ़निश्चय और पुरुषार्थ पर निर्भर होती है ।

क्रियासिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे ।

इच्छाशक्ति कामधेनु - अथर्ववेद में ही काम, कामना या इच्छशक्ति, को कामधेनु बताते हुए इसे सब मनोरथों को पूर्ण करने वाली बताया गया है ।[३] यह ही वाणी, भाव, भाषा और विचारों की माता है । सबसे पहले कामना या इच्छा उत्पन्न होती है, तभी विचारों की उत्पत्ति होती है । विचारों की अभिव्यक्ति के लिए ही वाणी एवं भाषा का प्रयोग होता है । अतः काम या इच्छा को वाणी की माता माना गया है ।

इच्छाशक्ति समुद्र से भी महान् - इच्छाशक्ति को समुद्र से भी महान् बताते हुए कहा गया है कि यह चर-अचर जगत् से भी बढ़कर है ।[४] कामना का कहीं अन्त नहीं

५-६. यमैच्छाम मनसा सोऽयमागाद्० । ऋग्० १०.५३.१
५-७. तीव्रसंवेगानामासन्नः । योग० १.२१
५-८. हन्താहं पृथिवीमिमां० । ऋग्० १०.११९.९
६-१. आकूतिं देवीं सुभगां....चित्तस्य माता० । अ० १९.४.२
६-२. अथो भगस्य नो धेहि० । अ० १९.४.३
६-३. सा ते काम दुहिता धेनुरुच्यते० । अ० ९.२.५
६-४. ज्यायान् समुद्रादसि काम मन्यो० । अथर्व० ९.२.२३

है । एक के बाद दूसरी कामना बढ़ती जाती है, अतः इसे अनन्त कहा जाता है । तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा गया है कि काम या इच्छा समुद्र के समान अनन्त है । न कामना का कहीं अन्त है और न समुद्र का ।[५]

इच्छाशक्ति ज्ञानरूपी कवच - अथर्ववेद में सुन्दर बात कही गई है कि इच्छाशक्ति एक अभेद्य कवच है । यह कवच ज्ञान के रूप में है । यह ज्ञान-कवच आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तीनों प्रकार की विपत्तियों से रक्षा करता है।[६]

इच्छाशक्ति प्रेरक एवं मार्गदर्शक - इच्छाशक्ति को जीवन का शक्तिशाली अध्यक्ष या नेता बताया गया है ।[७] इसका अभिप्राय यह है कि यह प्रबल शक्ति का संचार करती है, प्रेरणा देती है और मार्गदर्शक का काम देती है । यह जीवन के लक्ष्य की ओर निर्देश करती है, अतः मार्गदर्शक है ।

इच्छाशक्ति देवों की भी नियन्ता - अथर्ववेद का कथन है कि सभी देवी-देवता इच्छाशक्ति के वश में हैं ।[८] मानव-शरीर में ज्ञानेन्द्रियां देवता हैं और भावनाएं एवं कामनाएं आदि देवियां हैं । इन ज्ञानेन्द्रियों और कामनाओं आदि को इच्छाशक्ति नियन्त्रित करती है । इच्छाशक्ति के आदेशानुसार ये देव-देवियां काम करते हैं । जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण में मानवशरीर को दैवी सभा और दैवी संसद् कहा गया है ।[९]

इच्छाशक्ति के रोधक तत्त्व - अथर्ववेद में इच्छाशक्ति के रोधक या नाशक ६ तत्त्व बताए गए हैं ।[१०] ये हैं - **१. म्रोकः** - दुर्विचार, दुर्भाव, दूषित विचार आदि । **२. मनोहा** - मनोबल को तोड़ने वाले विचार । जैसे - कायरता, अधीरता आदि । **३. खनः**- अपनी जड़ खोदने वाले विचार । जैसे - हीनता की भावना, दैन्य, निराशावादिता आदि । **४. निर्दाहः** - दाहक विचार । जैसे - ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध आदि । **५. आत्मदूषिः** - अपने आपको कोसना, अपने कुकर्मों के लिए परमात्मा को दोष देना आदि । **६. तनूदूषिः** - शरीर को दूषित करने वाले विचार । शरीर को यातना देना, अति परिश्रम, शोक, विलाप आदि ।

६-५. समुद्र इव हि कामः ।
नैव हि कामस्यान्तोऽस्ति, न समुद्रस्य । तैत्ति० ब्रा० २.२.५.६
६-६. यत् ते काम शर्म त्रिवरूथम्० । अ० ९.२.१६
६-७. अध्यक्षो वाजी मम काम उग्रः० । अ० ९.२.७
६-८. आकूतिम् .....यस्य देवा देवताः संबभूवुः० । अ० १९.४.४
६-९. एषा दैवी सभा, दैवी संसद् । जैमि० उप० ब्रा० २.११.१३
६-१०. म्रोको मनोहा खनो निर्दाह
आत्मदूषिस्तनूदूषिः । अथर्व० १६.१(१).३

७. संकल्पशक्ति (Power of mind)

वेदों में संकल्प के लिए संकल्प, मन और आकूति शब्द प्राप्त होते हैं ।

संकल्प विश्व की प्रथम सृष्टि – अथर्ववेद का कथन है कि संसार में सबसे पहले काम (संकल्पशक्ति) उत्पन्न हुआ । इसकी महत्ता को देवता और मनुष्य कोई नहीं पा सका ।[1] यह संकल्पशक्ति ही जीवन का निर्माण करती है । विचारों के अनुसार ही मानव का व्यक्तित्व बनता जाता है । यह संकल्पशक्ति या विचारशक्ति जीवन की आधारशिला है ।

संकल्पशक्ति सबसे महान् शक्ति – अथर्ववेद में विस्तार से वर्णन है कि संकल्पशक्ति विश्व की सबसे बड़ी शक्ति है । द्यावापृथिवी, अग्नि और जल आदि जितने व्यापक हैं, उससे अधिक व्यापक संकल्पशक्ति है ।[2] संकल्पशक्ति ऊर्जा है । इसमें कर्तृत्व है । संसार में जो कुछ भी रचनात्मक कार्य हो रहा है, उसके मूल में संकल्प शक्ति है । यह शक्ति ही व्यक्ति को ज्ञानी, विज्ञानवेत्ता, ऋषि, महर्षि और सिद्ध बनाती है ।

संकल्पशक्ति मन का सारभाग – ऋग्वेद का कथन है कि काम या संकल्प मन का सारभाग है ।[3] मन का जो कुछ कर्तृत्व है, वह संकल्पशक्ति है । यह शक्ति ही सृष्टि का निर्माण करती है । ईश्वरीय संकल्प से ही सृष्टि में परमाणुओं का संयोजन और वियोजन होता है । परमाणुओं का संयोजन सृष्टि है और इन परमाणुओं का वियोजन या विच्छिन्न होना प्रलय है । मानव जीवन में भी नवीनता, स्फूर्ति और प्रबुद्धता संकल्पशक्ति का ही प्रभाव है ।

संकल्पशक्ति आग्नेय तत्त्व – यजुर्वेद के एक महत्त्वपूर्ण मंत्र में संकल्पशक्ति को आग्नेय तत्त्व बताया गया है और इसे प्रेरक कहा गया है । साथ ही मन, चित्त और वाणी को भी आग्नेय तत्त्व बताया गया है । आकूति (संकल्प), मन, चित्त और वाणी को ऊर्जा का स्रोत बताया गया है ।[4] ये प्रेरक तत्त्व हैं । ये प्रेरणा देते हैं, अतः इन्हें प्रयुज् कहा है । ये किसी लक्ष्य की ओर प्रेरित करते हैं । इस मंत्र में मनोविज्ञान के चार तत्त्वों का उल्लेख है । ये हैं – १. प्रयुज् और अग्नि के द्वारा प्रेरणा (Motivation), २. मेधा के द्वारा धारणा शक्ति (Power of retention), ३. चित्त के द्वारा स्मरण शक्ति (Remembering) ४. वाच्, वाणी या ज्ञान द्वारा शिक्षा या ज्ञान (Learning) ।

शिवसंकल्प से आत्मज्ञान – अथर्ववेद का कथन है कि शिव संकल्प या पवित्र विचारों से अभ्युदय और आत्मज्ञान होता है ।[5] इस मंत्र में वर्णन किया गया है कि परमात्मा

७-१. कामो जज्ञे प्रथमो० । अथर्व० ९.२.१९

७-२. यावती द्यावापृथिवी....ततस्त्वमसि ज्यायान्० । अथर्व० ९.२.२०

७-३. कामस्तदग्रे......मनसो रेतः प्रथमं० । ऋग्० १०.१२९.४

७-४. आकूतिमग्निं प्रयुजं०, मनो मेधामग्निं० । यजु० ११.६६

७-५. वत्सं गायत्रीमनु.....मनसा शिवेन० । अथर्व० १३.१.१०

के ज्ञानरूपी तप से यह संसार उत्पन्न हुआ है । इस संसार में अभ्युदय और आत्मज्ञान के दो उपाय हैं - १. गायत्री का अनुसरण, २. शिवसंकल्प । गायत्री के अनुसरण का भाव है- गायत्री का जप और उसके द्वारा सौर ऊर्जा को आत्मसात् करना । शिवसंकल्प का भाव है - विचारों की शुद्धि एवं पवित्रता । विचारों की शुद्धि से आत्मज्ञान होता है ।

तीव्र संकल्प से अभीष्ट-सिद्धि - ऋग्वेद का कथन है कि जो उत्कट अभिलाषा से पूरा मन लगाकर कार्य करता है, उसकी कामनाएं पूर्ण होती हैं ।[६] मंत्र में मनोविज्ञान के एक तत्त्व ध्यान या अवधान (Attention) का महत्त्व विशेष रूप से बताया गया है । 'उशता मनसा' से तीव्र उत्कंठा और 'सर्वहृदा' से एकाग्रचित्तता का उल्लेख है । जहां ये दोनों गुण होते हैं, वहां परमात्मा की कृपा होती है और अभीष्ट मनोरथ पूर्ण होता है ।

संकल्प-शुद्धि सर्वोत्तम यज्ञ - अथर्ववेद का कथन है कि सामान्य यज्ञ एवं हवि द्वारा यज्ञ की अपेक्षा आत्मसमर्पण एवं विचारशुद्धि द्वारा बिना हव्य के किया हुआ यज्ञ अधिक लाभप्रद है ।[७] यह गीता का ज्ञानयज्ञ है । इसमें विचारशुद्धि, आत्मशुद्धि और निष्काम कर्म करते हुए आत्मसमर्पण-रूपी यज्ञ करना होता है । हविर्यज्ञ की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ का महत्त्व बहुत अधिक है ।

संकल्पशक्ति से अशुभ-निवारण - अथर्ववेद में वर्णन है कि संकल्पशक्ति से कुस्वप्न आदि सभी अशुभों का निवारण होता है ।[८] मंत्र में स्पष्ट किया गया है कि विचारों की शुद्धि से अशुभ या संकटों का निवारण होता है और बुरे स्वप्न नहीं आते ।

मनोनिग्रह से मृत्युंजय - ऋग्वेद में वर्णन है कि प्राणायाम और मनोनिग्रह से व्यक्ति मृत्यु पर विजय प्राप्त कर सकता है ।[९] मंत्र में कहा गया है कि मन पर निग्रह और प्राणायाम से प्राणों को वश में किया जा सकता है और मृत्यु को भगाया जा सकता है ।

८. मन और बुद्धि का समन्वय

वेदों में इस बात पर बल दिया गया है कि मन, बुद्धि, हृदय एवं कर्म का समन्वय होना चाहिए । मन और बुद्धि का समन्वय होने पर ही योग की समस्त सिद्धियां प्राप्त होती हैं । मन और हृदय के समन्वय से विचारों में स्नेह, ममता, सहानुभूति आदि गुणों का समन्वय होगा । इसी प्रकार मन और कर्मों के समन्वय से निष्काम कर्म की ओर प्रवृत्ति होगी, सामाजिक संगठन होगा, सामाजिक उत्थान और राष्ट्रीय अभ्युदय की ओर लगन होगी ।

७-६. य उशता मनसा....सर्वहृदा ....सुनोति । ऋग्० १०.१६०.३

७-७. तस्मादोजीयो यद् विहव्येनेजिरे । अथर्व० ७.५.४

७-८. यन्मे मनसो न प्रियं० । अ० ९.२.२

७-९. ऋग्० १०.६०.८ से १०

मन और बुद्धि का समन्वय – ऋग्वेद और यजुर्वेद का कथन है कि जब मन और बुद्धि का समन्वय होता है, तभी योग की ओर प्रवृत्ति होती है ।[१] बुद्धि जब मन को अपने नियन्त्रण में रखती है, तब धारणा, ध्यान और एकाग्रता की सिद्धि होती है । योग में जब तक बुद्धि और मन का समन्वय नहीं होगा, तब तक प्रगति नहीं हो सकती है । दोनों के समन्वय से ही तत्त्वज्ञान और आत्मसाक्षात्कार होता है ।

ऋग्वेद के एक मंत्र में मन और बुद्धि के समन्वय से भौतिक और दिव्य सभी सुखों की प्राप्ति होने का उल्लेख है । इस विषय को उदाहरण से समझाया गया है कि जिस प्रकार विद्युत् के सम्पर्क से मेघ बरसते हैं, इसी प्रकार मन के संयोग से बुद्धि अपना खजाना खोलती है और सभी ऐश्वर्य प्रदान करती है । विद्युत् के कारण मेघों में सक्रियता आती है और वे तुरन्त वर्षा करते हैं, इसी प्रकार मन की प्रेरणा शक्ति के द्वारा बुद्धि सक्रिय होती है और अपने कोष के रत्नों की वर्षा करती है ।

मन और हृदय का समन्वय – अथर्ववेद का कथन है कि मन और हृदय का समन्वय हो । इससे पवित्र ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है ।[३] मन में सक्रियता है, संकल्प और विचार हैं, हृदय में संवेदन, संवेग, सहानुभूति, ममता, राग–द्वेष आदि हैं । दोनों के समन्वय से विचारों में सहानुभूति, प्रेम आदि का मिश्रण हो जाता है । इससे विचारों में सात्त्विकता आ जाती है । शुद्ध विचार ही ऐश्वर्य का सात्त्विक रूप है । यह सात्त्विक विचार धारा ही सत्यनिष्ठा, शुद्धता, अर्थशुचित्व और तपोमय जीवन को विकसित करता है । यही ऐश्वर्य का पवित्र रूप है ।

एक अन्य मंत्र में मन और हृदय के समन्वय का लाभ बताया गया है – सामाजिक उन्नति की भावना का जागृत होना । मन और हृदय की एकता से सहानुभूति, परोपकार आदि की भावनाएं उत्पन्न होती हैं, इससे सामाजिक उत्थान की ओर प्रवृत्ति होती है । जनता का प्रेम एवं सद्भाव प्राप्त होता है तथा उनका सहयोग मिलता है । अतएव मंत्र में कहा गया है कि इससे लोगों का स्नेह प्राप्त होता है ।[४]

मन और कर्म में समन्वय – अथर्ववेद के एक मंत्र में मन, विचार और कर्मों के समन्वय पर विशेष बल दिया गया है ।[५] किसी उच्च लक्ष्य की प्राप्ति के लिए तथा संगठन के लिए आवश्यक है कि मन, विचार और कर्म में समानता हो । समाज एवं व्यक्ति की उन्नति तभी संभव है, जब उसके मन विचार एवं कर्मों में सामंजस्य हो । जब लक्ष्य निर्धारित होगा और उसकी प्राप्ति अभीष्ट होगी, तब आवश्यक होगा कि मन, बुद्धि और कर्म समन्वित हों । एक लक्ष्य हो, समान विचार हों और समान कर्म हों । इसको ही ब्राह्मण

८–१. युञ्जते मन उत युञ्जते धियः० । ऋग्० ५.८१.१ । यजु० ५.१४

८–२. त्वं धियं मनोयुजं सृजा वृष्टिं न तन्यतुः । ऋग्० ९.१००.३

८–३. संज्ञपनं वो मनसोऽथो संज्ञपनं हृदः । अथर्व० ६.७४.२

८–४. मयि सजाता रमतिर्वो अस्तु । अथर्व० ६.७३.२

८–५. सं वो मनांसि सं व्रता, समाकूतीर्नमामसि । अथर्व० ३.८.५

ग्रन्थों में स्पष्ट किया गया है कि मनुष्य जो मन से सोचता है, वही बात बोलता है। जो बात कहता है, तदनुसार ही कर्म करता है और जैसा कर्म करता है, वैसा ही वह बन जाता है, अर्थात् मनुष्य का व्यक्तित्व उसके चिन्तन, वचन और कर्म के अनुसार होता है।[६]

एक अन्य मंत्र में भी ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए मन और कर्म के समन्वय की आवश्यकता का निर्देश किया गया है।[७] जब मन और कर्म में एकरूपता होगी तभी एकाग्रता होगी, तभी लक्ष्य की प्राप्ति और ऐश्वर्य की प्राप्ति होगी।

९. शिवसंकल्प या शुभ विचार

वेदों में शुभ विचारों को 'शिव संकल्प' कहा है। ये शुभ विचार जीवन के निर्माता हैं। ये उन्नति, विकास, प्रगति और दीर्घायु के साधन हैं। ये विनाश के स्थान पर विकास, ह्रास के स्थान पर उन्नति, आलस्य के स्थान पर चेतनता, अभाव के स्थान पर जीवनी शक्ति, शोक के स्थान पर हर्ष, भौतिकता के स्थान पर आध्यात्मिकता, पापभावना के स्थान पर परोपकार की भावना, दुर्विचारों के स्थान पर सद्विचार और मृत्यु के स्थान पर अमरत्व देते हैं।

वेदों में शुभ विचारों से संबद्ध अनेक मंत्र हैं। यहां पर कुछ महत्त्वपूर्ण मंत्र विचारों की शुद्धि एवं महत्त्व से संबद्ध दिए जा रहे हैं।

शुभ विचारों से समृद्धि - ऋग्वेद और यजुर्वेद का कथन है कि शुभ विचार सब ओर से आवें। जहाँ सद्विचार हैं, वहां देवों का निवास है। सद्विचार वाले की देवता सदा रक्षा करते हैं।[१] सद्विचार अमृत-कलश के तुल्य हैं। ये जीवन का कायाकल्प कर देते हैं। मनुष्य में जैसे विचार होते हैं, वैसी ही उसकी आकृति होती है, वैसा ही उसका चरित्र होता है, वैसी ही उसकी जीवनयात्रा होती है। सद्विचार ईश्वरीय अनुग्रह और दैवी कृपा है। अतएव महाभारत में कहा गया है कि देवता ग्वाले की तरह डंडा लेकर मनुष्य की रक्षा नहीं करते हैं, अपितु जिसकी रक्षा करना चाहते हैं, उसे सद्बुद्धि और उत्तम विचार दे देते हैं।

न देवा यष्टिमादाय रक्षन्ति पशुपालवत्।
यं तु रक्षितुमिच्छन्ति बुद्ध्या संयोजयन्ति तम्। विदुरनीति ३.४०

शुभ विचारों से दीर्घायु - यजुर्वेद आदि में कहा गया है कि हम शुभ विचारों को कानों से सुनें, शुभ वस्तुओं को आंखों से देखें। हम स्वस्थ-शरीर होकर दीर्घायु प्राप्त करें।[२] विचार मानव के निर्माता हैं। जैसे विचार होते हैं, वैसा ही मानव का जीवन होता

८-६. यन्मनसा ध्यायति, तद् वाचा वदति, यद् वाचा वदति तत् कर्मणा करोति, यत् कर्मणा करोति तदभिसंपद्यते। शत०ब्रा०

८-७. सं मनांसि समु व्रता। अथर्व० ६.७४.१

९-१. आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतो०। ऋग्० १.८९.१। यजु० २५.१४

९-२. भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः०। यजु० २५.२१। ऋग्० १.८९.८

है । शुद्ध विचार स्वास्थ्यप्रद हैं और अपवित्र विचार रोगों के कारण । दीर्घ आयु और स्वस्थ जीवन के लिए नीरोग शरीर आवश्यक है और नीरोग शरीर के लिए शुभ विचार । अत: मंत्र में आंख और कान से शुभ देखने और सुनने का उल्लेख किया गया है । आंख और कान दुर्विचारों के प्रवेश के सबसे बड़े साधन एवं द्वार हैं ।

शुभ विचारों से पाप-नाशन - ऋग्वेद का कथन है कि पापों, दुर्विचारों और दुर्गुणों को नष्ट करना हो तो मन को पवित्र करो । इससे ही बड़े से बड़े युद्धों में विजय प्राप्त होती है ।[3] मन की पवित्रता से शुभ विचार आते हैं और शुभ विचारों से पापरूपी वृत्रासुर को मारा जाता है । अनुकूल परिस्थिति मिलने पर पाप और दुर्विचार बढ़ते हैं । यदि मन को पवित्र कर दिया जाता है तो पाप, दुर्विचार या दुर्गुण बढ़ने नहीं पाएंगे, अपितु समूल नष्ट हो जाएंगे । भौतिक जगत् में एवं साधना के क्षेत्र में मन की पवित्रता सफलता का सर्वोत्तम साधन है । मंत्र में इसी गुर की शिक्षा दी गई है ।

विचारों का संप्रेषण - यजुर्वेद और अथर्ववेद में स्पष्ट किया गया है कि विचारों का संप्रेषण (Transmission) होता है ।[4] शोक, दु:ख और प्रेम आदि के विचारों का संप्रेषण होता है । ये एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक दूरानुभूति (Telepathy) के द्वारा प्रेषित होते हैं । विचारशक्ति विद्युत्-तरंगों (Radio-waves) के तुल्य एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचती है और तदनुसार आदान-प्रदान होता है । शोक एवं प्रेम के समाचार संबद्ध व्यक्ति तक दूरानुभूति से पहुंचते हैं । मंत्र में प्रेमी के प्रेमभाव को प्रेमिका तक पहुंचने का वर्णन है । यह विचारशक्ति ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों को प्रेरणा देती है। विचारशक्ति ज्ञान (क्रतु) और क्रियाशक्ति (दक्ष) को प्रबुद्ध करती है । अतएव यजुर्वेद में 'क्रत्वे' और 'दक्षाय' कहा गया है कि यह अनुमति देवी या विचार-शक्ति हमें बुद्धिमत्ता और कर्मठता दे । इन दोनों गुणों से स्वयं व्यक्ति दीर्घायु होता है ।

एक अन्य मंत्र में भी विचारों में संप्रेषण शक्ति का वर्णन है । एक भक्त विपत्ति से मुक्ति और सुरक्षा के लिए भगवान् से प्रार्थना करता है । भगवान् उसकी प्रार्थना सुनते हैं। मंत्र में कहा गया है कि एक दूरस्थ व्यक्ति अपनी सुरक्षा और सुख के लिए प्रार्थना करता है और दिशाएं उसकी प्रार्थना सुनती हैं तथा उसे अभीष्ट सुख देती हैं ।[5] इससे ज्ञात होता है कि विचारों का संप्रेषण होता है ।

विचारों में संक्रमण-शक्ति - अथर्ववेद के एक मंत्र में विचारों के संक्रमण (Transference) सिद्धान्त का वर्णन किया गया है कि एक के विचार दूसरे के हृदय में प्रविष्ट हो जाते हैं । एक की भावना दूसरे के हृदय में पहुंच जाती है ।[6] यह संक्रमण प्राय:

९-३. भद्रं मन: कृणुष्व वृत्रतूर्ये० । ऋग्० ८.१९.२०

९-४. (क) अनुमते .....देवा: प्र हिणुत स्मरम्० । अथर्व० ६.१३१.२

(ख) अनुमते .....क्रत्वे दक्षाय नो हिनु० । यजु० ३४.५

९-५. दूरात् चकमानाय.....अजनयन् स्व: । अथर्व० १९.५२.३

९-६. कामेन मा काम आगन्, हृदयाद् हृदयं परि । अथर्व० १९.५२.४

तादात्म्यमूलक होता है । एकत्व की अनुभूति के कारण सद्भावना, सहानुभूति आदि के भाव एक हृदय से दूसरे हृदय में पहुंच जाते हैं । भाव-संक्रमण के द्वारा दूसरे के हृदय को जीता जाता है । इस शक्ति के द्वारा ही वक्ता, अभिनेता आदि दूसरों का हृदय जीत लेते हैं।

विचारों में आकर्षण-शक्ति - अथर्ववेद के एक अन्य मंत्र में विचारों में आकर्षण-शक्ति (Magnetic Power) या चुम्बकीय शक्ति का उल्लेख है । मंत्र का कथन है कि जो मन दूसरी ओर चला गया है, उधर आकृष्ट हो गया है, उसे हम लौटाकर लाते हैं ।[७] विचार चुम्बक के तुल्य दूसरों का मन अपनी ओर खींच लेते हैं । यह आकर्षण-शक्ति साधना तप आदि से प्राप्त होती है । आकर्षण-शक्ति की उत्कृष्टता के आधार पर ही Mesmerism और Hypnotism के प्रयोग सफल होते हैं ।

शुभ विचारों से अजेयता - ऋग्वेद के एक मंत्र में स्पष्ट किया गया है कि विचारों की शुद्धि मनुष्य को अजेय बना देती है । पापी और निन्दक के दुर्वचन उसको कुछ हानि नहीं पहुंचा पाते हैं । इसके विपरीत निन्दक का ही सर्वनाश हो जाता है ।[८] परनिन्दा, छिद्रान्वेषण आदि दुर्गुण सरलता से जीवन में प्रवेश कर जाते हैं, परन्तु इनका परिणाम बहुत दुःखद होता है । महाभारत में कहा गया है कि छिद्रान्वेषण की प्रवृत्ति साक्षात् मृत्यु है । इससे सदा बचना चाहिए ।[९]

शुभ विचारों से संयम - अथर्ववेद में वर्णन किया गया है कि शुभ विचार व्यक्ति को चारित्रिक बल देते हैं ।[१०] शुभ विचार एक प्रकार की अग्नि है । यह कुविचार, काम भावना आदि को जला देती है । व्यक्ति को संयमी, सच्चरित्र और जितेन्द्रिय बना देती है ।

शुभ विचार से देवकृपा - ऋग्वेद का कथन है कि देवता हृदय की बात जानते हैं । वे निष्कपट और पापी को जानते हैं । वे पवित्र व्यक्तियों के हृदय में निवास करते हैं और उन पर कृपा करते हैं ।[११] सद्विचारों से पवित्रता और पात्रता आती है । जहां पवित्रता है, वहां देवों का निवास है । वहीं ईश्वरीय अनुग्रह होता है ।

शुभ विचारों से आत्मसाक्षात्कार - ऋग्वेद के एक मंत्र में वर्णन किया गया है कि हृदय और मन के समन्वय से आत्मसाक्षात्कार होता है ।[१२] मन विचारों का केन्द्र है और हृदय अनुभूतियों का । मन यदि शुद्ध विचारों से युक्त है तो हृदय में सात्त्विक अनुभूतियां उत्पन्न होंगी । मन और हृदय के समन्वय से चेतना का शुद्ध रूप प्रस्फुरित होता

९-७. यद् वो मनः परागतं .... तद् व आ वर्तयामसि । अथर्व० ७.१२.४

९-८. यो मा पाकेन मनसा चरन्तम्० । ऋग्० ७.१०४.८

९-९. असूयैकपदं मृत्युः । विदुरनीति ८.४

९-१०. स्मरम् .... तपामि वरुणस्य धर्मणा । अथर्व० ६.१३२.१

९-११. पाकत्रा स्थन देवा, हृत्सु जानीथ मर्त्यम् । ऋग्० ८.१८.१५

९-१२. हृदा पश्यन्ति मनसा विपश्चितः । ऋग्० १०.१७७.१

है । जीवात्मा ज्योतिरूप है, प्रकाश का पुंज है । विद्वान् एवं योगी व्यक्ति सात्त्विक विचार होने पर हृदयरूपी समुद्र में आत्मतत्त्व का दर्शन कर पाते हैं । अतएव मंत्र में कहा गया है कि क्रान्तदर्शी लोग हृदयरूपी समुद्र के अन्दर आत्मतत्त्वरूपी ज्योति को देखते हैं और उस परमात्मा को प्राप्त करते हैं ।

विचार-भेद से प्रवृत्ति-भेद - ऋग्वेद में वर्णन किया गया है कि मनुष्यों के विचार भिन्न-भिन्न होते हैं । कोई एक काम पसन्द करता है तो दूसरा अन्य कार्य । इस प्रकार एक परिवार में भी रुचिभेद से कार्यभेद देखा जाता है ।[13] किसी की विद्या में रुचि है, दूसरे की व्यापार में, तीसरे की शिल्प में या कला में । इस प्रकार रुचिभेद से कार्यभेद होते हैं ।

मन्त्रशक्ति और विचारशक्ति - विचारशक्ति का सम्बन्ध शब्दशक्ति या वाक्शक्ति से है । वाक्शक्ति ही विचारशक्ति है । वाक्शक्ति का ही प्रबुद्ध रूप मंत्रशक्ति है । वाक्शक्ति सूक्ष्म तरंगों के रूप में कार्य करती है और विद्युत्-तरंगों के तुल्य संबद्ध व्यक्ति पर अपना प्रभाव डालती है । वेद के मंत्रों में भी यही मंत्रशक्ति है । गायत्री आदि मंत्रों में यह मन्त्रशक्ति काम करती है ।

अथर्ववेद में मंत्रशक्ति का वर्णन है । मंत्र में कहा गया है कि मंत्रशक्ति (वेदमंत्रों) से तेरे मन और प्राण की शक्ति को जागृत करते हैं और तुझे विपत्ति के बन्धन से मुक्त करते हैं ।[14] इसका अभिप्राय है कि मनुष्य में आत्मशक्ति सुप्त रूप में विद्यमान है । जब यह आत्मशक्ति सुप्त रहती है । तब रोग, शोक आदि मनुष्य को घेरे रहते हैं और मनुष्य में हीनता, निर्बलता आदि दोष उत्पन्न होते हैं । जब इस आत्मशक्ति को उद्बुद्ध कर देते हैं तो नवीन चेतना आ जाती है । अनुत्साह उत्साह में बदल जाता है । सभी मानस रोग और विपत्तियां आदि इस नवीन चेतना से हार मानकर संबद्ध व्यक्ति को छोड़कर भाग जाते हैं।

१०. मन की पवित्रता

वेदों में मन की पवित्रता पर बहुत बल दिया है और इससे सभी अभीष्ट वस्तुओं की प्राप्ति तथा पापों को नष्ट करने का सर्वोत्तम साधन बताया गया है ।

पवित्र मन से सभी सुखों की प्राप्ति - यजुर्वेद और अथर्ववेद के एक मंत्र में बताया गया है कि मन की पवित्रता से तेजस्विता, नीरोगता, शारीरिक न्यूनताओं की पूर्ति और स्थायी ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है ।[1] मन की पवित्रता का परिणाम यह होता है कि सर्वप्रथम दुर्गुणों से निवृत्ति होती है । दुर्गुणों के त्याग से चरित्र की शुद्धि होती है । चरित्र की शुद्धि से तेजस्विता, वर्चस्विता और ओजस्विता आती है । दुर्गुणों के त्याग से शरीर की

९-१३.नानानं वा उ नो धियो, वि व्रतानि जनानाम् । ऋग्० ९.११२.१

९-१४.इह तेऽसुरिह प्राण .....देव्या वाचा भरामसि । अथर्व० ८.१.३

१०-१.सं वर्चसा पयसा....मनसा सं शिवेन० । यजु० २.२४ । अ० ६.५३.३

आधि-व्याधि समाप्त होती हैं, ऊर्जा का विकास होता है, शारीरिक और मानसिक न्यूनताएं समाप्त होती हैं, शरीर पूर्णरूप से नीरोग रहता है और ऐश्वर्य का स्थायी निवास होता है ।

पवित्र मन और तप से मुक्ति - अथर्ववेद में बताया गया है कि पवित्र मन और तप ये मुक्ति के साधन हैं । इनसे तृतीय लोक या मुक्तिधाम प्राप्त होता है ।[२] मंत्र में बताया गया है कि मन की शुद्धि से शरीर को यज्ञमय बनाया जाता है । यज्ञमय बनाने का अभिप्राय है - त्याग-भावना से युक्त होना, परोपकार के लिए जीवन समर्पित करना । पवित्र मन दोषों को नष्ट करता है, अतएव शतपथ ब्राह्मण में मन को अग्नि कहा गया है ।[३] मन जब सात्त्विक गुणों से युक्त होता है, तभी वह मुक्ति का अधिकारी होता है । सात्त्विक गुण तपस्या से आते हैं, अतः मंत्र में शुद्ध मन के साथ तप को जोड़ा गया है । मंत्र में मोक्षधाम के लिए तृतीय लोक शब्द का प्रयोग हुआ है ।

मन की पवित्रता से पापनाश - ऋग्, साम और यजुर्वेद में एक मंत्र आया है। इसमें कहा गया है कि पापों (वृत्र) को नष्ट करना है तो मन को पवित्र बनावो । मन की पवित्रता से ही सर्वत्र विजय प्राप्त होती है और अभीष्ट पदार्थ मिलते हैं ।[४] शतपथ ब्राह्मण में वृत्र का अर्थ पाप बताया गया है ।[५] पाप सभी प्रकार की उन्नति को रोकता है, अतः उसे वृत्र कहा गया है ।

निष्पाप मन से अभीष्ट-सिद्धि - ऋग्वेद में कहा गया है कि मैंने सब पाप छोड़ दिए हैं, अतः मेरे सारे मनोरथ सफल हों ।[६] इसका अभिप्राय यह है कि सारी सफलताओं को पाप विघ्न रूप में उपस्थित होकर नष्ट-भ्रष्ट कर देते हैं । जो पापों को छोड़ देता है और मन को निर्मल बना लेता है, उसके सारे अभीष्ट सफल होते हैं ।

मन से पाप-भावना हटावें - अथर्ववेद में कहा गया है कि मन को पवित्र रखने के लिए पाप के विचारों को छोड़ें । उसे दुर्गुणों की ओर जाने से रोकें । इसका उपाय बताया गया है कि अपने मन को आवश्यक कामों में लगाए रखें । उसे इधर-उधर भटकने का अवसर ही न दें ।[७] पाप की भावना के प्रमुख कारण हैं - अधिक धन की लिप्सा, महत्त्वाकांक्षा, लोभ, तामसी प्रवृत्ति और कुसंगति । सत्संगति और सद्ग्रन्थों के स्वाध्याय से ये प्रवृत्तियां सरलता से रोकी जा सकती हैं ।

हृदय की शुद्धता से बुद्धि का परिष्कार - ऋग्वेद के एक मंत्र में बताया गया है कि बुद्धि के परिष्कार का उपाय है हृदय की सात्त्विकता या शुद्धता। हृदय की सात्त्विकता

१०-२. मनसा.....तपसा...तृतीये लोके सधमादं मदेम । अ० ६.१२२.४

१०-३. मन एवाग्निः । शत०ब्रा० १०.१.२.३

१०-४. भद्रं मनः कृणुष्व वृत्रतूर्ये० । ऋग्० ८.१९.२० । यजु० १५.३९

१०-५. पाप्मा वै वृत्रः । शत० ब्रा० ६.४.२.३

१०-६. आकूतिः सत्या मनसो मे अस्तु० । ऋग्० १०.१२८.४

१०-७. परोऽपेहि मनस्पाप, किमशस्तानि शंससि । अथर्व० ६.४५.१

का उपाय है - शुद्ध भोजन, शुद्ध विचार और शुभ कर्म ।[८] यदि हृदय में शुद्धता है, प्रेम, ममता और परोपकार की भावना है तो बुद्धि स्वयं सत्कर्मों की ओर प्रवृत्त होगी । इसका फल होता है - ज्ञान की वृद्धि, ज्ञान-ग्रहण करने की क्षमता में वृद्धि और सद्‌गुणों की ओर प्रवृत्ति ।

११. पाप के कारण

ऋग्वेद और अथर्ववेद में पाप के कारणों पर विचार किया गया है और उनको दूर करने का उपाय भी बताया गया है ।

पाप के पांच कारण - ऋग्वेद में पाप के पांच कारण बताए गए हैं । ये हैं - नियति, सुरा, क्रोध, द्यूत और अज्ञान । साथ ही पाप को दूर करने का उपाय बताया गया है - ईश्वर को सर्वव्यापक मानना, हृदय में साक्षीरूप में उसकी सत्ता का ज्ञान, ईश्वरोपासना और मनोबल ।[१]

१. नियति - नियति का अर्थ है प्रारब्ध । पूर्वजन्म के कुकर्मों के आधार पर कुछ बुरे संस्कार भी इस जीवन में आते हैं । वे मनुष्य को पापों की ओर लगाते हैं ।

२. सुरा - सुरा मदिरा है । यह बुद्धि को भ्रष्ट कर देती है, अतः व्यक्ति पापों की ओर प्रवृत्त होता है ।

३. क्रोध - क्रोध बुद्धि को विकृत कर देता है, अतः मनुष्य कर्तव्य-अकर्तव्य को भूल जाता है और कोई भी पाप हिसा आदि कर देता है ।

४. द्यूत - जुआ । यह दुर्व्यसन है । कठिनाई से छूटता है । द्यूत में हार जाने पर व्यक्ति धन के लिए चोरी आदि कुकर्म करता है ।

५. अज्ञान - अविवेक । अज्ञान से कर्तव्य-बोध का अभाव रहता है और मनुष्य अनजाने में असत्यभाषण, अनाचार आदि पाप करने लगता है ।

पाप-प्रवृत्ति को दूर करने का उपाय बताया गया है कि यदि मनुष्य समझता है कि हमारे हृदय में परमात्मा बैठा है और वह हमारे पापों को देख रहा है तो वह पाप से डरता है और पाप नहीं करता । दूसरा उपाय है ईश्वरोपासना । ईश्वर की उपासना या भक्ति से सात्त्विक विचार आते हैं और व्यक्ति पापों से बचता है ।

पापी को महादुःख - अथर्ववेद के एक मंत्र में बताया गया है कि पापी को महादुःख भोगना पड़ता है । साथ ही पांच पापों के नाम भी गिनाए हैं । ये हैं :- १. **अघशंस** - किसी दूसरे का अशुभ या बुरा सोचना । २. **ब्रह्मद्विष्** - नास्तिक होना, परमात्मा को न मानना, ज्ञानियों और विद्वानों से द्रोह करना । ३. **क्रव्याद्** - मांसाहार ।

१०-८.पर्यचामि हृदा मतिम्० । ऋग्० १०.११९.५

११-१.न स स्वो दक्षो वरुण ध्रुतिः सा,
सुरा मन्युर्विभीदको अचित्तिः । ऋग्० ७.८६.६

मांसाहार से बुद्धि भ्रष्ट होती है और तामसी वृत्तियां बढ़ती हैं । **४. घोरचक्षुष्** - दूसरे को बुरी दृष्टि से देखना, नजर लगाना । **५. किमीदिन्** - भक्ष्य-अभक्ष्य का विचार न करना, भला-बुरा सब खाना, पेटू होना, भूख से अधिक खा लेना । ये पाचों दुर्गुण मनुष्य के जीवन के लिए घातक हैं ।[२]

पाप का फल-भोक्ता पापी ही - ऋग्वेद का कथन है कि जो दुर्भावना रखता है, किसी से कपट करता है या किसी का अनिष्ट सोचता है, वह पापी है और उस पाप का फल उसे भोगना पड़ता है ।[३] इसका अभिप्राय है कि जो व्यक्ति दूसरे का अहित-चिन्तन करता है, दूसरे से द्रोह करता है या छल-प्रपंच करता है । वह शारीरिक और मानसिक रूप से अपना ही अहित और अनिष्ट करता है । बुरे विचार आना मन और बुद्धि के लिए अहितकर हैं । अशुभ चिन्तन पहले स्वयं को हानि पहुचाते हैं, बाद में किसी अन्य को । पाप का सोचना और करना दोनों ही प्रकार मनुष्य के पतन के सूचक हैं ।

शुभ विचारों से पाप का नाश - ऋग्वेद के एक मंत्र में दुर्विचारों और शुभ विचारों का अन्तर बताया गया है । दुर्विचार पाप हैं और पतन की ओर ले जाते हैं । शुभ विचार पुण्य हैं, वे विजय और उन्नति की ओर ले जाते हैं । मंत्र का कथन है कि हमने पाप छोड़ दिए हैं, हम निष्पाप हो गए हैं । अतएव हम विजयी हुए हैं और हमें ऐश्वर्य प्राप्त हुआ है ।[४] सोते-जागते जो पाप किए जाते हैं, वे द्वेषी और अहितचिन्तक को प्राप्त होते हैं ।

इस प्रकार शुभ विचारों को उन्नति का साधक और दुर्विचारों को पतन का कारण माना गया है ।

***

११-२. ब्रह्मद्विषे क्रव्यादे घोरचक्षुषे,
द्वेषो धत्तमनवायं किमीदिने ।। अथर्व० ८.४.२ । ऋग्० ७.१०४.२

११-३. समित् तमघमश्नवत्, दुःशंसं मर्त्यं रिपुम् । ऋग्० ८.१८.१४

११-४. अजैष्माद्यासनाम च-अभूम-अनागसो वयम् । ऋग्० १०.१६४.५

अध्याय - १०

कतिपय दार्शनिक सिद्धान्त एवं विचार

१. पुरुष एवं प्रकृति

पुरुष के दो रूप - अथर्ववेद में चेतन सत्ता के दो रूपों का वर्णन है । एक महाचेतन और दूसरा चेतन ।[१] महाचेतन को ब्रह्म, ईश्वर, परमात्मा, परम पुरुष आदि नामों से संबोधित किया जाता है । सामान्य चेतन को जीवात्मा या पुरुष । दोनों के गुण-धर्मों में कुछ अन्तर है । सांख्यदर्शन का प्रकृति-पुरुष-विवेचन इसी पर आश्रित है । महाचेतन सत्ता ब्रह्म या ईश्वर है । इसको मुख्य रूप से एकवृत् कहा गया है ।[२] यह एकमात्र सत्ता है। सब देवी-देवता उसमें ही आकर मिल जाते हैं और एकरूप हो जाते हैं, अतः उसे एकवृत् कहते हैं ।[३] एकवृत् का अर्थ है- अकेला, केवल एक । वह समष्टि रूप है । सब देवों की समष्टि को ब्रह्म या ईश्वर कहते हैं । व्यष्टि रूप में सभी देव उसके अवयव या अंग होते हुए भी अपने पृथक् रूप में व्यक्त होते हैं ।

अथर्ववेद में ब्रह्म या परमपुरुष के समष्टि रूप का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वह दो, तीन, चार या दस नहीं है ।[४] ऋग्वेद और अथर्ववेद में स्पष्ट किया गया है कि वह ब्रह्म ही एकमात्र सत्ता है, उसको ही व्यष्टिरूप में इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, वायु, यम आदि कहा जाता है ।[५]

अथर्ववेद में इसका ही विस्तृत विवेचन करते हुए उस महासत्ता को इन्द्र और महेन्द्र कहा गया है । साथ ही कहा गया है कि वही सूर्य, धाता, विधाता, वायु, अर्यमा, वरुण, रुद्र, महादेव, अग्नि, महायम, मृत्यु, अमृत आदि कहा जाता है ।[६] यह भी कहा गया है कि उसके सैकड़ों नहीं, अपितु करोड़ों और अरबों रूप हैं ।[७]

ऋग्वेद में 'द्वा सुपर्णा०' मंत्र में स्पष्ट किया गया है कि प्रकृतिरूपी वृक्ष पर दो पक्षी-परमात्मा और जीवात्मा बैठे हैं । दोनों में अन्तर यह है कि जीवात्मा कर्म करता है और कर्मफल का भोग करता है । परमात्मा न कर्म करता है और न कर्मफल का भोक्ता है । वह साक्षी-रूप में विद्यमान होकर प्रकाशित हो रहा है ।[८]

१-१. अथर्व० ५.११.६ । ५.११.१०

१-२. स एष एक एकवृद् एक एव । अ० १३.४.१२

१-३. एते अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति । अथर्व० १३.४.१३

१-४. न द्वितीयो न तृतीयः......दशमो नाप्युच्यते । अ० १३.४.१६ से १८

१-५. एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति० । ऋग्० १.१६४.४६ । अ०९.१०.२८

१-६. स धाता स विधर्ता० । अ० १३.४.१ से २५

१-७. ते तन्वः शतम् । यदि वासि न्यर्बुदम् । अ० १३.४.४४-४५

१-८. द्वा सुपर्णा....अनश्नन् अन्यो अभि चाकशीति । ऋग्० १.१६४.२०

श्वेताश्वतर उपनिषद् में इसी बात को और स्पष्ट रूप से कहा गया है कि वह परमात्मा केवल साक्षी है, चेतन है और निर्गुण या निराकार है ।[९] परमात्मा का महत्त्व यह है कि वह ही ऊर्जा का स्रोत है, वही प्रकाशों का प्रकाश है, वही संसार को ऊर्जा प्रदान कर रहा है । इसीलिए उपनिषद् में कहा गया है कि उसके प्रकाश से ही सब प्रकाशित हैं, उसकी ज्योति ही सर्वत्र विद्यमान है ।[१०]

अथर्ववेद के कुछ मंत्रों में वर्णन किया गया है कि वह परमात्मा सबसे प्राचीन है, अतः उसको सनातन या पुराण पुरुष कहते हैं ।[११] वह अजर और अमर है । उसको जानने वाला मृत्यु के भय से मुक्त हो जाता है ।[१२]

दूसरा पुरुष जीवात्मा है । यह शरीररूपी नगरी में निवास करता है, अतः इसे **पुरि शेते इति पुरुषः** कहा जाता है । वह संसाररूपी वृक्ष पर रहते हुए सांसारिक विषयरूपी फल खाता है और कर्मफल भोगता है । यह चेतन है ।[१३] ऋग्वेद और अथर्ववेद के एक मंत्र में ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों को सगे भाई बताया गया है । परमात्मा को बड़ा भाई, जीवात्मा को मध्यम या दूसरा भाई और प्रकृति को सबसे छोटा भाई । मध्यम भाई जीवात्मा के लिए कहा गया है कि यह खाता-पीता है, कर्म करता है और कर्मफल भोगता है ।[१४] यह अदृश्य है । यह शरीर-रहित है और अस्थि-चर्ममय शरीर को धारण करता है।[१५]

प्रकृति - ऋग्वेद में प्रकृति को जड़ बताते हुए इसे वृक्ष के तुल्य बताया गया है। इसमें ज्ञान या सोचने-समझने की शक्ति नहीं है ।[१६] प्रकृति में सभी प्रकार के सुख हैं, सुविधाएं हैं और समृद्धि हैं । अतएव इसको घृतपृष्ठ अर्थात् घी आदि पदार्थों से युक्त कहा गया है ।[१७] प्रकृति परमाणुओं का पुंज है, एक संघात रूप है । इन परमाणुओं के विषय में कहा गया है कि ये अति सूक्ष्म हैं ! इनका स्वरूप बाल की नोक से भी सूक्ष्म है ।[१८] अथर्ववेद के एक मंत्र में प्रकृति में तीन गुणों की सत्ता स्वीकार करते हुए कहा गया है कि

१-९. साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च । श्वेता०उप० ६.११

१-१०. तमेव भान्तमनुभाति सर्वं,
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति । श्वेता० उप० ६.१४

१-११. सनातनमेनमाहुः० । अथर्व० १०.८.२३

१-१२. तमेव विद्वान् ...आत्मानं धीरमजरम्० । अ० १०.८.४४

१-१३. द्वा सुपर्णा....पिप्पलं स्वाद्‌वत्ति । अ० ९.९.२०

१-१४. तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः । ऋग्० १.१६४.१ । अ० ९.९.१

१-१५. अ० ९.९.४

१-१६. ऋग्० १.१६४.२० । अ० ९.९.१

१-१७. तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठः० । ऋग्० १.१६४.१

१-१८. बालादेकमणीयस्कम्० । अ० १०.८.२५

यह शरीर तीन गुणों से युक्त है ।[१९] इन तीन गुणों के नाम हैं – सत्त्व, रजस्, तमस् । मंत्र में रजस्, तमस् का स्पष्ट उल्लेख है और सत्त्व के लिए 'अमृतस्य श्नुष्टिम्' अमृत का कुंड कहा गया है ।[२०]

मानव-जीवन को एक बड़े वस्त्र का रूप देते हुए कहा गया है कि कवियों ने इस वस्त्र को बुनने के लिए सात धागे (तन्तु) फैलाए हैं । इनसे कर्मरूपी वस्त्र बुना जाता है।[२१] ये सात धागे हैं – ५ ज्ञानेन्द्रियां, मन और बुद्धि । ये दिन-रात मनुष्य के जीवनरूपी वस्त्र को बुनते हैं ।

२. 'तत् त्वमसि' और 'सोऽहम्'

अथर्ववेद के दो मंत्रों में जीव और ईश्वर का काल्पनिक संवाद वर्णन किया गया है । जीवात्मा परमात्मा से कहता है कि हम दोनों का स्वरूप एक समान है, अर्थात् हम दोनों में आत्मतत्त्व समान रूप से विद्यमान है । हम दोनों का परस्पर संवाद है, अतः तुम मेरे 'सप्तपदः सखा' सात पद साथ चलने के कारण मित्र हो । तुम मुझे वह वस्तु दो, जो तुमने किसी को न दी हो ।[१] इसके उत्तर में अगले मंत्र में ईश्वर का कथन है कि मैं तुम्हें वह वस्तु देता हूँ, जो किसी को नहीं दी है । तुम मेरे मित्र हो गए हो, अर्थात् हम दोनों एकरूप हो गए हैं ।[२]

यहां प्रथम मंत्र में 'जो तुम हो, वही मैं हूँ' के द्वारा 'तत् त्वमसि' सिद्धान्त का समर्थन होता है । जो ईश्वरीय गुण हैं, वे जीवात्मा में भी हैं । दूसरे मंत्र में ईश्वर का यह कथन कि मैं अपना दिव्य स्वरूप, जो साधारणतया दूसरे को नहीं दिया जाता है, वह तुम्हें दे रहा हूँ, इसका अभिप्राय यह है कि ईश्वर योगी एवं सिद्धों को अपना वह दिव्य रूप प्रदान करता है, जो दुर्लभ है । इसमें 'सोऽहम्' 'मैं ब्रह्मरूप हो गया हूँ', का अभिप्राय आता है।

यजुर्वेद के एक मंत्र में यह विचार और स्पष्ट रूप में दिया गया है कि जो दिव्य शक्ति सूर्यरूप में है, वही जीवात्मा में भी है ।[३] इसका अभिप्राय यह है कि जीवात्मा में भी दिव्य शक्ति है, परन्तु वह योग, साधना और तपस्या के द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है। इस मंत्र में 'सोऽसावहम्' (वह मैं हूँ) के द्वारा 'सोऽहम्' का भाव व्यक्त किया गया है ।

१-१९. त्रिभिर्गुणेभिरावृतम् । अ० १०.८.४३
१-२०. रजस्तमो मोप गाः० । अ० ८.२.१
१-२१. सप्त तन्तून् वि तत्निरे कवय ओतवा उ । अ० ९.९.६
२-१. सप्तपदः सखासि । अ० ५.११.९
२-२. सप्तपदः सखास्मि । अ० ५.११.१०
२-३. योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम् । यजु० ४०.१७

३. दार्शनिक विचार

(क) कर्म-मीमांसा

अथर्ववेद में कर्म का बहुत अधिक महत्त्व वर्णन किया गया है। सृष्टि की उत्पत्ति तप और कर्म से बताई गई है।[१] इनमें भी तप की उत्पत्ति कर्म से ही है, अतः कर्म सर्वोपरि है।[२] कर्म से तप और तप से सृष्टि का प्रादुर्भाव हुआ है। सृष्टि की उत्पत्ति के लिए सर्वप्रथम ईश्वरीय इच्छा (ईक्षण) चाहिए। उसके बाद कर्म से सृष्टि की उत्पत्ति की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। कर्म केन्द्रीय तत्त्व है। जहाँ कर्म है, वहाँ गति है। जहाँ गति है, वहाँ जीवन है। वहाँ सुख और समृद्धि है। इसका अभिप्राय है कि कर्म ही जीवन है। जहाँ कर्म और पुरुषार्थ (तप) है, वहां श्री, समृद्धि और वैभव है। जहाँ अकर्मण्यता है, वहाँ दुःख, अभाव और अश्रीकता है।

कर्मफल के विषय में वेदों का मन्तव्य है कि कर्मों का फल अवश्य मिलता है। अथर्ववेद का कथन है कि ईश्वरीय दूत (रुद्र के गण) कभी नहीं सोते हैं। वे सदा पाश लिए घूमते हैं। वे प्रत्येक व्यक्ति के कर्मों को देखते हैं और तदनुसार उन्हें फल देते हैं।[३] मनुष्य अपने अच्छे और बुरे कर्मों का फल भोगते हैं। अच्छे कर्मों का फल अच्छा होता है और बुरे कर्मों का फल बुरा।[४] अथर्ववेद में एक स्थान पर कहा गया है कि ईश्वर (यम) मनुष्य के कर्मों की मात्रा को ठीक नापकर तदनुसार फल देता है, न कम न अधिक।[५]

एक मंत्र में कहा गया है कि जो मनुष्य बुरे कर्म करता है, उसे अपने कुकर्मों का दुष्परिणाम मिलता है।[६] इसका अभिप्राय यह है कि सत्कर्म का सुखद परिणाम होता है और कुकर्म का बुरा। एक अन्य मंत्र में कहा गया है कि सुकर्म और कुकर्म का समाज पर भी भला और बुरा प्रभाव पड़ता है। सज्जनों के सत्कर्म समाज में शान्ति और व्यवस्था फैलाते हैं।[७]

कर्म के विषय में कहा गया है कि वे दो प्रकार के होते हैं - १. कृत, २. अकृत। कृत कर्म वे हैं, जिन्हें हम अपनी ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों से करते हैं। अकृत कर्म वे हैं, जिन्हें हम मन से सोचते हैं, परन्तु उन्हें कर्म में परिणत नहीं किया है। दोनों प्रकार के कर्मों का फल मनुष्य को मिलता है। अतएव मंत्र में कृत और अकृत दोनों प्रकार के पापों या अपराधों के लिए शान्ति की प्रार्थना की गई है।[८]

३क-१. तपश्चैवास्तां कर्म च०। अ० ११.८.२ ३क-२. तपो ह जज्ञे कर्मणः०। अ० ११.८.६

३क-३. तस्य स्पशो न नि मिषन्ति भूर्णयः, पदे पदे पाशिनः सन्ति सेतवे। अ० ५.६.३

३क-४. तस्मिन् कृणोति सुकृतस्य भक्षम्०। अ० १८.३.५४

३क-५. इमां मात्रां मिमीमहे यथापरं न मासातै०। अ० १८.२.३८ से ४५

३क-६. पापम् आर्च्छतु-अपकामस्य कर्ता। अ० २.१२.५

३क-७. शं नः सुकृतां सुकृतानि सन्तु। अ० १९.१०.५

३क-८. शान्तं नो अस्तु कृताकृतम्। अ० १९.९.२

(ख) वाक् तत्त्व

ऋग्वेद और अथर्ववेद में वाक्तत्त्व (Speech) का बहुत महत्त्व वर्णन किया गया है । वाक्तत्त्व को वैयाकरण शब्दब्रह्म कहते हैं । आचार्य भर्तृहरि ने अपने ग्रन्थ 'वाक्यपदीय' के प्रथम कांड में शब्दब्रह्म का ही महत्त्व वर्णन किया है और इसे 'प्रतिभात्माऽयम्' कहकर प्रतिभा शक्ति बताया है ।[१] यह शक्ति ही सृष्टि में बुद्धि का परिष्कृत रूप होकर कार्य कर रही है । ऋग्वेद और अथर्ववेद में ८ मंत्रों वाला एक सूक्त दिया गया है और उसमें वाक्तत्त्व का महत्त्व बताया गया है ।[२]

वाग्देवी दिव्य शक्तियों की धारक - एक मंत्र में बताया गया है कि वाग्देवी ही इन्द्र, अग्नि, मित्र, वरुण, अश्विनी देवों की आधार है, अर्थात् वही इन देवों को शक्ति दे रही है । वह रुद्र, वसु आदि सभी देवों के साथ विचरण करती है ।[३]

वाग्देवी संयोजक तत्त्व है - वाग्देवी ही संयोजक तत्त्व है । यह विभिन्न तत्त्वों को मिलाती है और उनमें शक्ति देती है । इसका ही प्रसार सारा वाङ्मय है ।[४]

वाग्देवी की कृपा से ऋषि और मेधावी - वाग्देवी की की कृपा से ही ब्रह्मा, ऋषि, तेजस्वी, मुनि और विद्वान् होते हैं । सभी देवता और मनुष्य उसकी उपासना करते हैं ।[५]

वाग्देवी द्यावापृथिवी में व्याप्त - वाग्देवी सारे संसार में व्याप्त है ।[६] वह वायु की तरह सर्वत्र विचरण करती है । वही संसार का निर्माण करती है ।[७]

अथर्ववेद में वाणी को परमेष्ठी प्रजापति बताया गया है और कहा गया है कि वह शुभ और अशुभ सभी प्रकार की सृष्टि करती है ।[८] इसी आधार पर बृहदारण्यक उपनिषद् में वाक्तत्त्व को सम्राट् और परम ब्रह्म माना गया है ।[९] तांड्य महाब्राह्मण में वाक्तत्त्व को शबली कहा गया है । सायण ने इसका अर्थ कामधेनु किया है । वाग्देवी मनुष्य की सभी कामनाओं को पूर्ण करती है, अतः वह कामधेनु है ।[१०]

३ख-१. प्रतिभात्मायम्० । वाक्य० १.११९

३ख-२. ऋग्वेद १०.१२५. १ से ८ । अथर्व० ४.३०.१ से ८

३ख-३. अहं रुद्रेभिर्वसुभिः० । ऋग्० १०.१२५.१

३ख-४. अहं राष्ट्री संगमनी वसूनाम्० । ऋग्० १०.१२५.२

३ख-५. तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् । अ० ४.३०.३

३ख-६. अहं द्यावापृथिवी आ विवेश । अ० ४.३०.५

३ख-७. अहमेव...आरभमाणा भुवनानि विश्वा । अ० ४.३०.८

३ख-८. इयं या परमेष्ठिनी वाक्० । अ० १९.९.३

३ख-९. वाग् वै सम्राट् परमं ब्रह्म । बृ०उप० ४.१

३ख-१०. वाग् वै शबली (कामधेनुः इति सायणः) ता०ब्रा० २१.३१

वाणी के चार भेद - अथर्ववेद में वाग्देवी का महत्त्व बताते हुए कहा गया है कि वह सर्वत्र व्याप्त है। उसके समुद्र अर्थात् विस्तृत वाङ्मय सर्वत्र फैले हुए हैं।[११] ऋग्वेद के एक मंत्र में वाणी के चार भेदों का उल्लेख है। ये हैं- परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। परा वाक् वाणी का नित्यरूप है, जो अक्षय अनादि और अनन्त है। मन में विचारों का उठना पश्यन्ती अवस्था है। वाणी द्वारा विचारों को व्यक्त करने के लिए जो प्रयत्न होता है, वह मध्यमा अवस्था है। ये तीन अवस्थाएं गुप्त हैं। वाणी द्वारा वर्णों का उच्चारण वैखरी अवस्था है। इसका ही संसार में उपयोग होता है।[१२]

(ग) काल का महत्त्व

काल क्या है ? समय (Time) की समष्टि का नाम काल है। समय का ही व्यापक रूप काल है। यह शाश्वत नित्य और अनादि है। समय का यह नित्य रूप ही काल है। इसका अनित्य रूप समय है। यह घंटा-मिनट-सेकण्ड, दिन-रात, वसन्त-ग्रीष्म आदि के रूप में परिवर्तनशील है। इससे ही अहोरात्र, ऋतु-चक्र, संवत्सर-चक्र, युग आदि बदलते रहते हैं। यह समय का ही महत्त्व है कि संसार उत्पन्न होता है और नष्ट होता है। जीवन-मरण समय के कारण ही होता है। समय के कारण ही उत्थान-पतन, उन्नति-अवनति और विकास-ह्रास होता है। समय ही सब कुछ करता और कराता है। समय संसार का स्वामी है। अथर्ववेद के दो सूक्तों में ये ही भाव वर्णित हैं।[१]

काल सर्वोच्च शक्ति - काल संसार का स्वामी है।[२] वह ब्रह्म है। वह ब्रह्मरूप होकर प्रजापति का भी पालक है।[३] काल से ही ब्रह्म की उत्पत्ति हुई है। जिसको हम स्वयंभू कश्यप कहते हैं, उस स्वयंभू कश्यप की भी उत्पत्ति काल से ही हुई है।[४]

काल से सृष्टि की उत्पत्ति - काल से ऋग्वेद, यजुर्वेद आदि वेद उत्पन्न हुए हैं।[५] काल से ही वर्तमान, भूत और भविष्य उत्पन्न हुए हैं।[६] काल से जल, दिशाएं आदि उत्पन्न हुई हैं।[७] काल से द्युलोक और पृथिवी की उत्पत्ति हुई है।[८] काल के नियन्त्रण से ही सूर्य

३ख-११. तस्याः समुद्रा अधि वि क्षरन्ति। अ० १३.१.४३

३ख-१२. चत्वारि वाक् परिमिता पदानि०। ऋग्० १.१६४.४५

३ग-१. अथर्व० १९ सूक्त ५३.१ से १०, ५४.१ से ५।

३ग-२. कालो ह सर्वस्येश्वरः०। अ० १९.५३.८

३ग-३. कालो ह ब्रह्म भूत्वा०। अ० १९.५३.९

३ग-४. स्वयंभूः कश्यपः कालात्०। अ० १९.५३.१०

३ग-५. कालाद् ऋचः...यजुः कालादजायत। अ० १९.५४.३

३ग-६. अ० १९.५४.३

३ग-७. अ० १९.५४.१

३ग-८. अ० १९.५३.५

उदय होता है और अस्त होता है । काल से ही वायु में गति है । काल से ही द्युलोक और पृथिवी का महत्त्व है ।[९] काल में अथर्वा (अथर्वन्), अंगिरा (अंगिरस्) आदि ऋषि हैं । काल में सारे लोक हैं ।[१०]

काल संसार का पालक - काल सारे संसार का पालक है । वह सारे संसार में व्याप्त है । वही पिता और पुत्र के रूप में जन्म लेता है । उससे बढ़कर और कोई ज्योतिपुंज नहीं है ।[११] काल एक घोड़े के तुल्य है । वह संसाररूपी रथ को खींच रहा है । उसकी हजारों आंखें हैं । वह बहुत बलशाली है । उसके रथ की धुरी कभी नहीं टूटती ।[१२]

(घ) विविध

ओदन (स्वर्गौदन) - अथर्ववेद के एक सूक्त में स्वर्गौदन का वर्णन है ।[१] यह स्वर्गरूपी ओदन (भात) क्या है ? यह है स्वर्गीय या दिव्य सुखों को भोगने का सरल उपाय। यह स्वर्गीय ओदन है ज्ञानरूपी अन्न, जिसको खाकर मनुष्य जीवन में सदा सुखी रहता है । इस ज्ञानरूपी अन्न को अमृत कहा गया है ।[२] इस ओदन को बुद्धिरूपी माता सदा पकाती रहती है ।[३] इसका उद्देश्य बताया गया है - मानसिक और वाचिक पापों से मुक्त होना और स्वर्गीय सुखों की प्राप्ति ।[४] यह ज्ञानरूपी ओदन सैकड़ों प्रकार का सुख देने वाला है । इसका महत्त्व द्यावापृथिवी में सर्वत्र है । यह सब सुखों से बढ़कर दिव्य सुख है । अतएव इसे स्वर्गौदन कहा जाता है ।[५]

इस स्वर्गरूपी ओदन की प्राप्ति के कुछ उपाय भी बताए गए हैं । इनमें मुख्य हैं :-

१. इस लोक को सत्य मानते हुए कठोर परिश्रम करना । जो दम्पती कठोर परिश्रम करते हुए जीवन-यापन करते हैं । उन्हें ही यह दिव्य अन्न या दिव्य सुख मिलता है ।[६]

२. जीवन में तप और सत्य को अपनाना । जीवन को तपस्वी बनाना और व्यवहार में सत्य को अपनाना ।[७] इसी सन्दर्भ में कहा गया है कि चाहे धन के लोभ में, सभा-समिति

३ग-९.अ० १९.५४.१ से २
३ग-१०.अ० १९.५४.४ से ५
३ग-११.अ० १९.५३.४
३ग-१२.अ० १९.५३.१ से २
३घ-१.अथर्व० १२.३.१ से ६०
३घ-२.अमृतं यमाहुः । अ० १२.३.४
३घ-३.अ० १२.३.४
३घ-४.अ० १२.३.५
३घ-५.स ओदनः शतधारः स्वर्गः० । अ० १२.३.५
३घ-६.एतं लोकं श्रद्दधानाः सचन्ते । अ० १२.३.७
३घ-७.तं नस्तप उत सत्यं च वेत्तु । अ० १२.३.१२

में या द्यूत आदि में जो असत्य बोला जाता है, उसका परित्याग इस दिव्य ओदन की प्राप्ति के लिए आवश्यक है ।[८]

३. जीवन को यज्ञमय बनाना । परोपकार, दान, धार्मिक कार्य आदि से शरीर यज्ञमय होता है । त्यागी, परोपकारी, दानी, सत्यनिष्ठ ही स्वर्गीय सुख के पात्र होते हैं ।

४. राष्ट्रीय और सामाजिक उन्नति की कामना । अपना देश उन्नत और विकसित हो, सब सुखी हों, देश का निरन्तर विकास हो, इस भावना से ही कार्य करने से यह दिव्य सुख मिलता है ।[१०]

५. पवित्र भावों को हृदय में स्थान देना । राक्षसी या पाप की भावनाओं के त्याग और शुद्ध सात्विक विचार रखने से इस पवित्र स्वर्गीय ओदन को प्राप्त किया जा सकता है ।[११]

श्रेय और प्रेय - श्रेय और प्रेय क्या हैं ? कठ उपनिषद् में इनका बहुत विस्तार से वर्णन है । संक्षेप में भौतिक उन्नति, भौतिक सुख-सुविधा और भौतिकवाद प्रेय है । यह सांसारिक सुख देता है, भौतिक कामनाओं को पूर्ण करता है और बाह्य जगत् की उपलब्धियों तक सीमित रहता है । इसको ही प्रवृत्ति मार्ग भी कहा जाता है । श्रेय अध्यात्म-मार्ग है । इसमें आध्यात्मिक उन्नति, आत्मिक विकास, मनोबल प्राप्त करना, आत्मदर्शन या ब्रह्म-साक्षात्कार सम्मिलित है । इसको निवृत्ति मार्ग भी कहा जाता है । कठोपनिषद् में वर्णन किया गया है कि श्रेय और प्रेय दो मार्ग हैं । दोनों के फल पृथक्-पृथक् हैं । जो श्रेय को अपनाते हैं, उनका मार्ग प्रशस्त होता है और जो प्रेय को अपनाते हैं, वे अपने लक्ष्य से च्युत हो जाते हैं ।[१२] अन्य श्लोक में वर्णन किया गया है कि श्रेय और प्रेय दोनों मनुष्य के सामने आते हैं । विद्वान् व्यक्ति इनके गुण-दोषों का विवेचन करता है । वह प्रेय की अपेक्षा श्रेय को उत्कृष्ट मानता है । वह आत्मज्ञान, आत्मदर्शन और मोक्ष के लिए श्रेय मार्ग को अपनाता है । मन्दबुद्धि व्यक्ति अपनी आजीविका, जीवन-निर्वाह एवं भौतिक उन्नति को लक्ष्य में रखकर प्रेय मार्ग को ही अपनाता है ।[१३]

अथर्ववेद में इसका संक्षिप्त उल्लेख है । प्रेय के लिए भद्र शब्द दिया गया है, जिसका अर्थ है- सुखद, कल्याणकारी । मंत्र में कहा गया है कि भद्र से उत्कृष्ट श्रेय मार्ग है । उसको अपनाना चाहिए । साथ ही कहा गया है कि बृहस्पति या ज्ञानी पुरुष इस विषय

३घ-८. यद् वा वदा अनृतं वित्तकाम्या । अ० १२.३.५२

३घ-९. यज्वनामभिजिताः स्वर्गा० । अ० १२.३.६

३घ-१०. उत्तरं राष्ट्रं प्रजया-उत्तरावद्० । अ० १२.३.९

३घ-११. पूतः पवित्रैरप हन्तु रक्षः । अ० १२.३.१४

३घ-१२. तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति० । कठ उप० १.२.१

३घ-१३. श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते० । कठ उप० १.२.२

में हमारा मार्गदर्शन करें ।[१४] इसका अभिप्राय है कि श्रेयमार्ग उत्तम अवश्य है, परन्तु सुख-सुविधा वाला नहीं है । इसमें त्याग, तप, मनोनिग्रह, संयम और सात्त्विक भावनाओं की आवश्यकता होती है । जिनमें सात्त्विक भावना, कष्ट-सहिष्णुता, धैर्य और मनन-चिन्तन की भावना नहीं है, वे इसमें विशेष प्रगति नहीं कर सकते । इसमें साधना, धारणा और ध्यान की आवश्यकता होती है । इसके लिए एक अनुभवी साधक व्यक्ति मार्गदर्शक चाहिए । यह आत्मिक शान्ति और आनन्द का मार्ग है । इससे ज्ञानी, योगी, मुनि, सिद्ध और महर्षि बनते हैं ।

संसार मिथ्या नहीं है - वेद संसार को मिथ्या, असत्य या केवल माया नहीं मानते । 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' इस शांकर वेदान्त मत के समर्थक नहीं हैं । संसार अनित्य और नश्वर है, यह सभी मानते हैं, परन्तु असत्य या मिथ्या कहना उचित नहीं है । अथर्ववेद ने स्पष्ट किया है कि यह संसार, भूलोक, द्युलोक और सभी पर्वत आदि स्थिर एवं स्थायी हैं । इसी प्रकार राजा भी अपने राज्य में स्थिर रहता हुआ प्रशासन करे।[१५]

संसार दुःखमय है - अथर्ववेद के एक सूक्त के चार मंत्रों में वर्णन किया गया है कि यह संसार या भूमि सर्वथा दुःखमय है । यह जरा, मृत्यु, रोग, शोक और नाना प्रकार की विपत्तियों से परिपूर्ण है । यह संसार मानव को मृत्यु के बन्धन में डालता है । इससे बचाव का एक ही उपाय है - यज्ञ ।[१६] यज्ञ मानव को स्वस्थ एवं नीरोग बनाता है । उसे दीर्घायु करता है और विविध विपत्तियों से मुक्त करके उसे अमृतत्व की ओर ले जाता है। मंत्रों में निर्ऋति शब्द का प्रयोग है । निर्ऋति शब्द का अर्थ है - घोर विपत्ति, विनाश, महाकष्ट या सर्वनाश । भूमि या संसार को इस विनाश का कारण बताया गया है, अतएव इसे दुःखमय माना गया है ।

संसार इन्द्रजाल है - अथर्ववेद के एक सूक्त में विस्तार से इन्द्र के जाल का वर्णन किया गया है । जिस प्रकार जाल में पक्षियों और मछलियों आदि को फंसाया जाता है, उसी प्रकार सारे संसार में इन्द्र का यह जाल फैला हुआ है । इसमें न केवल इन्द्र के शत्रु ही फंसते हैं, अपितु चतुर, ज्ञानी और साधक तक इसमें फंस जाते हैं । यह इन्द्रजाल माया का जाल है । संसार में माया और ममता का यह जाल ऐसा फैला हुआ है कि कोई विषय-वासनाओं में फंसा है, कोई द्यूत आदि दुर्गुणों में फंसा है, कोई मदिरा आदि में फंसा है और कोई धन-सम्पत्ति के लोभ में फंसा हुआ है । अतएव मंत्रों में कहा गया है कि इन्द्र के जाल में सैकड़ों नहीं, अपितु लाखों-करोड़ों और अरबों शत्रु फंसे हुए हैं और वह इन्द्र इन दुर्गुणों के कारण उनका संहार करता है ।[१७]

३घ-१४. भद्रादधि श्रेयः प्रेहि० । अ० ७.८.१

३घ-१५. ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी, ध्रुवं विश्वमिदं जगत् । अ० ६.८८.१

३घ-१६. निर्ऋतिरिति त्वाहं परि वेद सर्वतः । अ० ६.८४.१ से ४

३घ-१७. बृहत् ते जालं .....शतं सहस्रमयुतं न्युर्बुदं जघान० । अ० ८.८.७

यह इन्द्रजाल माया का जाल है । भौतिक विषय-वासनाएं अप्रबुद्ध जनों का मन हर लेती हैं और वे अपने लक्ष्य से च्युत हो जाते हैं । यजुर्वेद में इसी भाव को व्यक्त करते हुए कहा गया है कि सुनहरी पात्र से सत्य का मुख ढंका हुआ है, अर्थात् बाह्य भोग, सौन्दर्य और भौतिक आकर्षण सत्य को छिपाए हुए हैं, जो इस आकर्षण में नहीं फंसता वह सत्य-स्वरूप परमात्मा के दर्शन कर पाता है ।[१८]

अथर्ववेद में इस इन्द्रजाल का वर्णन करते हुए कहा गया है कि पूरा अन्तरिक्ष एक महाजाल है और चारों दिशाएं इस जाल को रोकने के चार डंडे हैं । यह जाल फैलाकर ईश्वर (इन्द्र) शत्रुसेना को नष्ट करता है ।[१९] एक अन्य मंत्र में कहा गया है कि यह सारा संसार ही इन्द्र का महाजाल है । इस मायाजाल से इन्द्र सारे लोगों को घोर अन्धकार के मार्ग में डाल देता है ।[२०] इसका अभिप्राय है कि भोग, वासना और माया का यह जाल, मन्दबुद्धि व्यक्तियों को भोगों में फंसा देता है और वे अपने जीवन का लक्ष्य भूल जाते हैं, अतः वे दुःख कष्ट और मृत्यु के बन्धन में फंस जाते हैं । जो इस इन्द्रजाल को तोड़ देते हैं, वे सत्यस्वरूप ब्रह्म का दर्शन करते हैं और आत्मसाक्षात्कार के द्वारा मोक्ष प्राप्त करते हैं ।

इन्द्रजाल में फंसने का कुपरिणाम बताया गया है - अत्यधिक थकान, निःश्रीकता, अवर्णनीय दुःख, विषाद, आलस्य और मोह ।[२१] इसका अभिप्राय है कि संसार में दो मार्ग हैं - १. जीवन का मार्ग, २. मृत्यु का मार्ग । इन्द्रजाल, मायाजाल, मोह, ममता आदि में फंसना मृत्यु का मार्ग है । यह जीवन को नष्ट करता है, असामयिक मृत्यु का कारण बनता है और आवागमन के बन्धन में डालता है । इससे छुटकारा पाना या इसमें न फंसना जीवन का मार्ग है । यह सत्य का मार्ग है । इसमें सत्यस्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति होती है, शाश्वत आनन्द मिलता है और व्यक्ति मोक्ष प्राप्त करता है ।

***

३घ-१८. हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् । यजु० ४०.१७

३घ-१९. अन्तरिक्षं जालमासीद्० । अ० ८.८.५

३घ-२०. अयं लोको जालमासीद्० । अ० ८.८.८

३घ-२१. सेदिरुग्रा......मोहश्च० । अ० ८.८.९

अध्याय - ११

आध्यात्मिक विद्याएं

१. मधुविद्या (मधुकशा)

ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद के कई सूक्तों में मधुविद्या का उल्लेख है ।[१] यहां पर इन सूक्तों का सारांश प्रस्तुत किया जा रहा है ।

मधुविद्या क्या है ? वेदों में मधुविद्या से क्या अभिप्राय है ? मधुविद्या को इतना महत्त्व क्यों दिया गया है ? मधुविद्या मधुरता की विद्या है । स्वयं मधुर बनना और दूसरे को मधुर बनाना । मंत्रों में शिक्षा दी गई है कि प्रकृति के सभी तत्त्व मधुरता का प्रसार करते हैं । उनमें न कहीं राग-द्वेष है, न घृणा । सूर्य, अग्नि, जल, वायु आदि सभी मधुरता देते हैं और मधुरता के लिए प्रेरणा देते हैं । राष्ट्र हो या समाज, सभी प्रेम, सुख और शान्ति चाहते हैं । सुख और शान्ति का सरल उपाय है - जीवन में माधुर्य लाना, राग-द्वेष, हिंसा-क्रूरता आदि का परित्याग । यदि ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, क्रूरता आदि का परित्याग कर दिया जाता है तो प्रेम, मित्रता, सहानुभूति और आत्मीयता के भाव जागृत होते हैं । इन गुणों की प्राप्ति और इनका समाज में प्रचार-प्रसार ही मधुविद्या है ।

मधुविद्या का आधार - मधुविद्या का आधार है - सत्यनिष्ठता, सदाचार और सात्त्विकता को अपनाना अतएव ऋग्वेद और यजुर्वेद में मधुविद्या की सफलता की पहली शर्त रखी गई है - 'ऋतायते'-अर्थात् सत्यनिष्ठता, पवित्रता, शुचिता । जहां मूल में सत्यनिष्ठता है, वहां माधुर्य है, प्रेम है और सद्गुणों का विकास । अतएव मंत्र में कहा गया है कि सत्यनिष्ठ के लिए वायु मधुर बहती है, समुद्र मधुरता प्रदान करते हैं । सभी वृक्ष-वनस्पतियां उसे मधुर फल देती हैं ।[२] अन्य मंत्र में कहा गया है कि सत्यनिष्ठ के लिए दिन-रात मधुरता प्रदान करते हैं । पृथिवी के कण-कण उसे माधुर्य प्रदान करते हैं । आकाश भी उसके लिए पिता के तुल्य मधुरता की वर्षा करता है ।[३] सूर्य, वृक्ष-वनस्पतियां और गाय आदि पशु उसे मधुरता प्रदान करते हैं ।[४] मित्र, वरुण, इन्द्र, बृहस्पति और विष्णु आदि सभी देवता उस पर कृपा दृष्टि रखते हैं, उसे सुख-शान्ति प्रदान करते हैं ।[५]

मधुविद्या और इक्षु (ईख) - अथर्ववेद का एक पूरा सूक्त 'मधुविद्या' है । इसमें पांच मंत्र हैं । इस सूक्त में 'इक्षु' (ईख, गन्ना) को आधार बनाकर मधुरता का उपदेश दिया गया है ।

१-१. ऋग्वेद १.९० । अथर्व० १.३४ । ९.१ । यजु० १३.२७ से २९

१-२. मधु वाता ऋतायते० । ऋग्० १.९०.६ । यजु० १३.२७

१-३. मधु द्यौरस्तु नः पिता । ऋग्० १.९०.७ । यजु० १३.२८

१-४. मधुमान् नो वनस्पतिः० । ऋग्० १.९०.८ । यजु० १३.२९

१-५. शं नो मित्रः शं वरुणः० । ऋग्० १.९०.९ । यजु० ३६.९

मंत्र में कहा गया है कि इस ईख में जन्मसिद्ध माधुर्य है । जिसको मधुरता की इच्छा होती है, वह इसे बोता है और काटता है । यह हमारे जीवन को मधुमय बनावे ।[६] मंत्र का अभिप्राय है कि संसार में मधुरता और कटुता, दोनों व्याप्त है । मनुष्य अपनी प्रकृति के अनुसार मधुरता या कटुता में एक को चुनता है । मधुरता या मधुर व्यवहार जीवन में माधुर्य लाता है । यह व्यक्तिगत जीवन में और समाज में सामंजस्य, सद्भाव, प्रेम और सहानुभूति उत्पन्न करता है । मानव का कर्तव्य है कि जीवन में सुख और शान्ति के लिए माधुर्य को अपनावे ।

इसी अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए द्वितीय मंत्र में बताया गया है कि हमारी जीभ के अगले और पिछले भाग में मधुरता हो अर्थात् जो कुछ भी मुंह से बोलें, मीठा बोलें, कहीं भी कटुता न हो । इसका फल बताया गया है कि यह एक प्रकार से वशीकरण मंत्र है। जिससे भी हम ऐसा व्यवहार करेंगे, वह आपका भक्त हो जाएगा, वह आपके अधीन हो जाएगा और आपके कथनानुसार व्यवहार करेगा ।[७] दूसरे का हृदय जीतने का यह सरलतम उपाय है ।

तृतीय मंत्र में भी यही अभिप्राय प्रकारान्तर से कहा गया है कि मेरा बाहर जाना और लौटना मधुरता से पूर्ण हो । मैं मधुर वाणी बोलूं और मधु के तुल्य मीठा होऊँ ।[८] मंत्र का अभिप्राय है कि मनुष्य की पूरी दिनचर्या मधुरता से पूर्ण हो । उठना, बैठना, मिलना, वार्तालाप आदि सभी बातों में मिठास हो । विवाद का कारण कटुवचन, व्यंग्य, ताना मारना आदि हैं । इन दुर्गुणों से बचें । अपने मुंह से ऐसी कोई बात न कहें, जिससे दूसरे के हृदय को चोट पहुंचे, अतएव कहा गया है कि मैं मीठा बोलूँ और मधु के तुल्य मीठा बनूं। मधुर व्यवहार में आकर्षण है, वह दूसरे का हृदय जीत लेता है ।

चतुर्थ मंत्र में भी कहा गया है कि मैं मधु से भी मधुर हो जाऊँ । मदुघ (मुलहठी, जेठीमध) से भी अधिक मधुर होऊँ । मधुर रस से युक्त वृक्ष की शाखा को सभी चाहते हैं, वैसे मुझे सब लोग चाहें ।[९] सभी को मधुरता प्रिय है, अतः मधुर व्यवहार वाला व्यक्ति सरलता से लोकप्रिय हो जाता है ।

पंचम मंत्र में एक महत्त्वपूर्ण बात कही गई है कि यदि माधुर्य का प्रचार-प्रसार करना हो तो अपने चारों ओर का वातावरण ही मधुर बनावे । इसके लिए उदाहरण दिया है कि अपने चारों ओर इक्षु (गन्ने) की बाड़ लगावे ।[१०] जो आपके पास आवे, उसे सब ओर प्रेम और माधुर्य दिखाई पड़े । वह स्वयं ही अपनी कटुता छोड़ने को बाध्य हो जावे। मधुर-व्यवहार के प्रचार-प्रसार का यह अनोखा उपाय वेद ने सुझाया है ।

१-६. सा नो मधुमतस्कृधि । अ० १.३४.१

१-७. जिह्वाया अग्रे मधु० । अ० १.३४.२

१-८. वाचा वदामि मधुमद्० । अ० १.३४.३

१-९. मधोरस्मि मधुतरः० । अ० १.३४.४ १-१०. इक्षुणागामविद्विषे० । अ० १.३४.५

मधुविद्या या मधुकशा - अथर्ववेद के एक सूक्त में मधुविद्या या मधुकशा का विस्तृत विवेचन हुआ है ।[११] इसके २४ मंत्रों में मधुकशा की उत्पत्ति, मधुकशा का स्वरूप वर्णन, गाय के रूप में वर्णन और मधुर पदार्थों की गणना प्रस्तुत की गई है । अथर्ववेद में मधुविद्या को मधुकशा कहा गया है । मधुकशा का अर्थ है - मधुरता का छड़ी या चाबुक, मधुरता की मार । यह मधुरता की छड़ी जहां घूम जाती है, वहाँ मधुरता का साम्राज्य हो जाता है । प्रेम में आकर्षण और विस्तार है । प्रेम का व्यवहार प्रेम का वातावरण बनाता है। इसका ही यहां वर्णन है ।

मधुविद्या का स्वरूप - मधुविद्या तीनों लोकों में विद्यमान है । पृथ्वी को इसका दण्ड या आधार, अन्तरिक्ष को मध्यभाग और द्युलोक को शिरोभाग बताया है । विद्युत् का प्रकाश इसका तन्तुरूप है और यह मधुकशा सुनहरी रूप वाला बिन्दु है ।[१२] इसका अभिप्राय यह है कि द्युलोक भूमि और अन्तरिक्ष में सर्वत्र मधुरता का साम्राज्य है । विद्युत् का प्रकाश मधुरता का प्रकाश है और यह एक सुनहरी बूंद या तत्त्व है । मधुविद्या संसार में मधुरता फैला रही है ।

मधुकशा की उत्पत्ति - मधुकशा की उत्पत्ति द्युलोक, पृथिवी, अन्तरिक्ष, समुद्र, अग्नि और वायु से हुई है ।[१२] एक अन्य मंत्र में कहा गया है कि मधुकशा का जन्म अग्नि और वायु से हुआ है । यह मरुत् देवों की पुत्री है ।[१३] इसका अभिप्राय यह है कि संसार के समस्त पदार्थ सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु, मरुत् देवता आदि सभी देव संसार को धूप, शीतलता, गर्मी, वायु आदि पदार्थ देकर जन-कल्याण का काम कर रहे हैं । ये जीवन में माधुर्य का प्रसार कर रहे हैं, यही इनका परोपकार का कार्य है । इसी मधुरता के कारण ये सभी के प्रेरणा-स्रोत हैं ।

मधुकशा के गुण - मधुकशा अमृत है । यह जहाँ निवास करती है, वहां सुख, शान्ति और आनन्द का साम्राज्य होता है ।[१४] इसका अभिप्राय यह है कि जिस समाज या राष्ट्र में मधुरता, मधुर व्यवहार और माधुर्य या प्रेम है, वहां सारी जनता में हर्ष और उल्लास व्याप्त रहता है ।

एक अन्य मंत्र में मधुकशा का गुणगान करते हुए कहा गया है कि मधुकशा प्राण-स्वरूप है । इसमें अमृत भरा हुआ है ।[१५] इसका अभिप्राय यह है कि चाहे सामाजिक संगठन हो या राष्ट्रीय, यदि उसमें मधुरता, प्रेम, सामंजस्य और सद्भाव नहीं है तो वह संगठन सुदृढ़ नहीं हो सकता है । संगठन को शक्ति देने के कारण इसे प्राण कहा गया है। इसी प्रकार समाज और राष्ट्र को यह मधुरता अमरता प्रदान करती है, जीवनी शक्ति देती है

१-११.अथर्व० ९.१.१ से २४

१-१२.दिवस्पृथिव्या ......मधुकशा हि जज्ञे । अ० ९.१.१

१-१३.अग्नेर्वातान्मधुकशा हि जज्ञे० । अ० ९.१.३

१-१४.अमृतं वसानाम्० । अ० ९.१.१

१-१५.तत् प्राणस्तदमृतम्० । अ० ९.१.२

और नष्ट होने से बचाती है, अत: यह मधुरता अमृत है । एक अन्य मंत्र में इससे भी आगे बढ़कर मधुकशा को सूर्यों की माता, वसुओं की पुत्री, जनता का प्राण और अमृत का केन्द्र कहा गया है । इसे सर्वसुखदात्री बताया है और कहा है कि जहाँ यह निवास करती है, वहां जनता को तेजस्विता और वर्चस्विता रहती है ।[१६] मधुकशा को सूर्यों का माता कहना सार्थक है । मधुरता में संश्लेषण या मिलाने की शक्ति है । यह संश्लेषण शक्ति ही आकर्षण का रूप लेती है । सूर्य में आकर्षण शक्ति उसके माधुर्य के कारण है । जहां भी मधुरता होगी, वहां स्वत: आकर्षण शक्ति होगी । अत: मधुकशा को सूर्यों की माता या आधारशक्ति बताया गया है । पृथिवी, जल आदि पंचभूत वसु हैं, ये संसार को फल, फूल, जल, ताप, प्राण वायु आदि देते हैं । इनमें जीवनदान का माधुर्य भरा है, अत: मधुकशा को वसुओं की पुत्री कहा गया है । माधुर्य को जनता का प्राण कहने का अभिप्राय है कि जहां मधुरता होगी वहां जनता में प्रेम, सद्भाव, सहानुभूति आदि गुण होंगे, अत: मधुरता जनता का प्राण है। यह अमृत की नाभि या केन्द्र है । मधुरता में अमृत के तुल्य मिठास है और यह अमरत्व या स्थायित्व का साधन है । मधुरता को सुखों का साधन और तेजस्विता आदि गुणों का आधार बताया गया है । जहां मधुरता है, वहां प्रेम, ममता, सहानुभूति आदि गुण होंगे, जनता में शान्ति और व्यवस्था होगी, अत: वहां लोग तेजस्वी और वर्चस्वी होंगे ।

मधुकशा से वर्चस्विता - अथर्ववेद के तीन मंत्रों में मधुकशा को सोमरस के रूप में प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि प्रात: सवन में सोमरस अश्विनी देवों को अर्पित किया जाता है । मध्याह्न सवन में सोमरस अग्नि और इन्द्र को अर्पित किया जाता है तथा सायं सवन में सोमरस ऋभुदेवों को अर्पित किया जाता है, ये सभी देव सोमरस के माधुर्य से तृप्त होकर हमें वर्चस्विता प्रदान करें ।[१७]

मधुकशा गोरूप है - मधुकशा को गाय के तुल्य बताते हुए कहा गया है कि यह शक्ति और अन्नादि देने वाली है । यह यज्ञ आदि में उपस्थित होती है और दूध की धारा से तृप्त करती है ।[१८] इसका अभिप्राय यह है कि जैसे गाय अनेक प्रकार से समाज का कल्याण करती है । वह दूध देती है, स्वास्थ्य देती है, बुद्धि बढ़ाती है और शारीरिक न्यूनताओं को दूर करती है । उसी प्रकार मधुरता या मधुकशा सभी प्रकार से कल्याण करती है ।

मधुकशा सोमकलश है - अथर्ववेद में कहा गया है कि मधुकशा अक्षय सोमरस का कलश है । यह हृदय में विद्यमान है । ज्ञानी विद्वान् इस मधुकशा के मधुर रस को पीकर आनन्दित होते हैं ।[१९] इसका अभिप्राय यह है कि मनुष्य के हृदय में स्नेह, ममता,

---

१-१६. प्राण: प्रजानाम् अमृतस्य नाभि:० । अ० ९.१.४

१-१७. अथर्व० ९.१.११ से १३

१-१८. अथर्व० ९.१.८

१-१९. कलश: सोमधानो अक्षित: । अ० ९.१.६

सद्भावना आदि गुण सोमरस के तुल्य हैं । जो इस रस को पी लेते हैं, इसका उपयोग करते हैं, वे सदा प्रसन्नचित्त रहते हैं ।

मधुकशा विश्वरूप है – मधुकशा विश्वरूप है, अर्थात् इसके अनेक रूप हैं । इस मधुकशा के वशीभूत होकर माता बच्चे का पालन करती है । यह उत्पन्न होकर सारे संसार में फैल जाती है ।[२०] मधुकशा के विश्वरूप होने का अभिप्राय है कि मधुरता या प्रेम का कोई एक रूप नहीं है । स्नेह, सद्भाव, ममता, सहयोग, सहानुभूति, दान, दया, परोपकार आदि सभी प्रेम या सद्भाव के विभिन्न रूप हैं । पिता-पुत्र का प्रेम, माता-पुत्र का प्रेम, पति-पत्नी का प्रेम, शिक्षक और शिष्य का प्रेम, ये सभी मधुकशा या मधुरता के विभिन्न रूप हैं।

सात मधुर पदार्थ – अथर्ववेद में मधुर पदार्थों के रूप में सात वस्तुओं के नाम गिनाए गए हैं । ये हैं – ब्राह्मण, क्षत्रिय, गाय, बैल, जौ, चावल और मधु ।[२१] इनमें उदाहरण के रूप में २ वर्ण, २ पशु, २ अन्न और शहद का उल्लेख है । ये उदाहरण अग्नि-सोमीय दृष्टि से आग्नेय और सोमीय गुण वाले तीन युग्म (जोड़े) हैं और मधु स्वतंत्र रूप में मधुरता का उत्कृष्ट उदाहरण है । ब्राह्मण में सोम्यता है, वह ज्ञान का दान करता है और संसार का ज्ञान से उपकार करता है । राजा या क्षत्रिय में आग्नेय तत्त्व है, वह राष्ट्र की रक्षा करके जनता का हित करता है । यह पराक्रमरूपी माधुर्य राजा में हैं । गाय सोमीय तत्त्व है । यह दूध के द्वारा लोकहित करती है । बैल में आग्नेय तत्त्व पुंलिंगत्व है । वह कृषि द्वारा लोकहित करता है। चावल में सोमीय गुण है, अपान तत्त्व है, वह स्वास्थ्य और बुद्धि के लिए हितकर है, अतः लोकहित करता है । जौ में आग्नेय तत्त्व है, वह प्राणशक्ति देता है पुरुषार्थ और पराक्रम देता है । इस प्रकार जौ मानव मात्र का उपकार करता है । यह उसका माधुर्य है । मधु (शहद) स्वयं मधुर है । वह शत-प्रतिशत मधुर है । वह केवल लोकोपकार के लिए है । ये सातों पदार्थ मधुरता का उपदेश देते हैं ।

एक अन्य मंत्र में पर्वत, गाय, अश्व और वर्षा के जल में मधुरता का वर्णन किया गया है ।[२२] पर्वत खनिजों के स्रोत हैं । नदी-जल-प्रपात आदि के द्वारा विश्वहित करते हैं। वर्षा संसार के लिए वरदान है । उससे ही कृषि सफल होती है । वृक्ष-वनस्पति एवं जीव-जगत् जीवन प्राप्त करते हैं । वर्षा का जल अमृत है । अनेक रोगों की औषध है । लोक-कल्याण करना इनका माधुर्य है ।

जीवन में माधुर्य हो – पूरे सूक्त का सारांश देते हुए कहा गया है कि मनुष्य प्रकृति से माधुर्य, मधुर व्यवहार, लोक-हित और सोम्यता की शिक्षा ले । उसके व्यवहार में मधुरता हो, मन-वचन और कर्म में माधुर्य हो । वह जहां से भी मधुरता की शिक्षा मिले, ग्रहण करे । वह परिवार में, समाज में और देश में माधुर्य का प्रसार करे । इसका फल यह

१-२०. मधोः कशाम् ...अभवद् विश्वरूपः । अ० ९.१.५

१-२१. ब्राह्मणश्च राजा च धेनुश्च-अनड्वान् च, व्रीहिश्च यवश्च मधु सप्तमम् । अ० ९.१.२२

१-२२. यद् गिरिषु पर्वतेषु गोषु-अश्वेषु यन्मधु० । अ० ९.१.१८

होगा कि समाज में शौर्य, पराक्रम, ओजस्विता और वर्चस्विता आएगी ।[२३] अन्य मंत्र में कहा गया है कि इस माधुर्य गुण को अपनाने के कारण मैं व्यवहार में मधुर एवं तेजस्वी वाणी बोलूं ।[२४] माधुर्य के साथ भाषा में आकर्षण होता है । वह सद्भावना, प्रेम और सहानुभूति की भावना उत्पन्न करता है । मधुविद्या या मधुकशा का यही आदेश और उपदेश है ।

२. प्राण विद्या

प्राण का स्वरूप - प्राण क्या है ? प्राण जीवनी शक्ति है । यह विश्वव्यापिनी ऊर्जा है । यह ही प्राणि जगत् में जीवन-शक्ति देती है । इसकी सत्ता ही जीवन है, इसका अभाव मृत्यु है । जहाँ जीवन है, वहां प्राण है । इसके भी दो रूप हैं - १. समष्टि, २. व्यष्टि । समष्टि प्राण को ही महासत्ता, विराट् सत्ता, विश्वव्यापी ऊर्जा (Universal Energy) कहते हैं। यह चराचर जगत् को धारण करती है । व्यष्टि प्राण प्रत्येक जीव, प्रत्येक मनुष्य और प्रत्येक कीट-पतंग में व्याप्त है । इसके कारण ही व्यक्ति जीवित है, सांस लेता है प्रत्येक क्रिया करता है । अतएव अथर्ववेद में इसके विषय में कहा गया है कि यह सारी प्रजा का पालन करता है, जैसे पिता पुत्र की । यह चर-अचर जगत् का स्वामी है ।[१] दूसरे मंत्र में कहा गया है कि प्राण जीवन शक्ति देता है । यह ओषधि के तुल्य है । वह हमें जीवन शक्ति दे ।[२]

प्राण का महत्त्व - प्राण के विषय में कहा गया है कि सारा संसार उसके वश में है, वही सारे संसार का स्वामी है । उसमें ही सारा जगत् स्थित है ।[३] इसका अभिप्राय है कि प्राण के कारण ही संसार का अस्तित्त्व है । यदि प्राण न हो तो संसार का अस्तित्त्व ही समाप्त हो जाएगा । प्राण के लिए कहा गया है कि यह 'विश्वजन्मन्' अर्थात् संसार को जन्म देने वाला है । अर्थात् प्राण महासत्ता के रूप में सृष्टिकर्ता है । यदि प्राणशक्ति न हो तो जीवन ही नहीं होगा । अतः कहा गया है कि यह चेष्टा करने वाले या गतिशील सभी जीवों का स्वामी है । प्राण ही गतिदाता है, अतः इसे 'क्षिप्रधन्वन्' शीघ्र बाण फेंकने वाला धनुष् कहा गया है ।[४] अन्य मंत्र में बताया गया है कि प्राण कभी आलस्य नहीं करता है अर्थात् कभी नहीं रुकता । 'ब्रह्मणा धीरः' के द्वारा निर्देश है कि प्राण में जो भी शक्ति है, वह

१-२३. मधु जनिषीय मधु वंशिषीय० । अ० ९.१.१४

१-२४. यथा वर्चस्वतीं वाचमा वदानि जनाँ अनु । अ० ९.१.१९

२-१. प्राणः प्रजा अनु वस्ते० । अ० ११.४.१०

२-२. अथो यद् भेषजं तव० । अ० ११.४.९

२-३. प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे० । अ० ११.४.१

२-४. यो अस्य विश्वजन्मनः० । अ० ११.४.२३

२-५. अतन्द्रो ब्रह्मणा धीरः० । अ० ११.४.२४

आत्मिक शक्ति है, इसकी शक्ति अक्षय है ।[५] यह प्राण सदा जागरूक रहता है, यह कभी सोता नहीं है और न कभी चैन से बैठता है । जब सब सो जाते हैं, तब भी यह जागता रहता है और जीवन की निरन्तरता बनाए रखता है । यदि यह सो जाय तो जीवन ही समाप्त हो जाएगा । यह एक पहरेदार के तुल्य स्वयं जागते हुए सारे शरीर में गति का संचार करता है ।[६] प्राण वस्तुतः निष्काम स्वयं सेवक है । यह जीव-जगत् की सेवा करता है । न खाता है, न पीता है और न किसी से प्रत्युपकार चाहता है ।

प्राण का विराट् रूप - अथर्ववेद के कई मंत्रों में प्राण के विराट् रूप का वर्णन है । मंत्र में कहा गया है कि प्राण विराट् है, प्राण प्रेरक एवं निर्देशक है । प्राण ही प्रजापति, सूर्य और चन्द्रमा है ।[७] अन्तरिक्ष में व्याप्त वायु प्राण ही है । वायु को ही प्राण कहा जाता है । वर्तमान, भूत और भविष्य सब कुछ काल में ही रहते हैं ।[८] इसका अभिप्राय यह है कि कर्तृत्व, धर्तृत्व और भर्तृत्व शक्ति प्राण ही है । यही प्रत्येक जीव के जन्म का कारण है, अतः प्रजापति है । यह प्रकाश देता है, जीवन-ज्योति देता है, अतः सूर्य और चन्द्रमा है । सभी जीवों में जो कर्तृत्व शक्ति है, वह प्राण के कारण ही है । हमें जीवित रहने के लिए वायु चाहिए । वह प्राणशक्ति ही है । वर्तमान आदि तीनों कालों का अस्तित्व प्राण पर ही निर्भर है, अतः कहा गया है कि सारा संसार प्राण में ही प्रतिष्ठित है ।[९]

मंत्र का कहना है कि गर्भ में बालक का पलना, बढ़ना, श्वास लेना आदि कार्य तथा उसका गर्भ से बाहर आना, जन्म लेना आदि प्राणशक्ति के कारण ही है ।[१०]

प्राण के विविध रूप - प्राण शक्ति ही अनेक रूपों में जीवनी शक्ति के रूप में कार्य कर रही है । बादलों का गरजना, बरसना प्राणशक्ति का ही कार्य है । विद्युत् प्राण का ही एक रूप है । प्राणशक्ति के कारण ही वृक्ष-वनस्पतियों में अंकुर आते हैं । उनमें शक्ति और वृद्धि प्राण के कारण ही होती है । प्राणशक्ति के कारण ही वृक्षों का विकास होता है, उनका जीवन बढ़ता है और उनमें सुगन्ध एवं रूप-रस आता है ।[११]

प्राण-शक्ति वर्षा के रूप में है । यह न केवल वृक्ष-वनस्पतियों को ही जीवन-शक्ति देती है, अपितु मनुष्य, पशु-पक्षी आदि सारा जीव-जगत् वर्षा से लाभान्वित होता है। सभी आनन्दित और प्रफुल्लित होते हैं । सबको जीवन प्राप्त होता है और उनकी आयु बढ़ती है ।[१२]

२-६. न सुप्तमस्य सुप्तेषु० । अ० ११.४.२५
२-७. प्राणो विराट्......सूर्यश्चन्द्रमाः.....प्रजापतिम् । अ० ११.४.१२
२-८. प्राणमाहुर्मातरिश्वानम्० । अ० ११.४.१५
२-९. प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम् । अ० ११.४.१५
२-१०.अपानति प्राणति...गर्भे अन्तरा० । अ० ११.४.१४
२-११.अथर्व० ११.४.२ से ४
२-१२.पशवस्तत् प्र मोदन्ते० । अ० ११.४.५-६

प्राण में आग्नेय गुण है, अत: वह सूर्य के रूप में है । उसमें सोमीय गुण हैं, अत: वह चन्द्रमा है । मानव शरीर में जाठर-अग्नि (पेट में अग्नि) अग्नि का प्रतिनिधि है । इस जाठर अग्नि से ही भोजन पचता है और शरीर पुष्ट होता है । आंखों में ज्योति भी प्राणशक्ति के आग्नेय गुण के कारण है । मन चन्द्रमा का प्रतिनिधि है । मन में तीव्र गति, संकल्प-विकल्प की शक्ति प्राणशक्ति के कारण ही है ।[१३]

एक मंत्र में बताया गया है कि प्राणशक्ति के कारण ही पिता-माता के गुण उसकी संतान में आते हैं । पिता प्राणरूप होकर गर्भ जाता है और उसके गुण धर्म एवं संस्कारों का प्रभाव उस गर्भ पर पड़ता है । अंत: पुत्र पिता का प्रतिरूप होकर जन्म लेता है ।[१४]

एक अन्य मंत्र में बताया गया है कि जीवन, मृत्यु, रोग, शोक आदि प्राण के ही विभिन्न रूप हैं । सत्य, धर्म आदि सद्‌गुणों की सत्ता भी प्राण के कारण ही मानव शरीर में होती है । इस प्राणशक्ति के कारण ही सत्यवादी धार्मिक आदि की सद्‌गति होती है और उन्हें उत्तम लोक प्राप्त होते हैं ।[१५]

अन्नों आदि में आग्नेय और सोमीय गुण होना भी प्राणशक्ति का ही कार्य है । किसी अन्न में प्राणशक्ति है, जैसे जौ में प्राणशक्ति है और किसी में अन्न अपान शक्ति है, जैसे चावल में अपानशक्ति है । आग्नेय शक्ति शारीरिक बल और पौष्टिकता प्रदान करती है । जौ शारीरिक बल बढ़ाता है । सोमीय शक्ति बुद्धि को बल देती है । अत: चावल बुद्धिवर्धक है ।[१६]

प्राणशक्ति के गुण - प्राणशक्ति एक ओषधि या भेषज है । यह जीवन देती है और आयु की वृद्धि करती है ।[१७] यहां पर प्राण शब्द से प्राणायाम का अभिप्राय है । प्राणायाम के द्वारा शरीर की शुद्धि होती है, आन्तरिक मल नष्ट होते हैं, स्फूर्ति और ऊर्जा आती है, शरीर नीरोग रहता है । इसके द्वारा ही मनुष्य अपनी आयु बढ़ाता है और मृत्यु तक पर विजय प्राप्त करता है ।

प्राण में जीवनी शक्ति है । जब प्राण वर्षा के रूप में पृथ्वी पर बरसता है तो वृक्ष-वनस्पतियों में नवजीवन का संचार होता है । वे अंकुरित और विकसित होती हैं और सभी प्रकार के फल-फूल देती हैं । इसका ही दो मंत्रों में विशेष रूप से वर्णन है कि वर्षा होने से वृक्ष-वनस्पतियों में नवजीवन आता है, उनमें सुगन्ध आती है और उनका विकास होता है ।[१८] इसी प्रकार मानव-जगत् और पशु-पक्षी आदि भी सुवृष्टि से न केवल प्रसन्न होते हैं,

---

२-१३. अथर्व० ११.४.१२

२-१४. पिता पुत्रं प्र विवेशा शचीभि: । अथर्व० ११.४.२०

२-१५. प्राणो मृत्यु: प्राणस्तक्मा० । अ० ११.४.११

२-१६. यवे ह प्राण अहित:० । अ० ११.४.१३

२-१७. अथो यद् भेषजम्० । अ० ११.४.९

२-१८. ओषधय: प्रजायन्ते० । अ० ११.४.१७

अपितु वे उत्सव का सा आनन्द प्राप्त करते हैं । वे वर्षा से नवीन उत्साह और स्फूर्ति प्राप्त करते हैं ।[१९]

प्राण और अपान - प्राण के दो रूप हैं - १. धनात्मक (Positive), २. ऋणात्मक (Negative) । प्राण मानव शरीर में श्वास के रूप में जब अन्दर जाता है तो वह प्राणशक्ति का धनात्मक रूप है । वह फेफड़ों और हृदय को पुष्ट करता है, रक्त में लाल कणों की वृद्धि करता है और नीरोगता प्रदान करता है । प्राणं जब मल-मूत्र आदि के रूप में शरीर से बाहर जाता है, तब यह ऋणात्मक अपान शक्ति है । यह शरीर के मल को बाहर निकालता है । यह प्रक्रिया जीवन भर चलती रहती है । इसी प्रकार श्वास जब बाहर निकलता है तो यह प्राणशक्ति का ऋणात्मक रूप है । यह शरीर से दूषित वायु (Carbon Dioxide) को बाहर निकालता है और शरीर को शुद्ध करता है ।[२०]

प्राण और अपान ये दोनों सदा एक साथ रहते हैं । प्राण में आग्नेय गुण हैं और अपान में सोमीय गुण । अतएव ऐतरेय ब्राह्मण में प्राण-अपान को अग्नि-सोम (अग्नीषोम) कहा गया है ।[२१] अग्नि और सोम का जोड़ा है । ये दोनों शक्तियां सदा साथ रहती हैं । एक शक्ति गति देती है और दूसरे में उसका उपयोग होता है । एक पोषण करती है तो दूसरी शोधन करती है और मल निकालती है । इन दोनों शक्तियों के संयोग से ही संसार की रचना होती है ।[२२] ब्राह्मण ग्रन्थों में प्राण को मित्र और अपान को वरुण कहा गया है ।[२३] इसका अभिप्राय यह है कि प्राण धनात्मक शक्ति है, यह पोषक तत्त्व है, मित्र है अर्थात् सूर्य के तुल्य शक्ति प्रदान करता है । अपानशक्ति ऋणात्मक है, शोधक है, वरुण अर्थात् जल देवता के तुल्य शोधक है । प्राण और अपान सदा साथ रहते हैं, अतः इन्हें 'अश्विनौ' या अश्विनी कुमार कहा जाता है । शतपथ ब्राह्मण में प्राण-अपान को नासिका के दोनों छिद्रों में निवास के कारण 'अश्विनौ' कहा गया है ।[२४] दाहिना छिद्र धनात्मक है, अतः प्राण है, और बायां छिद्र ऋणात्मक है, अतः अपान है । दोनों सदा साथ रहते हैं, अतः 'अश्विनौ' (अश्विनी कुमार) हैं । वेदों में 'प्राणापानौ' कहकर इनका एक साथ उल्लेख मिलता है ।[२५]

प्राण के पांच भेद - मानव शरीर में प्राण के पांच भेद बताए गए हैं । स्थान-भेद और कार्यभेद के कारण ये पांच प्राण हैं - प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान । प्राण वायु का स्थान हृदय है । यह रक्त-संशोधन, रक्त-संचालन और ऊर्जा प्रदान करने का

२-१९. सर्वं तदा प्र मोदते० । पशवस्तत् प्र मोदन्ते० । अ० ११.४.४- ५

२-२०. नमस्ते प्राण प्राणते नमस्ते अस्त्वपानते । अ० ११.४.८

२-२१. प्राणापानौ....अग्नीषोमौ । ऐत० ब्रा० १.८

२-२२. अग्नीषोमात्मकं जगत् । बृहत् जाबाल उप० २.४

२-२३. प्राणापानौ मित्रावरुणौ । तैत्ति० ब्रा० ३.३.६.९

२-२४. नासिके अश्विनौ । शत०ब्रा० १२.९.१.१४

२-२५. प्राणापानौ । अ० ११.८.४ और २६

स्रोत है । अपान वायु का स्थान गुदा-प्रदेश है । यह मल-मूत्र आदि के द्वारा शरीर को स्वच्छ बनाता है । समान वायु का स्थान नाभि है । यह केन्द्रीय प्राण वायु है । यह सभी प्राण वायुओं में समन्वय स्थापित करती है और उनको यथास्थान व्यवस्थित करती है । उदान वायु कंठ में स्थित है । यह मस्तिष्क के क्रिया कलाप का संचालन करती है । व्यान वायु सारे शरीर के बाह्य भाग में विद्यमान है । यह सारे शरीर के रक्त-संचार को नियन्त्रित करती है । अतः इन पांच प्राणों के विषय में कहा गया है -

हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिमण्डले ।
उदानः कण्ठदेशस्थो व्यानः सर्वशरीरगः ।।

अथर्ववेद के दो मंत्रों में इनका उल्लेख है । एक मंत्र में प्राण, अपान, व्यान और समान इन चार का उल्लेख है ।[26] अन्यत्र 'व्यानोदानौ' कहकर व्यान के साथ उदान का भी उल्लेख है ।[27] इस प्रकार ये ५ वायुएं स्थानभेद से पृथक्-पृथक् कार्य करती हैं ।

प्राण और प्राणायाम - अथर्ववेद में प्राणायाम की विधि संक्षेप में दी गई है । इसके लिए चार शब्दों का प्रयोग किया गया है । ये हैं - **१. आयत्** - सांस अन्दर भरना। इसको योगदर्शन में 'पूरक' कहा गया है । **२. तिष्ठत्** - रुकना अर्थात् अन्दर खींचे हुए सांस को अन्दर ही रोकना । वह 'आभ्यन्तर कुम्भक' है । **३. परायत्** - अन्दर खींचे हुए सांस को बाहर निकालना । इसे 'रेचक' कहते हैं । **४. आसीन**- बाहर निकलते हुए सांस को बाहर ही रोकना । इसको 'बाह्य कुम्भक' कहते हैं ।[28] योगदर्शन में प्राणायाम की पूरी विधि का विस्तार से वर्णन है ।[29]

प्राण की विविध शक्तियां - अथर्ववेद में एक 'विश्वप्राण' सूक्त है । इसमें प्राण की ११, २२ और ३३ शक्तियां बताई गई हैं ।[30] यहां पर ११ शक्तियों का अभिप्राय है - ५ ज्ञानेन्द्रियां, ५ कर्मेन्द्रियां और १ मन । ये प्राण की ११ शक्तियां हैं । २२ शक्तियों से अभिप्राय है - ११ स्थूल शरीर की पूर्वोक्त शक्तियां और ११ सूक्ष्म शरीर की शक्तियां । ३३ शक्तियों का अभिप्राय है - मेरुदण्ड के घटक ३३ गोटी या कशेरु (Vertebrae) ये शरीरतंत्र के संचालक हैं । सारा शरीर इस मेरुदण्ड के द्वारा संचालित होता है । इनको ही ३३ देवता भी कहा जाता है । ये गर्दन में ७, पीठ में १२, कमर में ५, मिक में ५ और बस्ति प्रदेश में ४ हैं । ये प्राण के शक्ति-केन्द्र हैं ।[31]

२-२६.प्राणम्, अपानम्, व्यानम्, समानम्० । अ० १०.२.१३
२-२७.व्यानोदानौ । अ० ११.८.४ और २६
२-२८.आयते, परायते, तिष्ठते, आसीनाय । अ० ११.४.७
२-२९.योगदर्शन २.४९ से ५१
२-३०.एकया च दशभिः, द्वाभ्यां विंशत्या च, तिसृभिः त्रिंशता च । अ० ७.४.१
२-३१.विस्तृत विवरण के लिए देखें - लेखक कृत 'साधना और सिद्धि' पृष्ठ ६४ से ७०

आठ चक्र - अथर्ववेद के एक मंत्र में वर्णन किया गया है कि प्राण की एक अक्ष (धुरी) है, उसके सहस्त्र अक्षर अर्थात् प्रसार मार्ग हैं। वह आगे-पीछे अर्थात् नीचे-ऊपर गति करता है। उसके आधे भाग से सारा संसार बना है और उसका आधा भाग आत्मज्ञान से जाना जाता है।[32] प्राण का मुख्य केन्द्र हृदय है। हृदय से निकलने वाली नाड़ियां सहस्त्रों धाराएं हैं। प्राण ऊपर मस्तिष्क से लेकर पैर तक नीचे-ऊपर गति करता है। इसके आधे भाग का सम्बन्ध भौतिक जगत् से है। उससे यह सारे संसार की रचना करता है। इसके आधे भाग का सम्बन्ध आत्मा से है। जब वह परमात्मा का दर्शन या आत्म-साक्षात्कार कर लेता है, तब उस आधे भाग का ज्ञान होता है। शरीर में प्राण के ८ प्रमुख केन्द्र हैं। इनको ही चक्र कहते हैं। चक्र कहने का अभिप्राय यह है कि इन केन्द्रों पर चारों ओर से नाड़ियां आती हैं और पुनः इधर-उधर जाती हैं। बिजली के खंभे के तुल्य नाड़ियों का समूह वहां एकत्र होता है और इष्ट दिशा में जाता है। इन चक्रों पर ध्यान केन्द्रित करने से वहां ज्योति जागृत होती है और चक्र पर पड़ी हुई ग्रन्थियां खुलती हैं, तथा उनसे ज्योति प्रकट होती है। प्रत्येक चक्र में नाना प्रकार की अद्‌भुत ग्रन्थियां है।

इन आठ चक्रों में से योगशास्त्र में सात ही प्रमुख रूप से वर्णित हैं। आठवां चक्र सूर्यचक्र है। वह नाभि और हृदय के मध्य है। शेष सात का संक्षिप्त विवरण यह है।[33]

१. मूलाधार चक्र (Coccygeal Plexus) - यह गुदा से दो अंगुल ऊपर है। यहां कुण्डलिनी शक्ति सोए हुए सांप की तरह कुंडली मारकर सोई हुई है। ध्यान से इसे जागृत किया जाता है। यह आरोग्य, प्रसन्नचित्तता और काव्य संगीत आदि में निपुणता देता है। यह वीर्य को स्थिर रखता है।

२. स्वाधिष्ठान चक्र (Sacral Plexus) - यह मूलाधार चक्र से दो अंगुल ऊपर मूत्रेन्द्रिय के समीप है। इस पर ध्यान केन्द्रित करने से कामवासना शान्त होती है। शरीर के रोग और थकावट दूर होती है।

३. मणिपूर चक्र (Solar Plexus) - इसे 'नाभिचक्र' भी कहते हैं। यह नाभि में है। इस पर ध्यान केन्द्रित करने से मन की चंचलता दूर होती है और तेजस्विता आती है।

४. अनाहत चक्र (Cordiac Plexus) - इसको हृत्-चक्र, हृदय-कमल भी कहते हैं। यह छाती में दोनों फुफ्फुसों के बीच में है। यह जीवात्मा का निवास-स्थान माना जाता है, इस पर ध्यान केन्द्रित करने से कवित्वशक्ति, जितेन्द्रियता और भक्ति-भावना प्राप्त होती है।

५. विशुद्ध चक्र (Carotid Plexus) - यह कंठकूप (गले के मध्य में कोमल स्थान) में स्थित है। इस पर ध्यान केन्द्रित करने से भूख-प्यास नहीं लगती। इसको विशुद्धि चक्र भी कहते हैं।

२-३२. अष्टाचक्रं वर्तत एकनेमि०। अ० ११.४.२२

२-३३. विशेष विवरण के लिए देखें - लेखक कृत 'साधना और सिद्धि' पृष्ठ ७१ से ७४

६. **आज्ञाचक्र** (Cerebral Plexus) - यह दोनों भ्रुवों के मध्य भृकुटी के अन्दर स्थित है। इस पर ध्यान केन्द्रित करने से दिव्य दृष्टि एवं सिद्धियां प्राप्त होती हैं।

७. **सहस्रार चक्र** (Cerebellum Plexus) - इसको 'ब्रह्मरन्ध्र' भी कहते हैं। यह दोनों कनपटियों से दो-दो इंच अन्दर और कोमल तालु से लगभग दो अंगुल ऊपर है। यह ज्योतिपुंज के रूप में है। यह मस्तिष्क का केन्द्र है। इससे सहस्रों शक्ति की धाराएं प्रवाहित होती हैं, अतः इसे सहस्रार चक्र कहते हैं। इस पर ध्यान केन्द्रित करने से आत्मिक आनन्द और सिद्धियां प्राप्त होती हैं।

प्राण हंस है - अथर्ववेद के एक मंत्र में प्राण को हंस (आत्मा, जीवात्मा) बताते हुए कहा गया है कि यह शरीर में हंस की तरह निर्लिप्त होकर रहता है। यह जब तक शरीर में है, तब तक जीवन है। इसके उड़ जाते ही प्राणी मृत हो जाता है। यह हंस उड़ते समय एक पैर उठाता है और अन्य योनि में स्थान बनाकर फिर दूसरा पैर पूर्ण रूप से उठाता है।[३४] प्राण को हंस के तुल्य बताने का अभिप्राय है कि आत्मा कर्मभोग से लिप्त नहीं है। वह शुद्ध निष्काम और निर्लिप्त है। जल में रहते हुए भी हंस पर जल आदि का प्रभाव नहीं होता। इसी प्रकार जीवात्मा पर कर्मों के प्रभाव नहीं होते।

३. आत्मविद्या, ब्रह्मविद्या

अथर्ववेद के तीन सूक्तों में आत्मविद्या और ब्रह्मविद्या का वर्णन है। इन सूक्तों में मुख्य रूप से ये बातें दी गई हैं -

ब्रह्म आदि कारण है - ब्रह्म सृष्टि का आदि कारण है। वह सत् (अनश्वर या स्थायी) और असत् (नश्वर, अस्थायी) का कारण है। वही सर्वप्रथम सत्ता है। वह सूर्य के तुल्य ज्योतिर्मय है। विद्वान् और जिज्ञासु योगी आदि ही उसको जान पाते हैं।[१]

ब्रह्म संसार का धारक है - उस ब्रह्म ने ही द्युलोक और पृथिवी को सुरक्षित रूप से धारण किया हुआ है।[२] उसका ही नाम बृहस्पति है। वह सृष्टि के प्रारम्भ से पूर्व से ही सर्वत्र व्याप्त है। उसके ज्ञान से ही योगी और विद्वान् आदि तेजस्वी होते हैं।[३]

ब्रह्म आत्मनिर्भर है - ब्रह्म को आत्मनिर्भर बताया गया है। वह 'स्वधा' स्व-अपनी शक्ति से, धा-विद्यमान, स्थित है। ब्रह्म अपनी सत्ता के लिए किसी दूसरे पर निर्भर नहीं है। मंत्र में कहा गया है कि ब्रह्म से ब्रह्म प्रकट हुआ।[४] इसका अभिप्राय है कि ब्रह्म

२-३४. एकं पादं नोत्खिदति सलिलाद् हंस उच्चरन्० । अ० ११.४.२१

३-१. ब्रह्म जज्ञानं....सतश्च योनिम् असतश्च० । अथर्व० ४.१.१

३-२. क्षेमं रोदसी अस्कभायत्० । अ० ४.१.४

३-३. अ० ४.१.५

३-४. ब्रह्म ब्रह्मण उज्जभार० । अ० ४.१.३

(परमात्मा) से ब्रह्म (जीवात्मा) को ज्योति मिलती है । ब्रह्म की शक्तियों की सहस्त्रों धाराएं संसार में चारों ओर फैली हुई हैं । इनसे ही जीवात्मा एवं सभी ज्योतिर्मय पदार्थों को ज्योति मिलती है ।

ब्रह्म की महिमा - ब्रह्म की महिमा का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वह शारीरिक और आत्मिक शक्ति देने वाला है । वह चर-अचर, पशु-पक्षी आदि सभी का स्वामी है । उसकी कृपा अमृत है और उसकी अकृपा मृत्यु है । उसकी महिमा से ही द्युलोक, पृथिवी, अन्तरिक्ष, समुद्र और पर्वत आदि सुरक्षित फैले हुए हों ।[५]

ओजोन की परत (Ozone-layer) - इसी प्रसंग में ऋग्वेद और अथर्ववेद में ओजोन की परत का उल्लेख है । गर्भस्थ बालक की सुरक्षा के लिए उल्ब (झिल्ली) होती है । उसी प्रकार ब्रह्मांड रूपी बालक की सुरक्षा के लिए महान् उल्ब (ओजोन की परत) की रचना हुई । ऋग्वेद में ओजोन-परत को 'महान् उल्ब' और अथर्ववेद में 'उल्ब' (झिल्ली, Membrane) कहा गया है तथा इसे स्थूल एवं विस्तृत बताया गया है ।[६]

ब्रह्म-पाश - अथर्ववेद के एक मंत्र में ब्रह्म के पाश का विशेष रूप से वर्णन किया गया है । ब्रह्म एक ओर जहां शान्ति और आनन्द का स्रोत है, वहीं वह ईश्वरीय नियमों को तोड़ने वाले और पाप करने वालों के प्रति अत्यन्त कठोर है । ईश्वरीय दूत न कभी सोते हैं, न आंख बन्द करते हैं । वे सभी स्थानों पर पाश लिए हुए पापियों को पकड़ने के लिए घूमते रहते हैं । वे अत्यन्त कर्मठ हैं । वे किसी भी पापी को नहीं छोड़ते हैं ।[७] इसका अभिप्राय है कि ईश्वरीय नियम अत्यन्त कठोर हैं । जो भी पाप करेगा, उसे अवश्य कठोर दंड मिलेगा ।

ब्रह्म-अस्त्र - एक मंत्र में विभिन्न अस्त्रों का वर्णन करते हुए ब्रह्मास्त्र का भी वर्णन है । यह ब्रह्मास्त्र मनोबल से चलता है । यह बड़े से बड़े अस्त्र की काट है । अतः इसे 'मेन्याः मेतिः' अस्त्रों का भी अस्त्र कहा गया है । इसकी प्राप्ति के साधन बताया गया है - आत्मज्ञान, मनोबल और तपस्या ।[८] घोर तपस्या और मनोबल से यह सिद्धि प्राप्त होती है कि केवल संकल्पमात्र से पापी का नाश किया जा सकता है ।

ब्रह्म के दो रूप - सोम और रुद्र - अथर्ववेद के तीन मंत्रों में ब्रह्म के दो रूप सोम और रुद्र का वर्णन है । साथ ही इनसे सुख की प्रार्थना की गई है ।[९] ब्रह्म के इन दो रूपों को ही शिव-शक्ति, शिव-रुद्र, अग्नि-सोम, सोम-रुद्र और भव-शर्व कहा जाता है।

३-५. अ० ४.२.१ से ५

३-६ (क) तस्योत जायमानस्य-उल्ब आसीद् हिरण्ययः । अ० ४.२.८

(ख) महत् तद् उल्बं स्थविरं तदासीत्० । ऋग्० १०.५१.१

३-७. तस्य स्पशो न नि मिषन्ति० । अ० ५.६.३

३-८. ब्रह्मणो हेते, तपसश्च हेते, मेन्या मेनिरसि० । अ० ५.६.९

३-९. सोमारुद्रौ....मृडतं नः । अ० ५.६.५ से ७

सोम या शिव ब्रह्म का शान्त रूप है। यह आनन्द और शान्ति का कारण है। रुद्र या अग्नि रूप उसका कठोर रूप है। यह ईश्वरीय नियमों को तोड़ने वाले एवं पापियों के लिए भयंकर है, दंडात्मक है और न्यायरूप है। प्रत्येक पाप का दंड अवश्य मिलता है, उसमें कोई क्षमा का अवसर नहीं है। यही है ब्रह्म का रुद्र रूप।

सिद्धि का मार्ग स्वाहा - अथर्ववेद के तीन मंत्रों में 'स्वाहा' को सिद्धि का मार्ग बताया गया है। स्वाहा का अर्थ है - स्व- स्वार्थ भावना का, आ- पूर्णतया, हा-छोड़ना। स्वार्थबुद्धि को छोड़ना और परोपकार की भावना लाना स्वाहा है। इन मंत्रों में सिद्धि के लिए तीन बातों पर ध्यान आकृष्ट किया गया है। १. प्रभुभक्ति, परमात्मा की उपासना। २. दुर्गुणों का परित्याग, ३. पाप और कुकर्मों का परित्याग। स्वार्थ त्याग, स्वाहा और परोपकार की भावना को पुष्ट करने के लिए ये तीन गुण हैं। इनसे सिद्धि मिलती है।

समर्पण से ब्रह्मप्राप्ति - अथर्ववेद के चार मंत्रों में आत्मसमर्पण को ब्रह्मप्राप्ति का सर्वोत्तम साधन बताया गया है। इन मंत्रों में कहा गया है कि ब्रह्म जीवात्मा का आश्रय स्थान है, रक्षक है, कवच है और उसकी शक्ति है। मंत्रों में कहा गया है कि जीवात्मा अपनी पूर्ण सामर्थ्य, सभी इन्द्रियों, सभी शक्तियों और सर्वात्मना अपने आपको ईश्वर को समर्पित करता है, तभी वह ब्रह्म के साथ एकात्मता प्राप्त करता है।[११] इसका अभिप्राय है कि जीवात्मा का आश्रय, आधार, माता-पिता और रक्षक परमात्मा ही है। परमात्मा सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है। जीवात्मा अल्पज्ञ है और अल्पशक्ति वाला है। वह परमात्मा की दिव्य शक्तियों को प्राप्त करना चाहता है। उसका एक ही उपाय है - समर्पण, आत्म-समर्पण। जब वह सर्वात्मना अपने आपको परमात्मा को समर्पित कर देता है, तब उसे दिव्य शक्तियां और सिद्धियां प्राप्त होती हैं। इसके लिए ही मंत्रों में 'सर्वात्मना' (समग्र) रूप से 'सर्वतनूः' (पूरे शरीर के साथ) और 'यत् मे अस्ति तेन' मेरे पास जो कुछ भी है, उसके साथ मैं समर्पण करता हूँ। कहा गया है। यह साधक का भक्तिभाव के साथ समर्पण है। यह आत्मोन्नति और ब्रह्मप्राप्ति का सबसे सरल उपाय है।

४. ब्रह्मौदन और विष्टारी यज्ञ

अथर्ववेद के तीन सूक्तों में ब्रह्मौदन का वर्णन है। ब्रह्मौदन को ही विष्टारी यज्ञ भी कहा गया है।[१]

ब्रह्मौदन क्या है ? ब्रह्म का अर्थ ब्रह्म, ईश्वर और ज्ञान है। ओदन का अर्थ पकाया हुआ चावल, भात या अन्न। इस प्रकार ब्रह्मौदन के दो अर्थ हैं - १. ब्रह्मरूपी स्वादिष्ट अन्न को खाना। २. ज्ञानरूपी अन्न को खाना या पा लेना। जो जो ब्रह्मरूपी अन्न

३-१०. अथर्व० ५.६.५ से ७

३-११. इन्द्रस्य गृहोऽसि, शर्मासि, वर्मासि, वरूथमसि। अ० ५.६.११ से १४

४-१. अथर्व० ४.३४। ४.३५। ११.१

को खा लेता है या पा लेता है, अर्थात् आत्मसाक्षात्कार कर लेता है, उसे सभी दिव्य शक्तियां प्राप्त हो जाती हैं। इसी प्रकार ज्ञानरूपी अन्न को जो खा लेता है, चख लेता है या पा लेता है, उसे विविध शक्तियां प्राप्त हो जाती हैं। वह स्वर्ग का अधिकारी हो जाता है। तैत्तिरीय और शतपथ ब्राह्मणों में परमेष्ठी और प्रजापति अर्थात् परमात्मा को ओदन बनाया गया है।[२] जिस प्रकार अन्न स्वादिष्ट लगता है, इसी प्रकार आत्मा ज्ञान या आत्मदर्शन अत्यन्त मधुर लगता है।

विष्टारी यज्ञ क्या है ? - यह ब्रह्मयज्ञ है। विस्तार शब्द से ही विष्टारी शब्द बना है। इसका अभिप्राय है कि ब्रह्म सारे संसार में व्याप्त है। उसकी सर्वव्यापकता का ज्ञान होना विष्टारी यज्ञ है। विष्टारी यज्ञ को एक बड़े पक्षी के रूप में प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि ब्रह्म या ब्राह्मण इसका सिर है। क्षत्रिय इसकी पीठ है, वैश्य (वामदेव) इसके मध्यभाग या पेट हैं। वेद (छन्द) इसके पंख हैं। सत्य इसका मुख है। यह विष्टारी यज्ञ तप या तपस्या से उत्पन्न हुआ है।[३] इसका अभिप्राय है कि विष्टारी यज्ञ ब्रह्मज्ञान और ब्रह्मप्राप्ति का साधन है। ज्ञान इसका सिर है और सत्य इसका मुंह है। यह तपस्या से उत्पन्न होता है। जो तपस्वी और ज्ञानी होते हैं, वे ही इस ब्रह्मौदन या विष्टारी यज्ञ का सुन्दर फल प्राप्त कर सकते हैं।

ब्रह्मौदन से स्वर्ग - अथर्ववेद के एक एक पूरे सूक्त में ब्रह्मौदन से स्वर्ग की प्राप्ति का वर्णन है। साथ ही स्वर्ग के सुखों का भी विस्तृत वर्णन है। इसमें वर्णन किया गया है कि शुद्ध, पवित्र, पुण्यात्मा लोग ही इस स्वर्ग लोक को प्राप्त होते हैं। इनमें काम-भावना सर्वथा नष्ट हो जाती है।[४] इसमें वर्णन किया गया है कि स्वर्ग में दूध, दही, घी और शहद की नदियां बहती हैं। इसमें खिले हुए कमलों से युक्त तालाब हैं। वहां अप्सराएं भी होती हैं।[५]

बहिष्ठ और बहिश्त - अथर्ववेद में स्वर्ग के प्रसंग में 'बहिष्ठः' शब्द का प्रयोग है। कुरान में स्वर्ग के लिए 'बहिश्त' शब्द है। कुरान में भी बहिश्त के वर्णन में इसी प्रकार घी, दूध, दही, सुरा और हूरों (अप्सराओं) आदि का वर्णन है। वहां भौतिक सुखों का भी वर्णन है। संभवतः मुहम्मद साहब ने अथर्ववेद के इस प्रसंग को ही कुरान में लिया है और बहिष्ठ शब्द को ही 'बहिश्त' लिखा है।[६]

४-२ (क) परमेष्ठी वा एषः। यदोदनः। तैत्ति०ब्रा० १.७.१०.६
(ख) प्रजापतिर्वा ओदनः। शत० ब्रा० १३.३.६.७
४-३. ब्रह्मास्य शीर्षं ...विष्टारी जातस्तपसोऽधि यज्ञः। अ० ४.३४.१
४-४. शुद्धाः शुचयः शुचिमपि यन्ति लोकम्०। अ० ४.३४.२
४-५. घृतह्रदा मधुकूलाः०। अ० ४.३४.६
४-६. विततो बहिष्ठः०। अ० ४.३४.५

ब्रह्मौदन तप और श्रम से – अथर्ववेद में स्पष्ट किया गया है कि इस ब्रह्मौदन के पाने और खाने के अधिकारी वे ही हैं, जो यमों (अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि) का पालन करते हैं, तपस्वी हैं और परिश्रमी हैं ।[७] जो तपस्वी, संयमी और शुद्ध चरित्र वाले नहीं हैं, वे ब्रह्मौदन के अधिकारी नहीं है । अतएव कहा है कि जो अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य आदि यमों का पालन करते हैं, वे ही देवत्व प्राप्त करते हैं और गन्धर्वों आदि के साथ स्वर्ग में निवास करते हैं ।[८] एक अन्य मंत्र में भी यही भाव दिया गया है कि ब्रह्मौदन के अधिकारी त्यागी, तपस्वी, ऋषि-मुनि और उनके पुत्रादि ही हैं, अन्य कोई नहीं ।[९] पवित्रात्माओं के लिए ही ब्रह्मज्ञान, आत्मज्ञान और वेदज्ञान हैं ।

ब्रह्मौदन से मृत्यु पर विजय – अथर्ववेद के सात मंत्रों में वर्णन किया गया है कि ब्रह्मौदन से मृत्यु पर विजय प्राप्त की जाती है । यह ज्ञानरूपी अन्न है, जिसको खाकर मनुष्य मृत्युंजय हो जाता है ।[१०] आत्मज्ञान, ब्रह्मज्ञान और आत्मसाक्षात्कार से मनुष्य मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है ।

ब्रह्मौदन से अमृत – इस सूक्त में ब्रह्मौदन का बहुत गुणगान है । इस ब्रह्मौदन या आत्मज्ञान के पकने से अमृत उत्पन्न होता है ।[११] यह ब्रह्मौदन गायत्री का स्वामी है । यह अन्न ही द्युलोक, अन्तरिक्ष और पृथिवी को पुष्ट कर रहा है । यह अन्न ही संवत्सर चक्र, अहोरात्र, मास आदि का निर्माता है । यही प्राणशक्ति देता है । यह सभी लोकों को पुष्ट करता है और सारी दिशाओं को ज्योति देता है । इसमें ही चारों वेदों का ज्ञान भरा हुआ है। इससे सारे पापी और शत्रु नष्ट हो जाते हैं ।[१२]

चार कुम्भ – ब्रह्मौदन से प्राप्त होने वाले स्वर्ग में चार कुम्भों (कलशों) का वर्णन है । यह चार कलश घी, दूध, दही और मधु से भरे हुए हैं । ये चार स्थानों पर रखे हुए हैं।[१३] इसका अभिप्राय यह है कि आत्मज्ञान होने पर साधक को सर्वत्र आनन्द ही आनन्द दिखाई पड़ता है । उसे चारों ओर अमृत भरे कलश दिखाई पड़ते हैं । संभवतः इस मंत्र के आधार पर कुंभ पर्वों का प्रचलन हुआ है और चारों दिशाओं में इन कुंभों की स्थापना हुई है । उसी आधार पर हरिद्वार प्रयाग आदि चार तीर्थों पर ये कुंभ पर्व होते हैं ।

ब्रह्मौदन की आधारशिला – अथर्ववेद में बताया गया है कि ब्रह्मौदन की आधारशिला या भूमिका सत्य से और मन से बनाई जाती है ।[१४] इसका अभिप्राय यह है कि

४-७. यमन्चन्दिन् तपसा श्रमेण । अ० ४.३५.२
४-८. आस्ते यमे उप याति देवान्० । अ० ४.३४.३
४-९. आर्षेयेषु नि दध ओदन त्वा० । अ० ११.१.३३
४-१०. तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम् । अ० ४.३५.१ से ६
४-११. यस्मात् पक्वादमृतं संबभूव । अ० ४.३५.६ ४-१२. अथर्व० ४.३५.३ से ७
४-१३. चतुरः कुम्भान् चतुर्धा ददामि० । अथर्व० ४.३४.७
४-१४. ऋतेन त्वष्टा मनसा हिता० । अथर्व० ११.१.२३

आत्मज्ञान या ब्रह्म साक्षात्कार की भूमिका सत्यनिष्ठा, सत्य-भाषण, सत्य व्यवहार, मनन-चिन्तन एवं मनोनिरोध से तैयार होती है । अतएव कहा गया है कि यमों के पालन से ही देवत्व प्राप्त होता है ।[१५] पांच यम ये हैं - अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य (संयम का पालन) और अपरिग्रह (त्यागवृत्ति) । पांच यमों का पालन आत्मज्ञान की आधारशिला है ।

ब्रह्मौदन का फल, तत्त्वज्ञान - अथर्ववेद में वर्णन है कि अदिति (बुद्धि) आत्मज्ञान रूपी पुत्र की प्राप्ति के लिए ब्रह्मौदन पकाती है ।[१६] इसका अभिप्राय यह है कि आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए ब्रह्मरूपी अन्न को पकाना पड़ता है । ब्रह्म या परमात्मा का निरन्तर मनन-चिन्तन, ध्यान-उपासना और साधना अत्यन्त आवश्यक है । जब निरन्तर परमात्मा का ही चिन्तन किया जाएगा, उसका ध्यान किया जाएगा, तभी तत्त्वज्ञानरूपी पुत्र की प्राप्ति होगी । तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होने पर साधक को दिव्य शक्तियां प्राप्त हो जाती हैं। वह शरीररूपी रथ का स्वामी हो जाता है । वह पक्षी के तुल्य आकाश में उड़ सकता है ।[१७]

५. पंचौदन अज

अथर्ववेद के एक सूक्त के ३८ मंत्रों में पंचौदन अज का विस्तार से वर्णन है ।[१] इसमें आत्मसमर्पण के द्वारा दिव्य गुणों और परमधाम की प्राप्ति का वर्णन है ।

पंचौदन अज क्या है ? - इसमें अज का अर्थ बकरा नहीं, अपितु जीवात्मा है, क्योंकि यज अ-ज अर्थात् अजन्मा है । आत्मा न जन्म लेता है और न मरता है । यह अजन्मा और अनादि है । पंचौदन का अर्थ है - पांच प्रकार का ओदन या अन्न । जीवात्मा पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पंच तत्त्वों का भोग करता है । ये पांच तत्त्व जीवात्मा के द्वारा उपभोग में लाए जाते हैं, अतः इन्हें पांच ओदन या अन्न कहा गया है । इस सूक्त में जीवात्मा के कर्तव्यों और आत्मसमर्पण के द्वारा परमधाम मोक्ष की प्राप्ति का वर्णन है । पाश्चात्य विद्वानों ने अज का अर्थ बकरा किया है और इस सूक्त के अर्थ का अनर्थ कर दिया है ।

अज का विराट् रूप - अज अर्थात् आत्मा के विराट् रूप का वर्णन करते हुए कहा गया है कि यह पृथिवी उसकी छाती है, द्युलोक पीठ है और अन्तरिक्ष मध्यभाग (पेट) है । दिशाएं उसके पार्श्वभाग हैं और समुद्र उसकी कुक्षि (कोख) हैं । सत्य और ऋत उसकी दो आंखें हैं, संसार उसका अस्तित्व है, श्रद्धा प्राण है और विराट् उसका सिर

४-१५.अ० ४.३४.३

४-१६.अदितिः....ब्रह्मौदनं पचति पुत्रकामा । अ० ११.१.१

४-१७.पक्षी ह भूत्वाति दिवः समेति । अ० ४.३४.४

५-१. अथर्व० ९.५.१ से ३८

है । यह पंचौदन अज अपरिमित यज्ञ-स्वरूप है ।[2] इसका अभिप्राय है कि यह सारा संसार ही आत्मा का स्वरूप है ।

अज का स्वरूप - अथर्ववेद ने स्पष्ट किया है कि यह अज अर्थात् जीवात्मा आग्नेय रूप (अग्नि) है, यह ज्योतिर्मय (ज्योति) है । यह अज अज्ञानरूपी अन्धकार को दूर करता है ।[3] यह अज अग्नि है और महान् अग्नि परमात्मा से प्रकट हुआ है ।[4] यही भाव अन्य मंत्र में भी व्यक्त किया गया है कि अजन्मा आत्मा अग्नि रूप तेजस्वी परमात्मा के तेज से प्रकट हुआ है । यह ज्ञानवान् है ।[5] इससे स्पष्ट है कि पंचौदन अज जीवात्मा ही है।

पंचौदन अज के पांच पराक्रम - एक मंत्र में कहा गया है कि यह पंचौदन अज पांच प्रकार के पराक्रम करता है । ये पांच पराक्रम क्या है ? ये पांच पराक्रम हैं, पांचों ज्ञानेन्द्रियों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करना, उन्हें अपने वश में रखना, जितेन्द्रिय होना । इस जितेन्द्रिय होने का फल है कि वह तीन ज्योतियों अर्थात् अग्नि, वायु और सूर्य पर भी अपना प्रभुत्व स्थापित करता है ।[6] इसका अभिप्राय है कि योगी या जितेन्द्रिय का पंच तत्त्वों पर भी प्रभुत्व हो जाता है ।

पंचौदन अज के ६ कार्य - अथर्ववेद के ६ मंत्रों में इस जीवात्मा के ६ कर्तव्यों का निर्देश है । ये हैं - **१. निदाघ** - ग्रीष्म ऋतु के तुल्य जीवन को तपाना, तेजस्वी बनाना। **२. कुर्वन्** - सदा कर्मठ रहना, कर्तव्य-परायण रहना । **३. संयत्** - संयमी जीवन बिताना, संयम का व्रत निभाना । **४. पिन्वन्** - पुष्ट करना, ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों को पुष्ट करना । **५. उद्यन्** - सदा उन्नति की ओर अग्रसर होना, उत्थान के कार्यों को करना, अवनति की ओर न जाना । **६. अभिभूः**- शत्रुओं या विघ्नों पर विजय प्राप्त करना, विघ्नों से न डरना, सदा संघर्षशील रहना । इसका अभिप्राय यह है कि यदि जीवात्मा इन ६ कार्यों को करता है तो वह मोक्ष का अधिकारी हो जाता है ।[7]

समर्पण क्रिया कामधेनु है-अथर्ववेद में आत्म-समर्पण का बहुत महत्त्व वर्णित है । यदि जीवात्मा (पंचौदन अज) अपने आपको ईश्वरार्पण कर देता है तो समर्पण से उसमें दिव्य गुण या ईश्वरीय गुण आ जाते हैं । समर्पण क्रिया कामधेनु के तुल्य सारे अभीष्ट पूरे करती है । इस कामधेनु को विश्वरूप कहा है । इसका अभिप्राय है कि साधक जिस मनोरथ की पूर्ति के लिए आत्मसमर्पण करता है, उसका वह मनोरथ पूर्ण होता है ।

५-२. द्यौः पृष्ठम्, अन्तरिक्षं मध्यम्० । अथर्व० ९.५.२० और २१
५-३. अजो अग्निरजमु ज्योतिराहुः० । अ० ९.५.७
५-४. अग्नेरग्निरधि सं बभूविथ० । अ० ९.५.६
५-५. अजो ह्यग्नेरजनिष्ट शोकात्० । अ० ९.५.१३
५-६. पंचौदनः पंचधा वि क्रमताम्० । अ० ९.५.८
५-७. नैदाघम्, कुर्वन्, संयत्, पिन्वन्, उद्यन्, अभिभूः० । अ० ९.५.३१ से ३६

परमात्मा सर्वशक्तिमान् है, उसके पास सभी शक्तियां हैं, जिसको जो चाहिए, वह उसे मिल जाता है ।[८] समर्पण का भाव दिया गया है – तद्रूप हो जाना, अपने स्वरूप को भूल जाना, अपने को पृथक् न समझना ।[९] जिस प्रकार अग्नि में पड़कर लोहा अग्निरूप हो जाता है, अग्नि के गुण उसमें आ जाते हैं । इसी प्रकार पूर्ण आत्म-समर्पण कर देने पर साधक में ईश्वरीय शक्तियां प्रवेश कर जाती हैं ।

पंचौदन अज जीवात्मा को तपोमय बनाता है, साधनामय बनाता है, सर्वथा यज्ञरूप बनाता है और उसके द्वारा ईश्वरीय गुणों को प्राप्त कराता है ।

***

५-८. विश्वरूपा धेनुः कामदुघा० । अ० ९.५.१०

५-९. इदमिदमेवास्य रूपं भवति० । अ० ९.५.२४

अध्याय - १२

सृष्टि-उत्पत्ति

१. प्रलय-अवस्था का चित्रण

ऋग्वेद के एक प्रसिद्ध 'नासदीय सूक्त' में प्रलय की अवस्था का एक रोचक चित्रण किया गया है ।[१] ऋग्वेद का कथन है कि सृष्टि कब और कैसे उत्पन्न हुई, यह कोई नहीं जानता, क्योंकि इस रहस्य को ज्ञानी मनुष्य ही जान सकते थे, परन्तु उनकी उत्पत्ति ही सृष्टि उत्पन्न होने के बाद हुई । अर्थात् प्रलय अवस्था का प्रत्यक्षदर्शी कोई व्यक्ति इस संसार में न हुआ है और न होगा ।[२] योगियों ने अपने ध्यान के बल पर जो कुछ जाना और समझा, उसका ही वर्णन इस सूक्त में किया गया है । इस सूक्त में मुख्य बातें ये कही गई हैं ।

१. प्रलय अवस्था में न सत् था, न असत् । उस समय न लोक-लोकान्तर थे और न आकाश में व्याप्त ग्रह-नक्षत्रादि । क्या आधार था, ढकनेवाली कौन सी चीज थी, यह भी कुछ ज्ञात नहीं है । चारों ओर सूक्ष्म जलीय परमाणु ही था ।[३] इसका अभिप्राय यह है कि उस समय क्या स्थिति थी, यह अवर्णनीय है । इसका 'हाँ' या 'ना' में उत्तर नहीं दिया जा सकता है कि उस समय कुछ था या नहीं था । उस समय नीचे का आधार पृथिवी और ऊपर का आकाश कुछ भी नहीं था । केवल सूक्ष्म जलीय परमाणु चारों ओर व्याप्त थे ।

२. प्रलय अवस्था में न मृत्यु थी और न अमृत या अमरत्व । सूर्य और चन्द्रमा नहीं थे, अतः दिन और रात्रि का कोई चिह्न नहीं था । उस समय वायु के बिना ही जीवित ब्रह्म की ही एकमात्र सत्ता थी, क्योंकि वह अनादि-अनन्त ऊर्जा का स्वरूप है । वह अपनी नैसर्गिक शक्ति (स्वधा) से विद्यमान था । उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं था ।[४] इसका अभिप्राय है कि उस समय जीवन या मरण नाम की कोई चीज नहीं थी । न दिन का पता था, न रात्रि का । वायु भी नहीं थी । बिना वायु के अपनी नैसर्गिक शक्ति से जीवित रहने वाला ब्रह्म ही एकमात्र सत्ता थी, जो कि अवर्णनीय स्थिति में थी । शाश्वत ऊर्जा (Eternal Energy) को ब्रह्म कहते हैं, वह ही उस समय विद्यमान था ।

३. प्रलय अवस्था में चारों ओर घोर अन्धकार ही अन्धकार था । चारों ओर सूक्ष्म जलीय परमाणु (सलिल) विद्यमान थे, जो अवर्णनीय कुहरे के ढंग की वस्तु से ढके हुए थे। उस अवस्था में तप की महिमा से वह एक ब्रह्म ही प्रकट हुआ ।[५] इसका अभिप्राय है

१-१. नासदीय सूक्त । ऋग्० १.१२९.१ से ७

१-२. को अद्धा वेद० । ऋग्० १०.१२९.६

१-३. नासदासीत् नो सदासीत् तदानीम्० । ऋग्० १०.१२९.१

१-४. न मृत्युरासीद् अमृतं न तर्हि० । ऋग्० १०.१२९.२

१-५. तम आसीत् तमसा मूढमग्रे० । ऋग्० १०.१२९.३

कि प्रलय की अवस्था में चारों ओर घोर अन्धकार फैला हुआ था । कुहरे के ढंग के अवर्णनीय जलीय परिमाणु फैले हुए थे । उस समय आत्मिक ऊर्जा के प्रभाव से एक शाश्वत ऊर्जा के स्वरूप में ब्रह्म प्रकट हुआ ।

४. उस ब्रह्म के अन्दर सर्वप्रथम सृष्टि उत्पन्न करने की कामना जागृत हुई । यह कामना मानसिक संकल्प का एक बीज था । यहां से सृष्टि-उत्पत्ति की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई। विद्वानों ने बुद्धि से हृदय में विचार करके यह बात ज्ञात की कि व्यक्त जगत् (सत्) की उत्पत्ति अव्यक्त (असत्) ब्रह्म से हुई है ।[६] इसका अभिप्राय यह है कि सबसे पहले सृष्टि उत्पन्न करने की भावना ब्रह्म के मन में जागृत हुई । इसको 'ईक्षण' कहा जाता है । इस ईक्षण से सृष्टि की उत्पत्ति की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई । यह है अव्यक्त का व्यक्त रूप में प्रकट होना । इसको ही असत् से सत् का प्रादुर्भाव कहा जाता है ।

५. यह सृष्टि का बीज ऊर्जा के रूप में था । इसके युगल रूप में दो तत्त्वों का समावेश हुआ । एक भोक्ता और दूसरा भोग्य । एक भोक्ता (पुरुष) बीज रूप हुआ । यह रेतोधा (बीजशक्ति को धारण करने वाला) हुआ । दूसरा भोग्य (प्रकृति) महिमाशाली हुआ । इसमें नीचे प्रकृति अपनी शक्ति से स्थिर हुई और ऊपर पुरुष प्रयत्नकर्ता के रूप में स्थापित हुआ । ब्रह्म के मानसिक संकल्प की ऊर्जा नीचे-ऊपर, इधर-उधर, तिरछी किरणों की तरह फैली । इससे सृष्टि का प्रारम्भ हुआ ।[७] इसका अभिप्राय यह है कि ब्रह्म के ईक्षण या मानसिक संकल्प की ऊर्जा चारों ओर फैली । यह नीचे-ऊपर, इधर-उधर, सीधी-तिरछी सब ओर फैली । इसका परिणाम यह हुआ कि इससे एक युगल उत्पन्न हुआ। इसमें दो तत्त्व सम्मिलित थे । एक भोक्ता और एक भोग्य । भोक्ता जीवात्मा हुआ । इसमें बीजशक्ति थी, इसमें उत्पादकता थी । इसका स्थान ऊपर हुआ । भोग्य के रूप में प्रकृति हुई । इसमें गुरुत्व, महत्त्व आदि गुण थे । अतः इसे 'महिमानः' कहा गया है । इसका स्थान नीचे हुआ । इस युगल की दो शक्तियों के लिए मंत्र में दो शब्द दिए गए हैं - स्वधा और प्रयति । स्वधा प्रकृति है, उसमें स्वयं स्थिर रहने की क्षमता है । प्रयति पुरुष है, इसमें प्रयत्न, पुरुषार्थ की क्षमता है । यह 'रेतोधा' अर्थात् बीजशक्ति धारण करने वाला है ।

६. एक मंत्र में कहा गया है कि यह सृष्टि जिससे उत्पन्न हुई है, वह इस सृष्टि को धारण करता है या नहीं ? यह वही जानता है । इस सृष्टि का जो अध्यक्ष या स्वामी है, वह अनन्त आकाश में विद्यमान है । संभवतः वही इस सृष्टि का रहस्य जानता है ।[८] इसका अभिप्राय यह है कि यह सृष्टि एक स्वचालित यंत्र के तुल्य है । एक बार प्रारम्भ हो गई और अपने नियमानुसार चल रही है । इसका अध्यक्ष या स्वामी परब्रह्म है । वही इसके संपूर्ण रहस्य को जानता है ।

१-६. कामस्तदग्रे समवर्तताधि॰ । ऋग्॰ १०.१२९.४

१-७. स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात् । ऋग्॰ १०.१२९.५

१-८. यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्॰ । अ॰ १०.१२९.७

२. विराट् पुरुष से सृष्टि की उत्पत्ति

ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद में पुरुष सूक्त है। इसमें विराट् पुरुष से सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है।[१] इसमें विराट् पुरुष का स्वरूप और सृष्टि-उत्पत्ति की प्रक्रिया की रूपरेखा प्रस्तुत की गई है। इसमें सृष्टि-क्रम आदि का विस्तृत विवरण नहीं दिया गया है। इन पुरुष सूक्तों में वर्णित विषय की संक्षिप्त रूपरेखा यहां दी जा रही है।

१. विराट् पुरुष के हजारों सिर, हजारों आंख और हजारों पांव हैं। वह इस भूमि को चारों ओर से घेरे हुए है और इस पृथ्वी के अन्दर और बाहर विद्यमान है।[२] वर्तमान, भूत और भविष्य सब कुछ वह विराट् पुरुष ही है। वही अमरत्व अर्थात् मोक्ष का स्वामी है।[३]

२. यह सारी सृष्टि उस विराट् का चतुर्थांश है। उसका तीन-चौथाई अंश अनन्त आकाश में व्याप्त है।[४] उस विराट् से ही जीवात्मा (पुरुष) का आविर्भाव हुआ है। तत्पश्चात् यह भूमि उत्पन्न हुई।[५] उसके बाद पशु-पक्षि-जगत् उत्पन्न हुआ। उस पुरुष से ही चारों वेदों की उत्पत्ति हुई तथा ब्राह्मण आदि चारों वर्णों का प्रादुर्भाव हुआ।[६]

३. उस विराट् पुरुष की नाभि से अन्तरिक्ष, सिर से द्युलोक, पैर से भूमि और कान से दिशाएं एवं लोक प्रकट हुए। मन से चन्द्रमा, आंखों से सूर्य, कान से वायु और प्राण तथा मुख से अग्नि उत्पन्न हुए।[७]

४. उस विराट् पुरुष से काल और उसके विभाग घड़ी, पल आदि उत्पन्न हुए।[८] उस विराट् पुरुष से पहले कोई जीव-जन्तु उत्पन्न नहीं हुआ था। वह सब में व्याप्त है। वह सूर्य, चन्द्र और अग्नि इन तीन ज्योतियों में व्याप्त है।[९]

५. उस विराट् पुरुष या ब्रह्म में ही सारा संसार प्रलय के समय समाविष्ट हो जाता है और सृष्टि के समय उससे ही उत्पन्न होता है। वह सारे संसार में ताने-बाने की तरह व्याप्त है।[१०]

६. वह विराट् पुरुष संसार में सर्वत्र व्याप्त है। वह अपनी शक्ति से स्थिर है।

२-१. पुरुषसूक्त, ऋग्० १०.९०.१ से १६। यजु० ३१.१ से २२। अथर्व० १९.६.१से १६

२-२. सहस्रशीर्षा पुरुषः०। ऋग्० १०.९०.१

२-३. पुरुष एवेदं सर्व०। ऋग्० १०.९०.२

२-४. पादोऽस्य विश्वा भूतानि०। ऋग्० १०.९०.३

२-५. ऋग्० १०.९०.५

२-६. ऋग्० १०.९०.८ से १२

२-७. यजु० ३१.१२-१३

२-८. यजु० ३२.२

२-९. यजु० ३२.५

२-१०. यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्०। यजु० ३२.८

उसने ऋत का तन्तु सारे संसार में फैलाया हुआ है । जो इस ऋत के तन्तु को जान लेता है, वह आत्मसाक्षात्कार कर पाता है ।[११] इसका अभिप्राय है कि सारे संसार में ऋत के तन्तु अर्थात् ईश्वरीय शाश्वत नियम (Eternal laws) व्याप्त हैं । इनसे संसार की स्थिति है। ये ईश्वरीय नियम स्वचालित मशीन की तरह प्रकृति का नियन्त्रण करते हैं । ये अत्यन्त कठोर नियम हैं । सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि कोई भी पदार्थ इन नियमों को तोड़ने का साहस नहीं कर सकता है ।

एक तत्त्व ही मुख्य है - ऋग्वेद का कथन है कि एक ही तत्त्व मुख्य है । उसको ही अनेक नाम दिए गए हैं । जैसे - इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, सुपर्ण, यम, मातरिश्वा (वायु) आदि ।[१२] उस ईश्वर या ब्रह्म को ही विराट्, परम पुरुष, इन्द्र, वैश्वानर अग्नि आदि अनेक नाम दिए गए हैं । आचार्य यास्क ने निरुक्त में इस विषय को स्पष्ट किया है और कहा है कि- वह एक आत्मा महान् है, उसका बहुत महत्त्व है । उस एक महान् आत्मा की ही अनेक रूपों में स्तुति की जाती है । विभिन्न गुणों और कर्मों के आधार पर ये विभिन्न नाम पड़े हैं ।[१३]

इस प्रकार सृष्टि की उत्पत्ति विराट् से, परम पुरुष से, ईश्वर से, ब्रह्म से, इन्द्र आदि देवों से मानी गई है । उनका ही यहां पर वर्णन है ।

तैत्तिरीय उपनिषद् में सृष्टि-उत्पत्ति का अधिक वैज्ञानिक रूप से वर्णन प्राप्त होता है । उपनिषद् का कथन है कि - उस परमात्मा से सर्वप्रथम आकाश उत्पन्न हुआ । आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी, पृथिवी से वृक्ष-वनस्पति, वनस्पतियों से अन्न और अन्न से पुरुष की उत्पत्ति हुई । यह पुरुष अन्न और रस से बना हुआ है ।[१४]

इन्द्र, विश्वकर्मा आदि देवों को जो सृष्टि का कर्ता बताया गया है, उसका अभिप्राय यह है कि इन्द्र आदि देव ईश्वर की कर्तृत्व शक्ति आदि के रूप हैं । इन्द्र आत्मा है । उसमें कर्तृत्व-शक्ति है, अतः इन्द्र को सृष्टि का कर्ता कहा जाता है ।[१५] उसी प्रकार ईश्वर सर्वशक्तिमान् होने से सभी वस्तुओं का कर्ता है । अतः उसे विश्वकर्मा नाम दिया गया है।

३. ऋत से सृष्टि

ऋग्वेद के एक सूक्त में सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए कहा गया है कि सर्वप्रथम अत्यन्त प्रदीप्त ज्योतिर्मय तत्त्व से ऋत और सत्य ये दो तत्त्व प्रकट हुए । इनसे

२-११. ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य० । यजु० ३२.१२

२-१२. इन्द्रं मित्रं ....एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति० । ऋग्० १.१६४.४६

२-१३. माहाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते० । निरुक्त ७.४

२-१४. एतस्माद् आत्मन आकाशः संभूतः । आकाशाद् वायुः । वायोरग्निः । अग्नेरापः । अद्भ्यः पृथिवी० । तैत्ति० उप० २.१

२- १५. यः सूर्यं य उषसं जजान० । ऋग्० २.१२.७

रात्रि उत्पन्न हुई। फिर जलयुक्त समुद्र उत्पन्न हुआ। उस जलयुक्त समुद्र के बाद संवत्सर (कालचक्र) उत्पन्न हुआ। तत्पश्चात् पूर्वकल्प के तुल्य ही सूर्य, चन्द्रमा, अहोरात्र, द्युलोक, पृथिवी और अन्तरिक्ष उत्पन्न हुए।[१]

इसका अभिप्राय है कि सृष्टि के प्रारम्भ में सर्वप्रथम शाश्वत नियम (Eternal laws) विद्यमान थे। इन्हें 'अभीद्ध तपस्' कहा गया है। इसका अभिप्राय है कि ये उच्च ज्योतिर्मय तत्त्व हैं, प्रकाशपुंज हैं, आग्नेय तत्त्व हैं। इनमें नाभिकीय ऊर्जा (Nuclear Energy) है। इनमें विस्फोट होता है। इस विस्फोट से दो तत्त्व प्रकट होते हैं। इन्हें ऋत और सत्य कहते हैं। ऋत शाश्वत तत्त्व है और सत्य परिणामी तत्त्व है। इन्हें हम प्रचलित रूप से अग्नि और सोम तत्त्व कह सकते हैं। अग्नि प्रेरक तत्त्व है। इसे हम प्रोटॉन (Proton), धनात्मक शक्ति या अग्नि तत्त्व कह सकते हैं। ये प्रेरक तत्त्व हैं। ये ऊर्जा के आदि कारण हैं। इनमें सदा गतिशीलता है, प्रेरकता है और उत्पादन-क्षमता है। दूसरा तत्त्व सोम है। इसे हम इलेक्ट्रान (Electron), ऋणात्मक शक्ति या सोमीय तत्त्व कह सकते हैं। वह परिणामी है, इसमें परिवर्तनशीलता है, इसमें उत्पन्न होने की क्षमता है। अग्नि तत्त्व में क्रियाशीलता होने पर सोमतत्त्व में गति, प्रगति और विकास की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। इन दोनों तत्त्वों के संयोग से सृष्टि का प्रारम्भ होता है। इसको ही ऋग्वेद में ऋत और सत्य नाम देकर स्पष्ट किया गया है। इससे प्रारम्भ में द्युलोक, अन्तरिक्ष और पृथिवी उत्पन्न होते हैं। तदनन्तर सूर्य, चन्द्रमा आदि का प्रादुर्भाव होता है। तत्पश्चात् कालचक्र प्रारम्भ होता है और दिन-रात आदि का क्रम प्रारम्भ होता है। अतएव ऋग्वेद में कहा गया है कि ऋत से द्यावापृथिवी का विस्तार हुआ है।[२]

ऋत के तन्तु - ऋत तत्त्व सारे संसार में, मानव-शरीर में नस-नाड़ी के तुल्य, विद्यमान हैं। अग्नितत्त्व और सोमीय तत्त्व ताना-बाना की तरह सारे संसार में व्याप्त हैं। अग्नि तत्त्व ताना है तो सोमीय तत्त्व बाना। संसार में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है, जहां यह ऋत तत्त्व ताना-बाना की तरह विद्यमान न हो। इसको ही यजुर्वेद में कहा गया है कि ऋत के इस ताने-बाने को समाप्त करने पर ही आत्मदर्शन होता है।[३] अन्य मंत्र में कहा गया है कि वह परमात्मा सारे संसार में ताने-बाने की तरह व्याप्त है।[४]

ऋग्वेद में सृष्टिचक्र को एक महान् यज्ञ बताते हुए कहा गया है कि इस सृष्टिचक्ररूपी यज्ञ में चारों ओर तन्तु या तंत्र फैले हुए हैं।[५] ये तन्तु ही सीधे और तिरछे होने पर ताना-बाना हो जाते हैं। ये तन्तु नदी की तीव्र धारा के तुल्य परस्पर मिले हुए हैं।[६] इन तन्तुओं

३-१. ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत०। ऋग्० १०.१९०.१ से ३

३-२. आ यस्ततान रोदसी ऋतेन। ऋग्० ५.१.७

३-३. ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य०। यजु० ३२.१२

३-४. स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु। यजु० ३२.८

३-५. यो यज्ञो विततस्तन्तुभिस्ततः०। ऋग्० १०.१३०.१

३-६. तन्तुं ततं परि सर्गास आशवः०। ऋग्० ९.६९.६

के मिले बिना किसी पदार्थ की रचना ही संभव नहीं है । ऋग्वेद और अथर्ववेद के कई मंत्रों में इस बुनाई का उल्लेख है । कहीं पर बुनने वाले पुरुष बताए गए हैं और कहीं पर स्त्री । ये ताना-बाना फैलाते हैं, बुनाई करते हैं और बाद में इसको समेटते हैं ।[७] वस्तुतः यह ताना-बाना अग्नितत्त्व और सोमीय तत्त्वों का परस्पर मिश्रण है । एक ताना का रूप लेता है और दूसरा बाना का । इनके मिश्रण से पदार्थों की सृष्टि होती है ।

४. वैश्वानर अग्नि से सृष्टि

ऋग्वेद में वैश्वानर अग्नि को सृष्टि का केन्द्रीय तत्त्व (नाभि) बताया गया है ।[१] वैश्वानर अग्नि क्या है ? विश्वव्यापी अग्नितत्त्व की समष्टि को वैश्वानर अग्नि कहा गया है। सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ में यह अग्नि नाभिकीय ऊर्जा के रूप में काम करती है । यह द्युलोक, अन्तरिक्ष, पृथिवी, सूर्य आदि में सर्वत्र व्याप्त है । इसकी ऊष्मा से ही प्रत्येक पदार्थ में विकास, प्रगति और चयापचय की क्रिया होती है । ऋग्वेद के इस सूक्त में वैश्वानर अग्नि का विस्तृत महत्त्व वर्णन किया गया है ।

ऋग्वेद का कथन है कि यह वैश्वानर अग्नि ही पृथिवी के केन्द्र में है ।[२] इससे ही द्यावापृथिवी का विस्तार हुआ है । यह द्युलोक की सर्वोत्तम शक्ति है । यह वैश्वानर अग्नि जल में, वृक्ष-वनस्पतियों में, पर्वतों में और मानवमात्र में व्याप्त है । इसकी सत्ता से ही विकास होता है ।[३] वैश्वानर अग्नि की व्यापकता को समझाते हुए कहा गया है कि जैसे सूर्य में किरणें हैं, उसी प्रकार वैश्वानर अग्नि में शाश्वत ऊर्जा है । उसके कारण ही रत्न, मणियों आदि की उत्पत्ति होती है ।[४] ऋग्वेद में ही अन्यत्र कहा गया है कि वैश्वानर अग्नि ही विश्व का प्रथम सक्रिय तत्त्व (होता) था, जिससे द्युलोक, अन्तरिक्ष और पृथिवी का विस्तार हुआ ।[५] इसका अभिप्राय यह है कि सृष्टि के प्रारम्भ में हिरण्यगर्भ के रूप में जो आग्नेय पिंड था, उसमें वैश्वानर अग्नि के कारण विस्फोट हुआ और उस विस्फोट से द्युलोक, अन्तरिक्ष और पृथिवी की उत्पत्ति हुई, इस प्रकार वैश्वानर अग्नि सृष्टि का प्रथम सक्रिय तत्त्व है ।

५. जल से सृष्टि

ऋग्वेद और यजुर्वेद में वर्णन है कि सृष्टि का प्रारम्भ कब और कैसे हुआ । प्रश्न किया गया है कि परमात्मा ने सृष्टि का प्रारम्भिक बीज कहां डाला ? उसके उत्तर में कहा

३-७. ऋग्० १०.१३०.१ और २ । अथर्व० १०.७.४१ से ४३
४-१. वैश्वानर नाभिरसि क्षितीनाम्० । ऋग्० १.५९.१ से ७
४-२. नाभिरग्निः पृथिव्याः० । ऋग्० १.५९.२
४-३. या पर्वतेषु-ओषधीषु-अप्सु० । ऋग्० १.५९.३
४-४. आ सूर्ये न रश्मयो० । ऋग्० १.५९.३
४-५. यो भानुना पृथिवीं द्यामुतेमाम्० । ऋग्० १०.८८.३ और ४

गया है कि सृष्टि का प्रथम बीज (गर्भ) परमात्मा ने जल में डाला। इसमें ही सब देवों की शक्ति निहित है।[१] इसका अभिप्राय यह है कि स्थूल जगत् की सृष्टि का प्रारम्भिक बीज जल में पड़ा और जल से सारे जीव-जगत् और वृक्ष-वनस्पतियों आदि की सृष्टि प्रारम्भ हुई। जल में सभी देवों के निवास का अभिप्राय है कि जल में सभी दिव्य शक्तियां विद्यमान हैं। जल सोमीय तत्त्व है। इसमें उत्पादन की क्षमता है। यह वृक्ष-वनस्पतियों और चर-अचर की उत्पत्ति का सर्वोत्तम साधन है। समस्त वृक्ष-वनस्पति जल पर आश्रित हैं। इसी प्रकार सभी जलचर जीवों का आश्रय जल है। प्राणिमात्र के लिए जल जीवन है। जल के बिना मानव जीवित नहीं रह सकता है। अतएव सृष्टि के प्रथम बीज का धारक जल बताया गया है।

यजुर्वेद में उल्लेख है कि परमात्मा ने सर्वप्रथम महासमुद्र के जल में जो बीज (गर्भ) डाला, उससे प्रजापति की उत्पत्ति हुई।[२] इसका अभिप्राय है कि सृष्टि की प्रारम्भिक प्रक्रिया जल से शुरू हुई। इस जल से ही कर्तृत्व-शक्तियुक्त पुरुष प्रजापति का प्रादुर्भाव हुआ। ऋग्वेद में भी यही भाव दिया गया है कि सर्वप्रथम जल की सृष्टि हुई और उसमें सृष्टि का बीज डाला गया। उस जल से ही अग्नि की उत्पत्ति हुई।[३] इसका अभिप्राय है कि अग्नि का जन्म जल से होता है। जल में रगड़ या घर्षण के कारण विद्युत् या अग्नि की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार जल के दो रूप हो जाते हैं। एक जलरूप सोमीय तत्त्व और दूसरा अग्नि या विद्युत् के रूप में आग्नेय तत्त्व। इस अग्नि और सोम के संयोग से ही आगे सारी सृष्टि उत्पन्न होती जाती है।

मनुस्मृति में भी जल से सृष्टि होने का वर्णन किया गया है। मनु का कथन है कि परमात्मा ने सृष्टि की रचना की इच्छा होने पर सर्वप्रथम जल की रचना की और उसमें अपनी शक्ति का प्रतीक बीज छोड़ा।[४] उस जल से सहस्रों सूर्य के समान कान्तिवाला सुनहरी अंडा प्रकट हुआ। इस अंडे से सृष्टिकर्ता ब्रह्मा का प्रादुर्भाव हुआ।[५] इस सुनहरी अंडे को वेदों में हिरण्यगर्भ कहा गया है। यह तेजोमय स्वर्णिम पिंड (अंडा, ब्रह्माण्ड) ही सृष्टि का आदिरूप है। इस तेजोमय पिंड में विस्फोट हुआ और उसके दो भाग हो गए। एक भाग द्युलोक हुआ और दूसरा भूमि।[६] इन दोनों के मध्य में आकाश, दिशाएं, समुद्र आदि हुए। इस भूमि वाले आधे भाग से क्रमशः महत्, अहंकार, मन, सत्त्व, रजस्, तमस् तीन गुण, पंच भूत आदि की उत्पत्ति हुई। इनसे जीव-जगत् की सृष्टि हुई।

५-१. तमिद् गर्भं प्रथमं दध्र आपः०। ऋग्० १०.८२.५ और ६। यजु० १७.३०
५-२. सुभूः ....अन्तर्महत्यर्णवे। ...यतो जातः प्रजापतिः। यजु० २३.६३
५-३. आपो ह...गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम्। ऋग्० १०.१२१.७
५-४. अप एव ससर्जादौ तासु वीर्यमवासृजत्। मनु० १.८
५-५. तदण्डमभवद् हैमं ...तस्मिन् जज्ञे स्वयं ब्रह्मा०। मनु० १.९
५-६. तदण्डमकरोद् द्विधा.. दिवं भूमिं च निर्ममे०। मनु० १.१२-१३

मनुस्मृति ने यह भी स्पष्ट किया है कि इस जलीय सृष्टि के कारण ही परमात्मा का नाम 'नारायण' पड़ा। नारा+अयन=नारायण होता है। इसमें नारा का अर्थ है - जल। जल जिसका अयन अर्थात् आश्रय या निवास स्थान है, उसे नारायण कहते हैं।[७] इसी अभिप्राय को लेकर कल्पना की गई है कि विष्णु या परमात्मा क्षीरसागर में निवास करते हैं। यह क्षीरसागर वस्तुतः 'आकाशगंगा' (Milky way) है। इसमें सैकड़ों विष्णु अर्थात् सूर्यों का निवास है। इनकी ज्योति आभा या लक्ष्मी है। अतः कहा जाता है कि विष्णु भगवान् लक्ष्मी के साथ क्षीरसागर में शयन करते हैं।

६. वाक्तत्त्व या शब्दब्रह्म से सृष्टि

ऋग्वेद का कथन है कि यह सृष्टि वाक्तत्त्व अर्थात् शब्दब्रह्म से हुई है। ऋग्वेद के वाक्सूक्त में वाग्देवी का कथन है कि मैं वायु की तरह सारे संसार में फैली हुई हूँ। मुझसे ही सारी सृष्टि का प्रारम्भ हुआ है। मैं द्युलोक और पृथिवी से बाहर तक फैली हुई हूँ।[१] इस मंत्र से स्पष्ट है कि सृष्टि का निर्माण या प्रारम्भ शब्द से हुआ है।

व्याकरणदर्शन शब्द को ब्रह्म मानता है। शब्द का नित्य रूप स्फोट है। यह प्रत्येक परमाणु में प्रतिक्षण होता है। इस स्फोट के दो रूप हो जाते हैं - १. स्फोट, २. ध्वनि। स्फोट नित्य है, ज्योतिर्मय है और अविनाशी है। ध्वनि अनित्य है, परिणामी है, परिवर्तनशील है। यह ध्वनि ही आकाश आदि पंचभूतों का रूप ग्रहण करती है। यही सृष्टि की प्रक्रिया है। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में अतएव वैयाकरणों का मत बताया है कि यह शब्दब्रह्म अक्षर, अविनाशी और अनादि-अनन्त है। यही अर्थ या पदार्थ के रूप में परिवर्तित होता है। इस प्रकार सृष्टि की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है।[२]

इसी बात को स्पष्ट करते हुए आगे कहा है कि यह सारा संसार शब्द से ही उत्पन्न हुआ है।[३] इसकी व्याख्या में टीकाकार ने मंत्र उद्धृत किया है कि वाक् या शब्द से ही यह अनश्वर और नश्वर दोनों प्रकार का संसार उत्पन्न हुआ है।[४] यह सिद्धान्त उपनिषदों के मत के अनुकूल है कि सर्वप्रथम आकाश की उत्पत्ति हुई। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी, पृथिवी से वृक्ष-वनस्पतियां, वनस्पतियों से अन्न, अन्न से पुरुष।[५] शब्द का आधार आकाश है, अतः शब्द से सृष्टि का अभिप्राय भी आकाश से सृष्टि का प्रारम्भ समझना चाहिए।

५-७. आपो नारा इति...तेन नारायणः स्मृतः। मनु० १.१०

६-१. अहमेव वात इव प्र वामि आरभमाणा भुवनानि विश्वा ॥ ऋग्० १०.१२५.८

६-२. अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥ वाक्य० १.१

६-३. शब्दस्य परिणामोऽयम् ...एतद् विश्वं व्यवर्तत। वाक्य० १.१२०

६-४. वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे०। वाक्य १.१२० की टीका

६-५. आकाशाद् वायुः। वायोरग्निः०। तैत्ति० २.१

शतपथ ब्राह्मण का कथन है कि वाक्तत्त्व या शब्द ही विश्वकर्मा ऋषि है । वाणी से ही इस संसार की रचना हुई है, अतः वाणी को विश्वकर्मा कहते हैं ।[६]

इसका अभिप्राय है कि वाक्तत्त्व या शब्दशक्ति (Sound waves) अनादि है। यह तरंगों के रूप में संसार में व्याप्त है । ये आकाशीय तरंगों को उत्पन्न करती हैं । उनसे सृष्टि की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। ये तरंगें वायु को जन्म देती हैं । वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथिवी और उससे वृक्ष-वनस्पतियों की उत्पत्ति होती है। वृक्ष-वनस्पतियों से भूमि और क्रमशः जीव-जगत् की सृष्टि होती है ।

७. विविध

ईक्षण से सृष्टि - अथर्ववेद में संकल्प और मन्यु अर्थात् ईश्वरीय ईक्षण और उत्साह या प्रेरणा से सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है ।[१] इसको ही अथर्ववेद में तप और कर्म भी कहा गया है ।[२] तप का अभिप्राय है ज्योतिर्मय या तपोमय रूप । ईश्वर के तेजोमय रूप से उसके संकल्पमात्र से यह सृष्टि प्रारम्भ होती है । जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि से चिनगारियां निकलती हैं । उसी प्रकार ईश्वर के दिव्य तेजोमय स्वरूप से सृष्टि की उत्पत्ति होती है । उपनिषदें इस सिद्धान्त का समर्थन करती हैं । छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है कि - वह सत् (सत्य)- स्वरूप परमात्मा ही अकेला सृष्टि के प्रारम्भ में था ।[३] उसकी इच्छा हुई कि मैं एक से अनेक और बहुत हो जाऊँ । उसने अपने ईक्षण (संकल्प) से तेज उत्पन्न किया । उसके पश्चात् तेज से जल की सृष्टि हुई और जल से अन्न की । अन्न से जीव जगत् की सृष्टि हुई ।[४] इस प्रकार ईश्वरीय ईक्षण (संकल्प) से सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन मिलता है ।

ईश्वर निमित्त कारण है - वेदों का मन्तव्य है कि ईश्वर सृष्टि का निमित्त कारण है, उपादान कारण प्रकृति है ।[५] ईश्वर, जीव और प्रकृति ये तीनों अनादि हैं । प्रकृति जगत् का उपादान कारण है, जीव कर्म करता है और फल भोगता है, ईश्वर न कर्म करता है और न फल भोगता है । वह केवल साक्षी मात्र है और ज्योतिर्मय रूप में सर्वत्र व्याप्त है ।[६] जिस प्रकार घट के निर्माण में मिट्टी उपादान कारण है और कुम्हार निमित्त कारण है, उसी प्रकार

६-६. वाग् वै विश्वकर्मा ऋषिः, वाचा हीदं सर्वं कृतम् । शत० ८.१.२.९

७-१. मन्युः - संकल्पस्य गृहादधि । अथर्व० ११.८.१

७-२. तपश्चैवास्तां कर्म च० । अथर्व० ११.८.६

७-३. सदेव सोम्य-इदमग्र आसीद् एकमेव० । छान्दोग्य उप० ६.२.१

७-४. तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति-तत् तेजोऽसृजत० । छान्दो० ६.२.३

७-५. इयं विसृष्टिर्यत आ बभूव० ।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्० । ऋग्० १०.१२९.७

७-६. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया० । ऋग्० १.१६४.२०

सृष्टि की रचना में प्रकृति उपादान कारण है और ईश्वर निमित्त कारण । अतएव ऋग्वेद में परमात्मा को सृष्टि का अध्यक्ष या स्वामी कहा गया है । वह संचालक, प्रेरक, गतिदाता और प्रेरणा का मुख्य स्रोत है ।

प्रकृति त्रिगुणात्मक है – ऋग्वेद के 'द्वा सुपर्णा०' के भाव को लेकर श्वेताश्वतर उपनिषद् में ईश्वर, जीव और प्रकृति को 'अज' अर्थात् अजन्मा और अनादि कहा गया है। साथ ही इन तीनों की विशेषताओं का भी उल्लेख है ।

प्रकृति के विषय में कहा गया है कि वह 'अज' है । वह त्रिगुणात्मक है । उसमें तीन गुण हैं – लोहित, शुक्ल और कृष्ण । ये तीन शब्द सत्त्व, रजस् और तमस् के लिए हैं । सत्त्वगुण में सात्त्विकता है और शुद्धता है, अतः उसे शुक्ल या श्वेत (सफेद) कहा गया है। रजोगुण में सक्रियता, तीव्रता और उग्रता है, अतः उसे लोहित या लाल कहा गया है । तमोगुण में निष्क्रियता है, अज्ञान और आवरणशीलता है, अतः उसे कृष्ण या काला कहा गया है । इससे नाना प्रकार की सृष्टि होती है । जीवात्मा भोक्ता है । वह कर्म करता है और उसका फल भोगता है । परमात्मा न कर्म करता है और न कर्मफल के बन्धन में पड़ता है।[७]

प्रकृति का विकास – सांख्यदर्शन में प्रकृति के विकास का क्रम बताते हुए कहा गया है कि सत्त्व, रजस् और तमस् जब साम्य-अवस्था में रहते हैं, तब उसे प्रकृति या मूल प्रकृति कहते हैं । इससे सर्वप्रथम महत् तत्त्व (बुद्धि) की उत्पत्ति होती है । महत् से अहंकार की उत्पत्ति होती है । अहंकार से आकाश आदि पांच तत्त्वों के सूक्ष्म रूप 'पांच तन्मात्राएं' अर्थात् शब्द तन्मात्रा, स्पर्श तन्मात्रा, रूप तन्मात्रा, रस तन्मात्रा और गन्ध तन्मात्रा ये पांच उत्पन्न होती हैं । इनसे ही आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी ये ५ महाभूत उत्पन्न होते हैं । अहंकार से ही दूसरी ओर सात्त्विक गुण के सम्बन्ध से ५ ज्ञानेन्द्रियां, ५ कर्मेन्द्रियां और मन, ये ११ पदार्थ उत्पन्न होते हैं । इस प्रकार ये २४ पदार्थ होते हैं । पुरुष को लेकर ये २५ पदार्थ होते हैं ।[८]

द्यु-भू आदि स्थिर हैं – ऋग्वेद और अथर्ववेद का कथन है कि यह संसार ध्रुव और स्थिर है । यह माया और क्षणभंगुर नहीं है । ऋग्वेद का कथन है कि यह द्युलोक, पृथिवी, पर्वत और यह सारा संसार स्थिर है, ध्रुव है । अपने स्थान पर व्यावहारिक रूप से प्रतिष्ठित हैं ।[९] अथर्ववेद में भी यही भाव दिया गया है कि द्यु-भू और पर्वत आदि स्थिर हैं। यह सारा संसार स्थिर है ।[१०] इससे स्पष्ट है कि वेद 'जगत् मिथ्या' इस सिद्धान्त का समर्थन नहीं करता है । वेद संसार को भुक्ति (भोग) और मुक्ति (मोक्ष) का साधन मानता है ।

७-७. अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां० । श्वेताश्वतर उप० ४.५

७-८. सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः, प्रकृतेर्महान्० । सांख्यसूत्र १.६१

७-९. ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी....ध्रुवं विश्वमिदं जगत्० । ऋग्० १०.१७३.४

७-१०.अस्थाद् द्यौरस्थात् पृथिवी-अस्थाद् विश्वमिदं जगत् । अथर्व० ६.७७.१

सृष्टि-रचना एक बार ही - ऋग्वेद का कथन है कि यह सृष्टि एक बार ही बनी है । यह बार-बार नहीं बनती है । मंत्र का कथन है कि द्युलोक और पृथिवी ये एक बार ही बने हैं ।[११] इसका अभिप्राय यह है कि ईश्वर ने ईक्षण से एक बार सृष्टि की रचना कर दी। उसके बाद स्वचालित यन्त्र की तरह इस सृष्टि का विकास होता है । तदनन्तर प्रलय और फिर प्रलय के बाद सृष्टि और पुनः प्रलय एवं सृष्टि, यह क्रम निरन्तर चलता रहता है । अतएव प्रकृति को अनादि या अज कहा जाता है ।

***

७-११. सकृद् द्यौरजायत सकृद् भूमिरजायत । ऋग्० ६.४८.२२

अध्याय - १३

ईश्वर-प्राप्ति के साधन

१. आत्मज्ञान या ब्रह्मज्ञान

आत्मज्ञान क्या है ? आत्मा के स्वरूप का ज्ञान आत्मज्ञान है । आत्मा एक सर्वव्यापी शक्ति है । यह सृष्टि का निर्माण करती है, सृष्टि का पालन-पोषण करती है और सृष्टि का संहार करती है, अतः इसे कर्ता, धर्ता और संहर्ता कहते हैं । आत्मा या ईश्वर के कर्तृत्व वाले रूप को ब्रह्म, ब्रह्मा, प्रजापति आदि कहा जाता है । ईश्वर के धर्तृत्व वाले रूप को धर्ता, धाता, विधाता, विष्णु आदि नाम दिए गए हैं । इसके संहारक रूप को रुद्र, महेश, शिव, शर्व, काल, यम आदि नाम दिए गए हैं । इन तीनों शक्तियों का समन्वित रूप ईश्वर, ब्रह्म या परमात्मा है । मानव-जीवन का उद्देश्य है, उस सर्वशक्तिमान् के स्वरूप को जानना, उसका दर्शन या साक्षात्कार करना तथा उसके फलस्वरूप मोक्ष प्राप्त करना ।

आत्मा का स्वरूप - वेदों में आत्मा का स्वरूप ज्योतिर्मय बताया गया है । वह ज्योतिरूप है, वह हृदय में विद्यमान है, वह अग्नि के तुल्य जाज्वल्यमान है । उसको वैश्वानर अग्नि भी कहते हैं । इसके विषय में ऋग्वेद के तीन मंत्रों में कहा गया है कि यह ज्योतिरूप है, यह हृदय में विद्यमान है, यह अमर या अविनाशी ज्योति है । सारे देवता इससे भयभीत रहते हैं और इसे नमस्कार करते हैं । यह अज्ञानरूपी अन्धकार को नष्ट करता है और रक्षा करता है ।[१]

ऋग्वेद के एक अन्य मंत्र में इस आत्मा को दूसरे रूप में प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि यह हृदय-कमल में रखा हुआ मधु (शहद) है ।[२] इसका अभिप्राय यह है कि इस आत्मा में माधुर्य है । जो इसके माधुर्य को चख लेता है या इसका स्वाद ले लेता है, उसे अन्य कोई पदार्थ अच्छा नहीं लगता है । यही कारण है कि जो एक बार परमात्मा के माधुर्य या आनन्द का रस ले लेता है, उसे संसार की सारी वस्तुएं नीरस लगती हैं । अतएव तैत्तिरीय उपनिषद् में परमात्मा को रसरूप अर्थात् आनन्दरूप कहा गया है ।[३] परमात्मा का आनन्दमय रूप ही संसार के आकर्षण का कारण है । प्रकृति में भौतिक सुख हैं, परन्तु वास्तविक आनन्द केवल परमात्मा में ही है ।

१-१ (क) इदं ज्योतिर्हृदय आहितं यत् । ऋग्० ६.९.६

(ख) ध्रुवं ज्योतिर्निहितं दृशये कम्० । ऋग्० ६.९.५

(ग) वैश्वानरः, अमर्त्यः० । ऋग्० ६.९.७

१-२. निषिक्तं पुष्करे मधु । ऋग्० ८.७२.११

१-३. रसो वै सः । तैत्ति० उप० २.७

आत्मज्ञान मन्थन से - ऋग्वेद और यजुर्वेद में आत्मा को अग्नि बताते हुए कहा गया है कि यह आत्मारूपी अग्नि गुप्त है या अदृश्य है। यह मन्थन के द्वारा प्रकट होती है। अतएव इसको 'सहसस्पुत्र' या शक्ति का पुत्र कहा जाता है। बिना रगड़, चिन्तन, घर्षण या मन्थन के यह प्रकट नहीं होती है।[४] इसका अभिप्राय यह है कि जो निरन्तर मनन या चिन्तन करते रहते हैं, उनको ही आत्मज्ञान होता है। यही भाव श्वेताश्वतर उपनिषद् में विस्तार से दिया गया है कि जैसे दो अरणि नामक लकड़ियों को नीचे-ऊपर रखकर रगड़ने से अग्नि उत्पन्न होती है, उसी प्रकार अपने शरीर को नीचे की अरणि बनावे और प्रणव (ओम्) को ऊपर की लकड़ी बनावे। इस प्रकार ओम् के निरन्तर ध्यानरूपी घर्षण से यह गुप्त आत्मारूपी अग्नि प्रकट होती है।[५] यह आत्मरूपी अग्नि सर्वव्यापक है और गुप्त है। जैसे तिल में तेल, दही में घी, जल में अग्नि और दूध में घी गुप्तरूप से व्याप्त है, इसी प्रकार आत्मा सर्वत्र व्याप्त है। सत्य, तप, ध्यान, मनन और चिन्तन से गुप्त अग्नि प्रकट होती है।[६] अतएव ओम् या प्रणव के निरन्तर जप का आदेश दिया गया है।

ज्ञानी को आत्मज्ञान - ऋग्वेद और अथर्ववेद का कथन है कि उस ब्रह्म को आंखवाला अर्थात् ज्ञानी ही देख सकता है, अज्ञानी नहीं। वह ब्रह्म स्त्री और पुरुष दोनों रूप में है। जो इस रहस्य को समझ लेता है वह पिता का भी पिता हो जाता है अर्थात् तत्त्वज्ञानी हो जाता है।[७] इसका अभिप्राय है कि आत्मा स्त्री और पुरुष दोनों में समान रूप से है। आत्मा का एक पक्ष पुरुष है तो दूसरा पक्ष नारी। अतएव आत्मा का स्वरूप अर्धनारीश्वर माना जाता है। प्रत्येक जीव में आग्नेय तत्त्व पुरुष है और सोमीय तत्त्व स्त्री है। आग्नेय तत्त्व प्रधान होने पर पुरुष हो जाता है और सोमीय तत्त्व प्रधान होने पर नारी। पुरुष और स्त्री दोनों में ४५ प्रतिशत तत्त्व समान हैं। ५ प्रतिशत का अन्तर हो जाता है। यदि ५०+५= ५५ आग्नेय अंश है तो पुरुष और ५०+५= ५५ सोमीय अंश है तो स्त्री। परन्तु आत्मा दोनों में समान रूप से विद्यमान है। जो उस आत्मतत्त्व को जान लेता है, वह ज्ञानी, मुनि और ऋषि हो जाता है। अतएव अथर्त्रवेद में कहा गया है कि बृहस्पति (ज्ञान) मेरी आत्मा है। मैं उस ज्ञान के द्वारा आत्मा का ज्ञान प्राप्त करता हूँ। इससे मेरे हृदय के सब कष्ट, ताप, संताप दूर हो जाते हैं।[८]

जिज्ञासु को आत्मज्ञान - ऋग्वेद और यजुर्वेद में वर्णन किया गया है कि जिज्ञासु को ही आत्मज्ञान होता है।[९] जिसमें तीव्र उत्कंठा या अभिलाषा है, वही आत्मज्ञान

१-४. त्वामग्ने....गुहा हितं.......स जायसे मथ्यमानः० । ऋग्० ५.११.६ । यजु० १५.२८

१-५. ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् देवं पश्येद् निगूढवत् । श्वेता०उप० १.१४

१-६. तिलेषु तैलं०, क्षीरे सर्पिरिवार्पितम्० । श्वेता०उप० १.१५-१६

१-७. पश्यदक्षण्वान् न वि चेतदन्धः० । ऋग्० १.१६४.१६ । अथर्व० ९.९.१५

१-८. बृहस्पतिर्मे आत्मा, असंतापं मे हृदयम्० । अ० १६.३.५-६

१-९. आ यन्मा वेना अरुहन् ऋतस्य० । ऋग्० ८.१००.५

की ओर अग्रसर होता है । यजुर्वेद का कथन है कि वह आत्मा हृदयरूपी गुफा में छिपा हुआ है । सारा संसार उसी में समाया हुआ है । उसी से संसार प्रकट होता है और उसी में लीन होता है । जो उत्कट अभिलाषा वाला होता है, उसी को उस आत्मा, परमात्मा या ईश्वर का दर्शन होता है ।[१०] ऋग्वेद के एक अन्य मंत्र में कहा गया है कि जो जिज्ञासा के साथ ही सक्रिय है, पुरुषार्थी है, कर्मठ है और आस्तिक बुद्धिवाला है । वही अपने सत्कर्मों से परमात्मा को प्राप्त कर पाता है ।[११]

मन की शुद्धता से आत्मज्ञान - ऋग्वेद का कथन है कि मन की शुद्धता, पवित्रता और निष्कपटता आत्मा तक पहुंचाती है, अर्थात् आत्मज्ञान उसी को होता है, जो मन और हृदय से शुद्ध, पवित्र और निश्छल होता है ।[१२] अथर्ववेद में भी यही भाव प्रकारान्तर से दिया गया है । अथर्ववेद का कथन है कि वह सर्वज्ञ परमात्मा परिपक्व, सुसंस्कृत या परिष्कृत हृदय वाले साधक में ही प्रवेश करता है ।[१३] मंत्र में 'पाक' का अर्थ परिपक्वता, परिष्कार, सुसंस्कार और पवित्रता है । जहाँ पवित्रता है, परिष्कार है और शुचिता है, वहां ही प्रभु का निवास होता है । जब तक मनुष्य के हृदय में अपवित्रता, लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष और दुर्भावनाएं रहेंगी, तब तक आत्मज्ञान, आत्मदर्शन और प्रभु की प्राप्ति की आशा नहीं की जा सकती है ।

सद्बुद्धि से आत्मज्ञान - ऋग्वेद में कहा गया है कि सद्बुद्धि हृदय में आत्मतत्त्व को दृढ़ रूप में स्थापित करती है ।[१४] मंत्र में बुद्धि को 'ऋत्वियावती' कहा गया है । इसका अर्थ है - समयोचित कार्य करने वाली सन्मति या जो यथासमय उचित मार्गदर्शन करती है । यह बुद्धि साधना के मार्ग में पथ-प्रदर्शन का कार्य करती है और अज्ञात मार्ग में ज्ञान का प्रदीप जलाकर मार्ग प्रशस्त करती है । यजुर्वेद में सन्मति, सद्बुद्धि या दिव्य दृष्टि को मेधा कहते हुए बताया गया है कि इस मेधा बुद्धि की ही देवगण और ज्ञानी उपासना करते हैं ।[१५] यह मेधा आत्मदर्शन का मार्ग प्रशस्त करती है ।

मानस यज्ञ से आत्मज्ञान - यजुर्वेद में यज्ञरूप परमात्मा को जानने का उपाय यज्ञ बताया गया है ।[१६] यज्ञ क्या है ? यह है - 'स्वाहा' और इदं न 'मम' की भावना को जागृत करना । अग्नि में जिस प्रकार समिधा डाली जाती है और वह आत्मसमर्पण करके अग्नि रूप हो जाती है, उसी प्रकार सर्वात्मना आत्मसमर्पण कर देना, सब कुछ ईश्वरार्पण कर देना, यह यज्ञ है । देवों ने इस विधि को अपनाया और वे दिव्य शक्ति से युक्त हो गए।

१-१०.वेनस्तत् पश्यत्० । यजु० ३२.८
१-११.वेनः क्रतुभिरानजे० । ऋग्० ८.६२.१
१-१२.शुद्धो देवानामुप याति निष्कृतम् । ऋग्० ९.७८.१
१-१३.स मा धीरः पाकमत्रा विवेश । अ० ९.९.२२
१-१४.इन्द्र दृह्यस्व..इयं धीर्ऋत्वियावती । ऋग्० ८.८०.७
१-१५.यां मेधां देवगणाः० । यजु० ३२.१४
१-१६.यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः० । यजु० ३१.१६

दूसरी ओर स्वाहा अर्थात् स्वार्थ का पूर्णतया परित्याग करना और 'इदं न मम' संसार की कोई भी वस्तु मेरी नहीं है, अपितु परमात्मा की दी हुई है तथा परमात्मा की वस्तु है, ऐसा भाव रखना और संसार की किसी वस्तु में लिप्त न होना, यह यज्ञ है । जहां स्वार्थ-त्याग है, वहां परमार्थ है, परोपकार है, सद्भावों का उदय है और विश्वबन्धुत्व की भावना का जागरण है । यही भावना मानव को देवत्व की ओर ले जाती है । इसी यज्ञ को लेकर यजुर्वेद में कहा गया है कि इस यज्ञ की विधि से हम परमात्मा को जान सकते हैं और पा सकते हैं । उस परमात्मा को जानने से मनुष्य जीवन-मरण के बन्धन से मुक्त हो जाता है ।[१७]

यही भाव ऋग्वेद में भी दिया गया है कि उस आग्नेयरूप परमात्मा को हम यज्ञ से प्राप्त कर सकते हैं । वह ज्ञानदाताओं में प्रथम है, अत: कहा है 'धीषु प्रथमम्' वह ज्ञानदाताओं या ज्ञानियों में प्रथम है । इस यज्ञ का तीसरा लाभ बताया गया है 'क्षैत्राय साधसे' यज्ञ से साधना का क्षेत्र तैयार होता है । इस प्रकार यज्ञ से तीन कार्य सिद्ध होते हैं- १. स्वार्थत्याग, २. ज्ञान की प्राप्ति और ३. साधना की पृष्ठभूमि का तैयार होना ।[१८]

अथर्ववेद ने इस विषय को और स्पष्ट करते हुए कहा है कि जो इस यज्ञ को मानसिक रूप से करता है, वह प्रशंसनीय है ।[१९] पूर्ण समर्पण या ईश्वरार्पण का कार्य मानस यज्ञ में सरलता से संपन्न होता है । अथर्ववेद ने यह भी स्पष्ट किया है कि बिना हव्य (घी, सामग्री आदि) का यज्ञ अधिक लाभकारी है और अधिक शक्तिशाली है ।[२०] इसका अभिप्राय है कि मानस यज्ञ आत्मज्ञान के लिए सर्वोत्तम है । इसमें मन ही मन ईश्वर का भजन, ध्यान और चिन्तन करना है । निरन्तर चिन्तन से दूध या दही से नवनीत (मक्खन) की तरह आत्मतत्त्व प्रकट होता है और ब्रह्म का साक्षात्कार होता है ।

२. योग-साधना

ईश्वर-प्राप्ति का एक क्रियात्मक पक्ष है । इसको योग-साधना विधि कहते हैं । महर्षि पतंजलि ने इस विधि का बहुत विस्तार से योगदर्शन में प्रतिपादन किया है ।[१] इस विधि में अपने शरीर और मन को यम, नियम, आसन और प्राणायाम के द्वारा शुद्ध किया जाता है । इसके पश्चात् अन्तर्मुखी प्रवृत्ति विकसित की जाती है, इसके द्वारा मन को बाह्य विषयों से हटाकर अन्दर की ओर आत्मा पर लगाया जाता है । इसे प्रत्याहार कहते हैं ।

१-१७. वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्० । तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति० ।। यजु० ३१.१८

१-१८. अग्निं वो देवयज्यया, अग्निं धीषु प्रथमम्०, अग्निं क्षैत्राय साधसे० । ऋग्० ८.७१.१२

१-१९. य इमं यज्ञं मनसा चिकेत० । अ० ७.५.५

१-२०. अस्ति नु तस्मादोजीयो यद् विहव्येनेजिरे । अ० ७.५.४

२-१. इस विषय के विस्तृत ज्ञान के लिए देखिए, लेखककृत ग्रन्थ 'साधना और सिद्धि' अध्याय १से ८।

इसके पश्चात् मन को किसी एक बिन्दु या निर्दिष्ट स्थान पर लगाया जाता है । इसे धारणा कहते हैं । धारणा की पुष्टि हो जाने पर अपने मन को निर्विषय बनाते हुए हृदय, भ्रूमध्य या सहस्रार चक्र में से किसी एक चक्र पर अपना ध्यान केन्द्रित करके आत्मज्योति के दर्शन का प्रयत्न किया जाता है । इसे ध्यान कहते हैं । इसके पश्चात् समाधि की स्थिति आती है। इसमें साधक अपनी आत्मा को परमात्मा में मग्न करके ईश्वर से तादात्म्य की अनुभूति करता है । यह समाधि की स्थिति बड़े प्रयत्न से प्राप्त होती है । यह स्थिति प्राप्त होने पर साधक में अनेक दिव्य शक्तियां आ जाती हैं । इस स्थिति में ऋतंभरा प्रज्ञा नामक दिव्य प्रतिभा जागृत हो जाती है । इससे साधक में दिव्य ज्ञान, दिव्य शक्तियां और विविध सिद्धियां प्रकट होती हैं । यह साधना का क्रियात्मक पक्ष है । अतः इसे कर्मयोग भी कहा जाता है ।

साधना का स्थल - योगसाधना के लिए उचित स्थल की आवश्यकता होती है। यह स्थान शान्त, एकान्त और बाह्य कोलाहल आदि से रहित हो । अतएव प्राचीन योगी, मुनि और साधक आदि पर्वतों का आश्रय लेते थे । पर्वतों की चोटियां, गुफाएं और सघन वृक्षों से युक्त स्थान उपयुक्त होते थे । इन स्थानों पर कुटी बनाकर साधना प्रारम्भ की जाती थी । नदियों के संगम, समुद्र का किनारा, झरनों के समीप का स्थान भी उपयुक्त होता था। अतएव ऋग्वेद और यजुर्वेद में कहा गया है कि साधना के लिए पर्वतों की गुफाएं आदि तथा नदियों के संगम-स्थल उपयुक्त हैं । यहां पर साधक शान्तचित्त होकर मनन-चिन्तन करते हैं और ध्यान लगाते हैं । इससे उनकी बुद्धि शुद्ध और परिष्कृत होती है । इससे साधक विप्र अर्थात् ज्ञानी, चिन्तक और मेधावी हो जाता है ।[२]

साधना की प्रक्रिया - साधना की प्रक्रिया एक निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है। यह पहाड़ पर चढ़ने की प्रक्रिया है । इसमें उत्साह, श्रद्धा और निष्ठा की आवश्यकता होती है । धीरे-धीरे एक-एक कदम बढ़ाया जाता है । पहले आसन और प्राणायाम से अपने शरीर को शुद्ध किया जाता है । तत्पश्चात् प्रत्याहार और धारणा के द्वारा मन को शुद्ध किया जाता है । इसके बाद ध्यान और समाधि की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है । ऋग्वेद में बहुत सुन्दर ढंग से इसका वर्णन किया गया है कि साधना में धीरे-धीरे एक पर्वत की चोटी पर पहुंचा जाता है । वहां पहुंचने पर आगे अन्य उससे ऊँची चोटियां दिखाई देती हैं । क्रमशः एक से एक ऊँची चोटी पार की जाती है । इस चढ़ाई का कहीं अन्त नहीं है । जितना आगे बढ़ते जाएंगे, उतनी ही दिव्य शक्तियां और सिद्धियां आदि प्राप्त होती जाएंगी । मंत्र में आगे कहा गया है कि इसके लिए अनेक घोर प्रयत्न करने पड़ते हैं । परमात्मा साधक के प्रत्येक प्रयत्न को देखता रहता है और वह समय आने पर उसकी सब कामनाएं पूर्ण करता है ।[३]

२-२. उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनाम् ।
धिया विप्रो अजायत । ऋग्० ८.६.२८ । यजु० २६.१५

२-३. यत् सानोः सानुमारुहद् ......यूथेन वृष्णिरेजति । ऋग्० १.१०.२

महर्षि अरविन्द घोष को इस मंत्र में साधना का रहस्य दिखाई पड़ा, अतः उन्होंने इसका बार-बार उल्लेख किया है ।

मन और बुद्धि का समन्वय - ऋग्वेद और यजुर्वेद में आत्मज्ञान के लिए मन और बुद्धि के समन्वय पर बल दिया गया है । मंत्र में कहा गया है कि विद्वान् परमात्मा के ज्ञान के लिए अपने मन और बुद्धि को समन्वित करते हैं ।[४] मन और बुद्धि का समन्वय आत्मज्ञान में किस प्रकार सहायक होता है, इसका प्रकार यह है । मन का काम है - संकल्प-विकल्प, विचार करना और बुद्धि का काम है - निश्चय करना । मन की चिन्तन शक्ति और बुद्धि की निश्चयात्मक शक्ति, ये दोनों मिलकर साधक को निश्चित मार्ग पर ले जाती हैं । साधना का उद्देश्य है आत्मज्ञान कराना । यह आत्मज्ञान साधक को दिव्य शक्ति और दिव्य ज्ञान प्रदान करता है । मन में क्रियाशीलता है, कर्मठता है और प्रेरकता है । यह साधक को निरन्तर कर्म करने के लिए प्रेरित करता है । बुद्धि उसका मार्गदर्शन करती है। इस प्रकार दोनों का समन्वय आत्मज्ञान कराने में समर्थ होता है ।

मन और हृदय का समन्वय - ऋग्वेद में परमात्मा को पतंग (सुपर्ण, व्यापक) कहते हुए बताया गया है कि विद्वान् मन और हृदय को समन्वित करके उस ज्योतिरूप पतंग का दर्शन करते हैं ।[५] अथर्ववेद में कहा गया है कि अथर्वा (योगी, साधक) अपने हृदय और मूर्धा (मन, बुद्धि) को समन्वित करते हुए उसे अपने मस्तिष्क के ऊपरी भाग अर्थात् सहस्रार चक्र में स्थापित करते हैं ।[६] इसका अभिप्राय है कि मन ज्ञानतत्त्व का प्रतिनिधि है, वह मनन-चिन्तन का साधन है, दूसरी ओर हृदय श्रद्धा, भक्ति और प्रेम का प्रतिनिधि है । जब ज्ञानतत्त्व और भक्तितत्त्व दोनों का समन्वय हो जाता है । तब मस्तिष्क में आत्मदर्शन या ज्योति-दर्शन होता है ।

साधना से निरन्तर उन्नति का वर्णन करते हुए यजुर्वेद में कहा गया है कि साधना से व्यक्ति पहले भूमंडल से अन्तरिक्ष-मंडल में पहुंचता है । तत्पश्चात् अन्तरिक्ष से द्युलोक में पहुंचता है । द्युलोक से ऊपर ज्योतिर्मण्डल में पहुंचता है ।[७] हमारे शरीर में भी ये तीनों मंडल हैं । कण्ठ से ऊपर द्युलोक (स्वः) है, अर्थात् शिरोभाग द्युलोक है । शिरोभाग में भी सबसे ऊपर का भाग, जहां सहस्रार चक्र है, वह नाक (स्वर्ग, महः लोक, ज्योतिर्मण्डल) कहा जाता है । सिर के सबसे ऊपरी भाग में आत्मज्योति का निवास है । इसे स्वर्ग या नाक भी कहा जाता है । यह दिव्य शक्तियों का केन्द्र है ।

२-४. युञ्जते मन उत युञ्जते धियः० । ऋग्० ५.८१.१ । यजु० ५.१४

२-५. पतंगम् ...हृदा पश्यन्ति मनसा विपश्चितः । ऋग्० १०.१७७.१

२-६. मूर्धानमस्य संसीव्य- अथर्वा हृदयं च यत् ।
मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत्० । अ० १०.२.२६

२-७. पृथिव्या अहम् उदन्तरिक्षम्० ।
स्वर्ज्योतिरगामहम् । यजु० १७.६७

मनुर्भव (मनन-चिन्तन) - ऋग्वेद का कथन है कि **'मनुर्भव, जनया दैव्यं जनम्'** अर्थात् मननशील हो, निरन्तर चिन्तन करो और जन-जन में दिव्य ज्योति का प्रसार करो ।[८] आत्मज्ञान एवं आत्मदर्शन के लिए मनन और चिन्तन अत्यन्त आवश्यक है। मनन के आधार पर ही व्यक्ति को मानव, मनुष्य और मनुज कहते हैं । मनन और चिन्तन का जितना आश्रय लिया जाएगा, उतनी ही साधना के क्षेत्र में आत्मिक उन्नति होगी। इस चिन्तन-शक्ति से ही आन्तरिक ज्योति, मेधा, प्रज्ञा और प्रतिभा का विकास होता है । इसी आधार पर तत्त्वदर्शी और चिन्तक के लिए ऋषि, मुनि आदि शब्दों का प्रयोग होता है ।

संयम, जितेन्द्रियता - आत्मज्ञान के लिए आवश्यक है कि साधक का जीवन पूर्णतया संयमी हो । वह जितेन्द्रिय हो । वह अपनी इन्द्रियों को वश में रखे । अतएव ऋग्वेद में निर्देश दिया गया है कि साधक अपनी इन्द्रियों पर संयम रखे ।[९] यजुर्वेद आदि में भी कहा गया है कि कान से भद्र सुनो, आंख से भद्र देखो, आदि ।[१०] मनुस्मृति में स्पष्ट किया है कि जो मनुष्य बाह्य विषयों में आसक्त हो जाते हैं, वे कर्तव्य मार्ग से च्युत हो जाते हैं और दोषी होते हैं । जो इन इन्द्रियों को अपने वश में कर लेते हैं और जितेन्द्रिय हो जाते हैं, उन्हें सिद्धि प्राप्त होती है ।[११] अतः प्रत्येक साधक के लिए आवश्यक है कि वह संयमी और जितेन्द्रिय हो । जो साधक विषयों की ओर आकृष्ट होगा, वह साधना के मार्ग में प्रगति नहीं कर सकता है ।

साधना के तत्त्व -ऋग्वेद के एक सूक्त में साधना के तत्त्वों का बहुत सुन्दर वर्णन हुआ है । साथ ही स्वर्ग, अमरत्व, मोक्ष आदि का भी वर्णन है ।[१२] इस सूक्त में वर्णन किया गया है कि साधना के प्रमुख तत्त्व हैं- ऋत, सत्य, श्रद्धा और तप ।[१३] ऋत बोलने वाला, सत्य बोलने वाला, श्रद्धाशील और तपस्वी ये ज्योतिर्मय लोक के अधिकारी होते हैं।[१४] ये उन लोकों को प्राप्त करते हैं, जहां सदा ज्योति, प्रकाश और आनन्द हैं ।[१५] ऋत और सत्य का प्रायः सत्य ही अर्थ है । इस मंत्र में ऋत और सत्य को पृथक्-पृथक् रखा गया है । ऋत और सत्य में थोड़ा अन्तर है । ऋत सत्य की समष्टि का बोधक है और सत्य व्यष्टि का । ऋत व्यापक शब्द है । इसमें सत्य की सभी विधाएं सम्मिलित हैं, जैसे मन, वचन,

---

२-८. मनुर्भव जनया दैव्यं जनम् । ऋग्० १०.५३.६

२-९. अक्षानहो नह्यतनोत सोम्याः० । ऋग्० १०.५३.७

२-१०. भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः० । यजु० २५.२१

२-११. इन्द्रियाणां प्रसंगेन दोषमृच्छत्यसंशयम् ।
संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति ।। मनु० २.९३

२-१२. ऋग्० ९.११३.१से ११

२-१३. ऋतवाकेन सत्येन श्रद्धया तपसा सुतः । ऋग्० ९.११३.२

२-१४. ऋतं वदन्, सत्यं वदन्, श्रद्धां वदन्० । ऋग्० ९.११३.४

२-१५. यत्र ज्योतिरजस्रं, यस्मिन् लोके स्वर्हितम्० । ऋग्० ९.११३.७

कर्म में सत्यनिष्ठता, व्यवहार में सदा सत्यनिष्ठता को अपनाना, चिन्तन-मनन में भी कभी असत्य या दुर्भाव को न आने देना आदि । सत्य सत्य-व्यवहार के लिए है । ऋत और सत्य भाषण से आत्मिक शुद्धि होती है और सात्त्विकता आती है । श्रद्धा निष्ठा के लिए है। हृदय से किसी बात को स्वीकार करना और मानना श्रद्धा है । श्रद्धा में हृदय की भावना और निष्ठा निहित है । इसमें मनोयोग, संलग्नता और हार्दिकता का भाव सम्मिलित है । तप शरीर और मन की पवित्रता के लिए है । जब शरीर और मन में शुचित्व होगा, तभी साधना सफल होगी ।

प्राणायाम - योगसाधना में प्राणायाम का बहुत महत्त्व है । प्राणायाम ही वह विधि है, जो शरीर और मन को शुद्ध करती है । प्राणायाम शरीर के सभी दोषों को बाहर दूर करता है या उन्हें जला देता है । प्राण विश्वव्यापिनी शक्ति है । यह संसार को ऊर्जा दे रही है । प्राणायाम के द्वारा उस विश्वव्यापिनी शक्ति से सम्बन्ध स्थापित किया जाता है । प्राण और प्राणायाम का उल्लेख वेदों में है । अथर्ववेद में प्राणायाम से दीर्घायु और जरामृत्यु का उल्लेख है ।[१६] ऋग्वेद में भी उल्लेख है कि वायु में अमृत का खजाना है । यह ओषधि है, यह दोषों को दूर करके हृदय को पुष्ट करता है । यह पिता, भाई और मित्रवत् हमारा हितकारी है ।[१७] प्राण के दो भेद हैं - प्राण और अपान । इनमें से प्राण अर्थात् पूरक प्राणायाम शरीर के सारे दोषों को बाहर निकालता है । प्राणायाम में मुख्य रूप से दो क्रियाएं होती हैं- **१. पूरक** - श्वास या प्रश्वास अर्थात् सांस अन्दर लेना । इससे बाहरी आक्सीजन (Oxygen) को अन्दर ले जाते हैं, इससे शरीर के सारे फेफड़ों को शुद्ध वायु मिलती है । **२. रेचक** - अर्थात् निःश्वास या अन्दर की सांस को बाहर निकालना । इससे अन्दर की दूषित वायु, जिसे कार्बन डाई-आक्साइड (Carbon-dioxide) कहते हैं, बाहर निकलती है । इससे शरीर शुद्ध होता है । अथर्ववेद में इसका ही वर्णन करते हुए कहा गया है कि प्राण-अपान में प्राण वायु शरीर को शक्ति देती है और दूसरी अपान वायु शरीर के दोषों को बाहर निकालती है ।[१८]

मनुस्मृति में बहुत सुन्दर ढंग से प्राणायाम का महत्त्व बताया गया है कि जैसे आग में डालने से लोहे आदि धातुओं का मल जल जाता है और वह निर्मल हो जाता है, वैसे ही प्राणायाम करने से शरीर के सारे मल एवं दूषित तत्त्व जलकर नष्ट हो जाते हैं ।[१९] ध्यान रखें कि यह दूषित मल ही सारे रोगों का कारण है । यदि प्राणायाम से इस मैल को जला दिया जाता है तो शरीर निर्मल हो जाता है और रोग स्वयं नष्ट हो जाते हैं ।

२-१६. कृणोमि ते प्राणापानौ, जरां मृत्युं दीर्घमायुः स्वस्ति । अ० ८.२.११

२-१७. वात आ वातु भेषजम्० । ऋग्० १०.१८६.१ से ३

२-१८. दक्षं ते अन्य आवातु, व्यन्यो वातु यद् रपः । अ० ४.१३.२

२-१९. दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः ।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ।। मनु० ६.७१

योगदर्शन के व्यास-भाष्य में प्राणायाम का महत्त्व बताते हुए कहा गया है कि प्राणायाम से बढ़कर अन्य कोई दूसरा तप नहीं है । इससे दो लाभ होते हैं - १. शरीर के सारे मल नष्ट हो जाते हैं । २. ज्ञानरूपी ज्योति प्रज्वलित हो जाती है ।[२०]

ऋतंभरा प्रज्ञा - यह बुद्धि का अत्यन्त परिष्कृत रूप है । इसको शुद्ध बुद्धि या प्रतिभा कह सकते हैं । उच्च साधना के फलस्वरूप योगियों को यह ऋतंभरा प्रज्ञा प्राप्त होती है । इसको प्राप्त करने वाला व्यक्ति 'स्थितप्रज्ञ' हो जाता है । ऋतंभरा वह प्रज्ञा है, जो सूक्ष्म से सूक्ष्म पदार्थों का वास्तविक स्वरूप प्रकट करती है । सब प्रकार की समस्याओं का तुरन्त समाधान प्रस्तुत करती है । यह प्रकृति और पुरुष का भेद स्पष्ट करती है । यह जीवन-मरण के बन्धन से मुक्त करके साधक को मोक्ष तक पहुंचाती है ।

योगदर्शन के अनुसार निर्विचार समाधि में योगी को 'ऋतंभरा प्रज्ञा' प्राप्त होती है।[२१] यह परमात्मा की अनुकम्पा का अनुपम प्रसाद है । इसमें स्थूल से स्थूल और सूक्ष्म से सूक्ष्म पदार्थों की वास्तविक स्थिति ज्ञात हो जाती है । इसी के आधार पर योगी और महर्षि सूर्य, चन्द्र, ग्रह, लोक-लोकान्तरों आदि के विषय में अपने विचार प्रकट करते हैं। इसी आधार पर यजुर्वेद में एक ऋषि का कथन है कि - 'मैंने सूर्य को सामने और पीछे दोनों ओर से देखा हैं ।'[२२] आज तक विश्व का कोई भी वैज्ञानिक सूर्य के पिछले भाग का चित्र नहीं ले सकता है और न उसके बारे में कोई स्पष्ट सूचना दे पाया है ।

ऋग्वेद में 'ऋतंभरा प्रज्ञा' का उल्लेख मिलता है । मंत्र में 'ऋतंभरा प्रज्ञा' के लिए 'ऋतस्य मेधा' प्रयोग है । इसके विषय में ऋषि का कथन है कि मैंने परमपिता परमात्मा की कृपा से यह 'ऋतंभरा प्रज्ञा' प्राप्त की है और मैं सूर्य के तुल्य तेजस्वी हो गया हूँ ।[२३]

विपश्यना - यह संप्रति बौद्धों में प्रचलित साधना की एकविधि है । ऋग्वेद में इस विधि का संकेत मिलता है । मंत्र में कहा गया है कि वह अग्निरूप परमात्मा सब जीव-जगत् को और सारे लोकों को देखता है । वह हमें दु:खों से मुक्त करे ।[२४]

विपश्यना एक प्राचीन भारतीय योग-साधना की पद्धति थी, इसे श्री गौतम बुद्ध ने अपनाया था । विपश्यना का अर्थ है - विशेष रूप से देखना, जो वस्तु जैसी है, उसे वैसा ही देखना, उसके मूल रूप को देखना और जानना । यह कार्य आत्म-निरीक्षण से होता है, अत: आत्म-निरीक्षण इस विधि का मूल तत्त्व है । प्रारम्भिक अवस्था में अपने सांसों के

२-२०. तपो न परं प्राणायामात्, ततो विशुद्धिर्मलानाम्,
दीप्तिश्च ज्ञानस्य । योग० २.५२ पर व्यास भाष्य

२-२१. ऋतंभरा तत्र प्रज्ञा । योग० १.४८

२-२२. अहं सूर्यमुभयतो ददर्श । यजु० ८.९

२-२३. अहमिद् हि पितुष्परि मेधामृतस्य जग्रभ ।
अहं सूर्य इवाजनि । ऋग्० ८.६.१० । अ० २०.११५.१

२-२४. यो विश्वानि विपश्यति भुवना सं च पश्यति । ऋग्० १०.१८७.४

आने-जाने पर ध्यान जमाना होता है । इसका पूर्ण अभ्यास होने पर अन्तर्दर्शन की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है ।

३. श्रद्धा, तप और पुरुषार्थ

ईश्वर के दर्शन, ज्ञान और प्राप्ति के लिए श्रद्धा, तप और पुरुषार्थ इन गुणों की अत्यन्त आवश्यकता है । श्रद्धा के बिना मनुष्य सूखे वृक्ष की तरह है, जिसमें न जीवन है, न रस है, न आह्लाद है और न विकास की क्षमता । श्रद्धा रस की धारा है, जो हृदय, मन और बुद्धि को विकसित करती है, सींचती है और सदा इन्हें हरा-भरा रखती है । जहां श्रद्धा नहीं है, वहां न विकास है, न देवों का निवास है और न दिव्य शक्तियों का आधान । श्रद्धा सात्त्विक भावों की समष्टि है, जो ब्रह्मांड की दिव्य शक्तियों को आकृष्ट करके हृदय में स्थापित करती है ।

तप का अर्थ है - तपाना, परिपक्व बनाना, कठोर साधना के योग्य बनाना । अतएव साधना के क्षेत्र में तप का बहुत महत्त्व बताया गया है । तप शरीर मन और बुद्धि को परिष्कृत करता है, कठिन से कठिन कार्य को करने की क्षमता देता है और जीवन में सात्त्विक गुणों का विकास करता है ।

पुरुषार्थ उद्यम, उद्योग और कर्मठता की शिक्षा देता है । कठोर परिश्रम के बिना कोई भी उच्च कोटि की सफलता प्राप्त नहीं होती है । निरन्तर लगे रहना, सतत क्रियाशीलता, अदम्य इच्छाशक्ति की सत्ता, संघर्ष करने की क्षमता पुरुषार्थ है । आत्मतत्त्व की प्राप्ति तलवार की धार पर चलने के तुल्य दुष्कर कर्म है । पुरुषार्थ जीवनी शक्ति देता है और नित-नूतन उत्साह देता है ।

श्रद्धा का महत्त्व - ऋग्वेद के श्रद्धासूक्त में श्रद्धा का महत्त्व बताते हुए कहा गया है कि श्रद्धा गुण संसार का सबसे बड़ा ऐश्वर्य है ।[१] देवता और मनुष्य सभी अपनी हार्दिक सद्भावना के साथ श्रद्धा की उपासना करते हैं, क्योंकि श्रद्धा से ही श्री, लक्ष्मी, वैभव और दैवी शक्तियां प्राप्त होती हैं ।[२] सात्त्विक भावों का उदय, सात्त्विक प्रवृत्तियां और सात्त्विक कार्यों के प्रति प्रेरणा श्रद्धा से ही प्राप्त होती हैं । यज्ञ, दान, परोपकार आदि के शुभ भावों का जन्म श्रद्धा से ही होता है, अतः श्रद्धा का ही शुभ कार्यों में आह्वान किया जाता है ।[३] श्रद्धा जीवन-निर्माण करने वाली शक्ति है । जिसमें जैसे विचार, भाव और श्रद्धा, भक्ति आदि के गुण होते हैं, वह उसी प्रकार का व्यक्ति बन जाता है, अतः गीता में कहा गया है कि यह मानव श्रद्धा का ही स्वरूप है । जिसकी जैसी श्रद्धा होती है, वह उसी प्रकार का बन जाता है ।[४]

३-१. श्रद्धां भगस्य मूर्धनि० । ऋग्० १०.१५१.१

३-२. श्रद्धया विन्दते वसु । ऋग्० १०.१५१.४

३-३. श्रद्धयाऽग्निः समिध्यते० । ऋग्० १०.१५१.१

३-४. यो यत्-श्रद्धः स एव सः । गीता १७.३

व्रत और श्रद्धा - यजुर्वेद के एक महत्त्वपूर्ण मंत्र में व्रत और श्रद्धा का निकट सम्बन्ध बताते हुए कहा गया है कि किसी भी महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए सबसे पहले व्रत लिया जाता है । किसी कार्य को निष्ठापूर्वक करने के लिए तत्पर हो जाना व्रत है । व्रत धारण करने पर व्यक्ति दीक्षित होता है । दीक्षा का अभिप्राय है दृढ़ संकल्प । वह व्रती दीक्षा के द्वारा यह निश्चय करता है कि वह उसी कार्य को करेगा, अन्य कार्यों को नहीं । इस दीक्षा का फल होता है - दक्षिणा या दाक्षिण्य । विशेष योग्यता प्राप्त करना दाक्षिण्य है । विशेष योग्यता प्राप्त होने पर व्यक्ति की उस कार्य में श्रद्धा हो जाती है । वह उस कार्य का महत्त्व समझने लगता है । श्रद्धा का हृदय में आना तत्त्वज्ञान का साधन है । अतः कहा गया है कि श्रद्धा से सत्य की प्राप्ति होती है । श्रद्धा के द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति और आत्मज्ञान होता है ।[५]

इसी भाव को एक अन्य मंत्र में दिया गया है कि मैं व्रत और श्रद्धा को धारण करके इस यज्ञ-कार्य में प्रवृत्त हुआ हूँ । मैं अब दीक्षित हो गया हूँ । मेरा यह कार्य सफल होगा।[६]

श्रद्धा और भक्ति - ऋग्वेद और अथर्ववेद में कहा गया है कि जो पूर्ण भक्तिभाव के साथ परमात्मा की प्रार्थना करता है और उसे सोमरस आदि अर्पित करता है, परमात्मा उसकी सब कामनाएं पूर्ण करता हे ।[७] ऋग्वेद में यही भाव अन्यत्र भी दिया गया है कि जो श्रद्धापूर्वक परमात्मा की स्तुति-प्रार्थना करता है, परमात्मा उसे सभी प्रकार की सुख-सुविधाएं और वैभव प्रदान करता है ।[८]

अथर्ववेद में कहा गया है कि जो पूर्ण निष्ठा के साथ परमात्मा की प्रार्थना करते हैं, वे ही उस ज्योतिर्मय परमात्मा को देख पाते हैं ।[९]

श्रद्धा और पुरुषार्थ - श्रद्धा के साथ पुरुषार्थ भी अपेक्षित है । जहां श्रद्धा और पुरुषार्थ का मेल होता है, वहां सब प्रकार की सफलताएं सरलता से सिद्ध हो जाती हैं । अतएव अथर्ववेद का कथन है कि इस लोक में जो श्रद्धायुक्त और पुरुषार्थी हैं, उनको ही सब प्रकार की सफलता मिलती है । अतः व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह कार्य को प्रारम्भ करे और उसे परिश्रमपूर्वक पूर्ण करे ।[१०]

३-५. व्रतेन दीक्षामाप्नोति.....
श्रद्धया सत्यमाप्यते ।। यजु० १९.३०

३-६. व्रतं च श्रद्धां चोपैमि० । यजु० २०.२४

३-७. य उशता मनसा सोममस्मै
सर्वहृदा देवकामः सुनोति० । ऋग्० १०.१६०.३ । अ० २०.९६.३

३-८. यः पितरमाविवासति श्रद्धामनाः० । ऋग्० २.२६.३

३-९. हृदा वेनन्तो अभ्यचक्षत त्वा । अ० १८.३.६६

३-१०.अन्वारभेथाम् अनुसंरभेथाम्
एतं लोकं श्रद्दधानाः सचन्ते ।। अ० ६.१२२.३.

ऋग्वेद का कथन है कि जहां श्रद्धा के साथ पुरुषार्थ है, वहां सफलता है । श्रद्धा और पुरुषार्थ के कारण ही शक्तिशाली व्यक्ति शक्ति प्राप्त करते हैं ।[११] अथर्ववेद में मेखलाके प्रसंग में ब्रह्मचारी का कथन है कि यह मेखला श्रद्धा की पुत्री है और तप से उत्पन्न हुई है । इस मेखला को धारण करके मैं ज्ञान, तप और श्रम से मृत्यु पर विजय प्राप्त करता हूँ ।[१२] इसका अभिप्राय है कि जहां श्रद्धा, तप, ज्ञान और श्रम हैं, वहां मृत्यु पर विजय प्राप्त करना जैसे कठिन से कठिन काम भी सरलता से सिद्ध हो जाते हैं ।

तप का महत्त्व - वेदों में तप का बहुत महत्त्व वर्णित है । तप जीवन को ज्योतिर्मय बना देता है । असाध्य काम भी साध्य हो जाते हैं । तप न केवल शरीर की शुद्धि का साधन है, अपितु मनोबल, आत्मबल और उच्चकोटि की इच्छाशक्ति का दाता है । ऋग्वेद का कथन है कि प्राचीन ऋषि तपस्या के कारण अजेय और अधृष्य थे । उन्होंने तपस्या से आत्मज्ञान प्राप्त किया और वे स्वर्ग (मोक्ष) के अधिकारी हुए ।[१३] एक अन्य मन्त्र में कहा गया है कि हमने ऋषियों से ज्ञान प्राप्त किया और उस ज्ञान के कारण यज्ञ और तप से ब्रह्म-साक्षात्कार किया ।[१४]

अथर्ववेद में भी तप से ब्रह्मसाक्षात्कार का वर्णन मिलता है । तपस्या से जो दिव्य ज्योति प्राप्त होती है, उससे ब्रह्म का दर्शन होता है ।[१५] तपस्या की क्रमिक सफलता का उल्लेख करते हुए लिखा है कि मैं पृथिवी से अन्तरिक्ष में पहुंचा । वहां से द्युलोक में पहुंचा। द्युलोक से नाक (स्वर्ग) में पहुंचा और अन्त में ज्योतिर्मय लोक में पहुंचा ।[१६] इस प्रकार साधक तपस्या के फलस्वरूप दिव्य ज्योतिर्मय लोकों को प्राप्त करता है ।

अथर्ववेद में तप का महत्त्व बताते हुए कहा गया है कि तपस्या से साधक मेधावी और दीर्घायु होता है ।[१७] ऋग्वेद का कथन है कि जब तक शरीर को तप से तपा नहीं लिया जाता, तब तक आत्मज्ञान नहीं होता । जो तप से परिपक्व हो जाते हैं, वे ही आत्मज्ञान प्राप्त कर पाते हैं ।[१८] यजुर्वेद में सबसे उच्चकोटि के तपस्वी ऋषियों में भृगु और अंगिरस् का नाम लिया गया है और कहा गया है कि भृगुओं और अंगिरसों के तुल्य कठोर तपस्या करो।[१९]

इस प्रकार तप आत्मदर्शन और आत्मज्ञान का प्रमुख साधन माना गया है ।

३-११. श्रद्धा इत् ते मधवन् पार्ये दिवि० । ऋग्० ७.३२.१४

३-१२. तमहं ब्रह्मणा तपसा श्रमेण..सिनोमि । श्रद्धाया दुहिता तपसोऽधि जाता० । अ० ६.१३३.३ और ४

३-१३. तपसा ये अनाधृष्यास्तपसा ये स्वर्ययुः । ऋग्० १०.१५४.२

३-१४. यज्ञं तन्वानास्तपसाऽभ्यपश्यम् । ऋग्० ८.५९.६

३-१५. सो अपश्यत् जनितारमग्रे । अ० ४.१४.१ ३-१६. स्वर्ज्योतिरगामहम् । अ० ४.१४.३

३-१७. तपसा...भूयास्म-आयुष्मन्तः सुमेधसः । अ० ७.६१.१

३-१८. अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते० । ऋग्० ९.८३.१ ३-१९. यजु० १.१८

४. स्तुति, प्रार्थना, उपासना

स्तुति, प्रार्थना, उपासना - स्तुति, प्रार्थना और उपासना में क्या अन्तर है ? स्तुति का अर्थ है - किसी के गुणों का वर्णन, जिसमें जो गुण हैं या जो ग्राह्य तत्त्व हैं, उनका उल्लेख । इसका फल यह है कि भक्त या साधक उससे ये गुण लेना चाहता है । अपने स्वभाव को सुधारना चाहता है या उसके द्वारा अपनी उन्नति करना चाहता है । स्तुति में जिज्ञासावृत्ति है, भावुकता है और कुछ अपनाने की भावना । केवल चाटुकारिता स्तुति नहीं है ।

प्रार्थना अपने अभीष्ट देव के संमुख अपनी आवश्यकताओं को रखना है, अपने विकास या उन्नति के लिए उपयोगी गुणों का उल्लेख करना है कि हमारे अन्दर ये गुण आवें। प्रार्थना से निरभिमानता आती है । प्रभुरूपी अपने एक सहायक की प्राप्ति से उत्साह और स्फूर्ति आती है । जीवन की उन्नति की दिशा मिलती है ।

उपासना है - सामीप्य प्राप्त करना, समीप जाना, उससे संपर्क बनाना और तादात्म्य स्थापित करना । इसमें ईश्वर से सामीप्य बनाना है, उसे आत्म-समर्पण करना है और उसके गुणों को ग्रहण करना है ।

जैसे मनुष्य में यह भावना जागृत होना कि मुझे ज्ञानी बनना है, अपनी उन्नति करनी है और जीवन उच्च बनाना है । इसके लिए किसी आदर्श को चुनना है । अतः आदर्श के रूप में परमात्मा को अपना मार्गदर्शक बनाता है । वह सर्वत्र है, सर्वशक्तिमान् है, वह संसार का माता-पिता है, वह दयालु और न्यायकारी है । परमात्मा का सामीप्य प्राप्त करने के लिए उसे अपना माता-पिता और मार्गदर्शक मानना तथा उसके गुणों का उल्लेख करना स्तुति है। ज्ञान, सद्गुणों की प्राप्ति, शक्ति, स्फूर्ति, उत्साह और अध्यवसाय आदि की प्राप्ति के लिए निवेदन प्रार्थना है । तदर्थ परमात्मा की शरण में जाना, आत्मसमर्पण करना और तादात्म्य की अनुभूति करना उपासना है । इस उपासना से अभीष्ट देव के गुण साधक या भक्त में अंकुरित होते हैं । साधक में ज्ञान, धर्म, सात्त्विकता और दैवीगुण क्रमशः विकसित होते हैं। इससे वह आत्मज्ञान के मार्ग पर अग्रसर होता है ।

स्तुति - वेदों में ईश्वर एवं विभिन्न देवों की स्तुति में सैकड़ों मंत्र हैं । ईश्वर की स्तुति में उसे माता और पिता मानना उसकी स्तुति है ।[१] हे परमात्मन् ! तुम शत्रुओं को नष्ट करते हो, तुमने सूर्य को प्रकाश दिया है । तुम विश्वदेव, विश्वकर्मा और महान् हो ।[२] परमात्मा धर्म का कर्ता है अर्थात् धार्मिक भावनाओं को जन्म देने वाला है, वह सर्वज्ञ है और स्तुति के योग्य है । उसके लिए सामवेद के मंत्रों का गान करो ।[३] परमात्मा शरीरधारी

४-१. त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता० । ऋग्० ८.९८.११

४-२. त्वं सूर्यम् अरोचयः० । ऋग्० ८.९८.२

४-३. इन्द्राय साम गायत० । ऋग्० ८.९८.१

नहीं है । वह कवि, मनीषी, स्वयंभू और सर्वव्यापक है तथा सबको यथायोग्य ऐश्वर्य देता है ।[४]

हम बालक के तुल्य हैं और परमात्मा हमारे माता-पिता के तुल्य है, अतः बालक जिस प्रकार अपनी प्रार्थना माता-पिता से करता है और माता-पिता उसकी प्रार्थना पूरी करते हैं । उसी प्रकार का संबन्ध परमात्मा से बनाकर परमात्मा के गुणों का वर्णन करना स्तुति है । स्तुति का प्रयोजन है - परमात्मा से प्रीति बढ़ाना, उसके गुणों को अन्दर लाने की भावना जागृत करना और परमात्मा के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना ।

प्रार्थना - वेदों में ईश्वर-प्रार्थना के सैकड़ों मंत्र हैं । यहां उदाहरणार्थ कुछ मंत्र दिए जा रहे हैं । हे ईश ! तुम हमें ओजस्विता, धन, पराक्रम और शत्रुनाशन की शक्ति दो ।[५] हे ईश्वर ! तुम तेजोमय हो, हमें तेजस्विता दो, वीर्य, बल, ओज, उत्साह, स्फूर्ति और सहनशक्ति दो ।[६] हे परमात्मन् ! तुम हमारे मन को शुभ संकल्प वाला अर्थात् सात्त्विक विचारों वाला बनाओ ।[७] हे परमात्मन् ! तुम हमें सद्बुद्धि दो, हमें मेधावी बनाओ ।[८] हे परमात्मन् ! तुम हमें असत्य के मार्ग से हटाओ और सत्य के मार्ग पर ले चलो । तुम हमें अन्धकार के मार्ग से हटाकर प्रकाश के मार्ग पर ले चलो । तुम हमें मृत्यु के बन्धन से मुक्त करके अमरत्व को प्राप्त करावो ।[९] प्रार्थना सदा हृदयस्पर्शी और मार्मिक होनी चाहिए ।[१०]

प्रार्थना से अहंकार और अभिमान दूर होता है । परमात्मारूपी सहायक प्राप्त होता है । उत्साह, धैर्य, संघर्षशक्ति और स्फूर्ति आती है । हृदय के मनोरथों का ज्ञान होता है । प्रार्थना सदा उच्च एवं सात्त्विक विचारों की ही करनी चाहिए । प्रार्थना में निर्भयता, सहनशीलता, ओज, तेज, मेधा, मनस्विता आदि गुणों की ही याचना होनी चाहिए ।

उपासना - उपासना का अर्थ है - उप-समीप, आसना-बैठना । ज्ञान, श्रद्धा, भक्ति आदि गुणों की प्राप्ति के लिए ईश्वर के समीप बैठना उपासना है । उपस्थान और उपनिषद् शब्दों का भी यही भाव है । जिस प्रकार शीत से व्याकुल व्यक्ति गर्मी के लिए आग के पास बैठता है और अपनी ठंड दूर करता है, उसी प्रकार साधक अपनी मेधा, ज्ञान, बल, आत्मिक शक्ति, ओज आदि की वृद्धि के लिए सर्वशक्तिमान् , सर्वज्ञ, सर्वव्यापक परमात्मा की शरण में जाता है । वह सभी गुणों से परिपूर्ण है, उसके सांनिध्य से ये सभी गुण प्राप्त होते हैं ।

४-४. स पर्यगात्-शुक्रम् अकायम्० । यजु० ४०.८
४-५. त्वं न इन्द्रा भर ओजो नृम्णम्० । ऋग्० ८.९८.१०
४-६. तेजोऽसि तेजो मयि धेहि० । यजु० १९.९
४-७. तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु । यजु० ३४.१ से ६
४-८. यां मेधां देवगणाः....मेधाविनं कुरु । यजु० ३२.१४
४-९. असतो मा सद् गमय० । शत० १४.३.१.३०
४-१०. हृदि स्पृशो मनसा वच्यमानाः । ऋग्० १०.४७.७

परमात्मा के सांनिध्य के लिए आवश्यक है कि प्रातःकाल शान्त चित्त होकर पूजा के लिए बैठे और अपनी अन्तर्दृष्टि जागृत करे। वह अपने अन्दर झांकने का प्रयत्न करे। वह अपने मन को बाह्य विषयों से हटाकर अन्तर्मुखी करे। योगदर्शन में इस प्रक्रिया को प्रत्याहार कहते हैं। योगदर्शन में बताया गया है कि जिस प्रकार मधुमक्खियाँ अपनी रानी के साथ चलती हैं, उसी प्रकार पांचों ज्ञानेन्द्रियां भी मन का अनुसरण करती हैं। मन जिधर जाएगा, उसी ओर ज्ञानेन्द्रियां भी जाएंगी। मन अन्तर्मुखी होगा तो इन्द्रियां भी अन्तर्मुखी होंगी। अन्तर्मुखी होने से इन्द्रियों पर अधिकार प्राप्त होता है। अतएव ऋग्वेद में कहा गया है कि आत्मज्ञान और आत्मदर्शन के लिए अपनी ज्ञान-रश्मियों से अन्दर की ओर देखना चाहिए।[११]

यजुर्वेद में कहा गया है कि वह परमात्मा मनुष्य की हृदयरूपी गुफा में विद्यमान है। वह सारे संसार में व्याप्त है। जो उत्कट अभिलाषा वाला व्यक्ति होता है, वही उसको प्राप्त कर पाता है।[१२] अथर्ववेद का कथन है कि इस संसाररूपी वृक्ष की सबसे ऊँची चोटी पर मोक्षरूपी अमृतमय मधु रखा हुआ है, जो परमात्मा को जान लेते हैं, उन्हें ही वह अमृतमय मधु प्राप्त होता है, अन्य को नहीं।[१३] एक अन्य मंत्र में कहा है कि जो उस सर्वव्यापक परमात्मा को जान लेते हैं, वे ही उस अमृत का स्वाद ले पाते हैं और अमर हो जाते हैं।[१४]

अथर्ववेद के एक मंत्र में ईश-प्राप्ति के दो साधन बताए गए हैं - हृदय और मन। परमात्मा (इन्द्र) को कामधेनु के रूप में प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि वह मनुष्य की सभी कामनाओं को पूर्ण करता है। उसे हृदय और मन की पवित्रता से प्राप्त किया जा सकता है।[१५] एक अन्य मंत्र में भी यही भाव व्यक्त किया गया है कि वह परमात्मा मनुष्य के सभी कर्मों को जानता है। जो शुद्ध हृदय और मन से उसकी उपासना करते हैं, उनको ही वह प्राप्त होता है।[१६]

अथर्ववेद के एक मंत्र में त्रिवृत् (अर्थात् तीन गुणों का समाहार) के द्वारा 'ओम्' या प्रणव का गुणगान किया है और कहा है कि इस एक अक्षर में तीन तत्त्वों का समावेश है। ये तीन तत्त्व हैं- अ उ म्, ये तीनों मिलकर 'ओम्' हो जाते हैं। ओम् शक्तियुक्त है। यह मृत्यु को भगाता है। यह सारे पापों को नष्ट करता है और अमरत्व प्रदान करता है।[१७]

४-११.अन्तः पश्यन्ति रश्मिभिः। ऋग्० १.१३२.३
४-१२.वेनस्तत् पश्यन्-निहितं गुहा सत्०। यजु० ३२.८
४-१३.तन्नोन्नशद् यः पितरं न वेद। अ० ९.९.२१
४-१४.य इत् तद् विदुस्ते अमृतत्वमानशुः। अ० ९.१०.१
४-१५.इच्छामि हृदा मनसा चिदिन्द्रम्। अ० ४.२१.५
४-१६.हृदा पूतं मनसा जातवेदो०। अ० ४.३९.१०
४-१७.त्रयः सुपर्णाः त्रिवृता यदायन्, एकाक्षरमभिसंभूय शक्राः०। अ० ५.२८.८

अथर्ववेद में ईश्वर को एकमात्र सत्ता बताते हुए उसे 'एकवृत्' अर्थात् अकेला कहा गया है । सारे देवता उसमें एकत्र हैं, वह सारे देवों की समष्टि है । जो उस एक ईश्वर को जान लेता है, उसे कीर्ति, यश, ब्रह्मवर्चस तथा धन-धान्य आदि सभी पदार्थ प्राप्त होते हैं।[१८] उस ब्रह्म को जानने का साधन तप है । तप से ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है ।[१९]

ब्रह्मज्ञान कवच का काम देता है । यह मृत्यु से रक्षा करता है ।[२०] यही कारण है कि ब्रह्मज्ञानी निर्भय हो जाता है और वह हिंसक जीव-जंतुओं से भी नहीं डरता है ।

उपनिषदों में इस विषय का बहुत विस्तार से वर्णन है । कठ उपनिषद् का कथन है कि वह एक ईश्वर सब मनुष्यों के हृदय में विद्यमान है । जिस प्रकार अग्नि, वायु और सूर्य एक-एक होते हुए भी संसार में नाना रूपों में प्रकट होते हैं, इसी प्रकार ईश्वर एक होते हुए भी विभिन्न देवों के रूप में विद्यमान है । उस हृदयस्थ ईश्वर को जो श्रद्धा और भक्ति से देख लेते हैं, उनको ही स्थायी शान्ति प्राप्त होती है, अन्य को नहीं ।[२१]

वह ईश्वर महान् ज्योति है । उस ज्योति से ही संसार के सारे पदार्थ ज्योतिर्मय हैं ।[२२] जो उस ज्योतिर्मय को जान लेता है, वह संसार के सभी दुःखों, कष्टों और व्याधियों से मुक्त हो जाता है ।

५. आत्मदर्शन, ज्योतिदर्शन

ऋग्वेद के एक सूक्त में ज्योतिदर्शन की प्रक्रिया का सुन्दर वर्णन किया गया है और इसके महत्त्व तथा लाभ का भी उल्लेख है । ऋग्वेद का कथन है कि ज्योतिदर्शन के इच्छुक साधक को पर्वतों की गुफा या नदियों का संगम-स्थल साधना के लिए चुनना चाहिए ।[१] जिस प्रकार समुद्र से रत्न आदि का इच्छुक व्यक्ति समुद्र के अन्दर की ओर झांकता है, उसी प्रकार ज्ञानी और ध्यानी पुरुष हृदयरूपी समुद्र में विद्यमान परमात्मा को देखता है । इस ध्यान से वह व्यापक प्रभु गतिशील या सक्रिय होता है ।[२] इस ध्यान का परिणाम यह होता है कि वह दिव्य ज्योति, जो कि सूर्यों के प्रकाश से भी बढ़कर है,

---

४-१८. कीर्तिश्च यशश्च...ब्रह्मवर्चसं च० । अ० १३.४.१४-१५

४-१९. ब्रह्मैनद् विद्यात् तपसा विपश्चिद्० । अ० ८.९.३

४-२०. ब्रह्म वर्म ममान्तरम् । ऋग्० ६.७५.१९

४-२१. तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीराः,
तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ।। कठ उप० २.५.१३

४-२२. तमेव भान्तम् अनुभाति सर्वं,
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।। कठ उप० २.५.१५

५-१. उपह्वरे गिरीणाम्० । ऋग्० ८.६.२८

५-२. समुद्रम् ....चिकित्वान् अव पश्यति० । ऋग्० ८.६.२९

दृष्टिगोचर होती है ।[३] इसका फल बताया गया है कि इससे बुद्धि प्रदीप्त होती है । बल, सामर्थ्य, पराक्रम और तेजस्विता की वृद्धि होती है तथा दीर्घायुष्य की प्राप्ति होती है ।[४]

एक अन्य मंत्र में वर्णन किया गया है कि वह परमात्मा हृदयरूपी गुफा से छिपा हुआ है । विद्वान् मनन-चिन्तन, ध्यान और जप की प्रक्रिया से उस गुप्त प्रभु का दर्शन कर पाते हैं ।[५] अन्य मंत्रों में भी ध्यान और जप से आत्मदर्शन का वर्णन किया गया है । विद्वान् ध्यान की प्रक्रिया से ज्योतिर्मय प्रभु का दर्शन करते हैं ।[६] जो सच्चे हृदय से ध्यान करते हैं और पुरुषार्थ से युक्त हैं, उनको ही आत्मदर्शन होता है ।[७] जप का महत्त्व बताते हुए कहा गया है कि जिह्वा से अर्थात् मधुर वचन से पत्थर को भी तोड़ा जा सकता है अर्थात् हार्दिक प्रार्थना और जप से कठोर स्वभाव के देवता को प्रसन्न किया जा सकता है ।[८]

आत्मदर्शन के लिए सरल प्रक्रिया यह है कि साधक अपने आपको ईश्वरार्पण करे। ऋग्वेद का कथन है कि तुम अपने शरीर की आहुति दो अर्थात् अपना शरीर ईश्वर के समर्पण कर दो ।[९] समर्पण का यह अभिप्राय है कि हम जो कुछ भी काम करते हैं, उसे ईश्वर के निमित्त करें । अपने कर्मों में से कर्तृत्व की बुद्धि हटा दें और अपने आपको एक निमित्तमात्र समझें । इस समर्पण का लाभ ज्योतिदर्शन और आत्मदर्शन है । परमात्मा ऐसे साधक की कवच के तुल्य रक्षा करता है ।[१०]

६. प्रायश्चित्त

प्रायश्चित्त क्या है ? प्रायश्चित्त एक स्वायत्त मन:शोधन की प्रक्रिया है । अपनी भूल-चूक, त्रुटि या अपराध के लिए अपने आपको अपराधी मानते हुए उसको सुधारने का प्रयत्न करना । 'प्राय:' का अर्थ है - शोधन या संशोधन । 'चित्त' का अर्थ चित्त या मन, अपने चित्त को शुद्ध करना । अपनी त्रुटि को त्रुटि समझना और गुरुजन, माता-पिता या समाज के प्रति यदि कोई अपराध किया है तो व्यक्ति अपने आपको दोषी या अपराधी समझता है । इसके दंड-स्वरूप वह क्षमायाचना करता है, उपवास करता है या स्वयं कोई दंड निर्धारित करता है, यह प्रायश्चित्त है । इससे चित्त को शान्ति प्राप्त होती है तथा भविष्य में ऐसा अपराध न करने का निश्चय किया जाता है ।

५-३. ज्योतिष्पश्यन्ति वासरम्० । ऋग्० ८.६.३०
५-४. ऋग्० ८.६.३१ से ३३
५-५. अन्तरिच्छन्ति तं जने, रुद्रं परो मनीषया० । ऋग्० ८.७२.३
५-६. उरु ज्योतिर्विविदुर्दीध्याना: । ऋग्० ७.९०.४
५-७. ते सत्येन मनसा दीध्याना:० । ऋग्० ७.९०.५
५-८. दृषदं जिह्वयाऽवधीत् । ऋग्० ८.७२.४
५-९. अग्ने यजस्व तन्वं तव स्वाम् । ऋग्० ६.११.२
५-१०.त्वे अपि क्रतुर्मम । ऋग्० ७.३१.५

ऋग्वेद और यजुर्वेद में प्रायश्चित्त से संबद्ध अनेक मंत्र हैं। ऋग्वेद में देवों से प्रार्थना की गई है कि हमने मन से या वाणी से जो अपराध किए हैं, उनसे हमें मुक्त करें।[१] यजुर्वेद में देवों, मनुष्यों, माता-पिता आदि के प्रति किए गए अपराधों के लिए क्षमायाचना की गई है तथा प्रायश्चित्त-स्वरूप यज्ञ का विधान है, जिससे इन अपराधों का दोष दूर हो सके।[२] इसी प्रकार एक अन्य मंत्र में ग्राम या वन में, सभा में या अन्य स्थानों पर किए गए अपराधों के लिए क्षमा-प्रार्थना की गई है।[३]

मनुष्य जाने-अनजाने या भूल-चूक से बहुत से अपराध करता है, उसके निराकरण के लिए प्रायश्चित्त ही एक सात्त्विक विधि है, इससे आत्मिक शान्ति प्राप्त होती है।

ऋग्वेद में ऐसे ही अनजाने में किए गए अपराधों के लिए वरुण देव से क्षमायाचना की गई है।[४]

प्रायश्चित्त स्वनिर्धारित दंड-प्राप्ति की एक प्रक्रिया है। इसमें व्रत, उपवास, यज्ञ एवं कष्टसहन किया जाता है। ईश्वरीय एवं प्राकृतिक नियमों को तोड़ना भी अपराध है। अतएव विद्वान् प्रतिज्ञा करते हैं कि हम ईश्वरीय नियमों को नहीं तोड़ेंगे।[५]

इस प्रकार जो मनुष्य ईश्वरीय और प्राकृतिक नियमों को नहीं तोड़ते हैं, उनपर ईश्वरीय कृपा बनी रहती है। वे अपना जीवन सुख-शान्ति से व्यतीत करते हैं।[६]

***

६-१. यद् वो देवाश्चकृम जिह्वया गुरु०। ऋग्० १०.३७.१२

६-२. देवकृतस्यैनसोऽवयजनमसि०। यजु० ८.१३

६-३. यद् ग्रामे यदरण्ये यत् सभायां०। यजु० ३.४५

६-४. वरुण....अचित्ती यत् तव धर्मा युयोपिम०। ऋग्० ७.८९.५

६-५. तस्य व्रतानि न मिनन्ति धीराः। ऋग्० ७.३१.११

६-६. सुनीथो घा स मर्त्यो
यं मरुतो ....पान्त्यद्रुहः। ऋग्० ८.४६.४

निर्देशिका (Index)

(सूचना - अंक पृष्ठबोधक हैं)

हमारे प्रमुख प्रकाशन

शोध-ग्रन्थ

अथर्ववेद का सांस्कृतिक अध्ययन : पद्मश्री डॉ० कपिलदेव द्विवेदी
A Cultural Study of the Atharvaveda : Dr. K.D. Dvivedi
नाट्यशास्त्र में आंगिक अभिनय : डॉ० भारतेन्दु द्विवेदी
स्मृतियों में नारी : डॉ० भारती आर्य
स्मृतियों में राजनीति और अर्थशास्त्र : डॉ० प्रतिभा आर्य

काव्य-ग्रन्थ

राष्ट्रगीतांजलिः : पद्मश्री डॉ० कपिलदेव द्विवेदी
भक्तिकुसुमांजलिः : पद्मश्री डॉ० कपिलदेव द्विवेदी
शर्मण्याः प्राच्यविदः : पद्मश्री डॉ० कपिलदेव द्विवेदी
आत्मविज्ञानम् (संस्कृत महाकाव्य) : पद्मश्री डॉ० कपिलदेव द्विवेदी

पद्मश्री डॉ० कपिलदेव द्विवेदी-कृत
वेदामृतम् - ग्रन्थमाला (४० भागों में प्रकाश्य)
प्रकाशित भाग

१. सुखी जीवन
२. सुखी गृहस्थ
३. सुखी परिवार
४. सुखी समाज
५. आचारशिक्षा
६. नीतिशिक्षा
७. वेदों में नारी
८. वैदिक मनोविज्ञान
९. यजुर्वेद-सुभाषितावली
१०. सामवेद सुभाषितावली
११. अथर्ववेद-सुभाषितावली
१२. ऋग्वेद-सुभाषितावली
१३-१६. वेदों में आयुर्वेद
१७-२०. वेदों में राजनीतिशास्त्र
२१-२५. वेदों में विज्ञान
२६-३०. वेदों में समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र और शिक्षाशास्त्र
३१-३५. वैदिक दर्शन

The Essense of the Vedas
By: Padmashree Dr. K.D. Dvivedi

The Book contains 150 topics and 1400 Mantras from all the four Vesas. The Mantras are given in Roman Script with English Translation. It is a concise Encyclopedia of the Vedas.
Size - Demy Octavo, Pages 336+16 Price. 200-00

VISHVA BHARATI RESEARCH INSTITUTE
GYANPUR- 221304 (BHADOHI). U.P. (INDIA)